

# विद्यामैत्र जिन्दगी

ललित कुमार

राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता रोल मॉडल



हेका

## विटामिन ज़िन्दगी

# विटामिन ज़िन्दगी

ललित कुमार





Published in Hindi in paperback as Vitamin Zindagi in 2019 by Hind Yugm and Eka, an imprint of Westland Publications Private Limited.

61, 2nd Floor, Silverline Building, Alapakkam Main Road,  
Maduravoyal, Chennai 600095

Hind Yugm  
201 B, Pocket A, Mayur Vihar Phase-2, Delhi-110091  
[www.hindyugm.com](http://www.hindyugm.com)

Westland, the Westland logo, Eka and the Eka logo are the trademarks of Westland Publications Private Limited, or its affiliates.

Copyright © Lalit Kumar

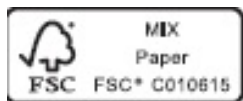
ISBN: 9789388689175

9 8 7 6 5 4 3 2 1

The views and opinions expressed in this work are the author's own and the facts are as reported by him, and the publisher is in no way liable for the same.

All rights reserved

No part of this book may be reproduced, or stored in a retrieval system, or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording, or otherwise, without express written permission of the publisher.



यह पुस्तक उन्हें समर्पित है  
जो अलग हैं  
या जो भीड़ से अलग होना चाहते हैं

बैसाखियों पे सधी ज़िन्दगी  
बैसाखियों से बंधी ज़िन्दगी  
बैसाखियों पे चली ज़िन्दगी  
बैसाखियों से बनी ज़िन्दगी  
बैसाखियों पे खड़ी ज़िन्दगी  
बैसाखियों से लड़ी ज़िन्दगी  
बैसाखियों से बड़ी ज़िन्दगी!

— ललित कुमार —

# नमस्ते, प्रिय पाठक!

“जीवन वो नहीं जो हम जीते हैं।  
जीवन वो है जो हमें याद रहता है।”  
—गैब्रियल गार्सिया मार्केज़—

स्पैनिश भाषा के इस महान लेखक ने कितनी सच बात कही है! एक-एक साँस लेते हुए आज तक न जाने कितनी ही बार हमारा सीना घटा और बढ़ा है। हम सभी असंख्य पल जी चुके हैं... लेकिन उनमें से कुछ चुनिंदा पल ही आज हमें याद हैं। जिस पुस्तक को आप पढ़ रहे हैं, उसे मैंने एक व्यक्तिगत दस्तावेज़ के रूप में लिखना शुरू किया था। जीवन के उतार-चढ़ावों से गुज़रना मेरे लिए बहुत ही कठिन रहा है— ऐसे में मुझे लगा कि मुझे अपने जीवन को खुद के लिए, अपने परिवारजनों और मित्रों के लिए कलमबद्ध तो करना ही चाहिए। लिखने के दौरान जब इन संस्मरणों को कुछ मित्रों को दिखाया तो उन्होंने कहा कि मुझे इन्हें प्रकाशित करना चाहिए। उनका कहना था कि यह संस्मरण सभी को पढ़ना चाहिए। यह सुनकर मुझे लगा कि दोस्त हैं तो ऐसा कहेंगे ही, लेकिन मेरे संस्मरण को आखिर कोई क्यों पढ़ना चाहेगा। इस प्रश्न के उत्तर में कई मित्रों ने मुझे कई बातें समझाईं और आखिरकार मैंने इस संस्मरण को प्रकाशित करने का मन बना लिया। फिर भी यह पुस्तक प्रकाशक को देने में मुझे कई वर्ष लग गए, क्योंकि मैं बार-बार खुद से यही प्रश्न करता रहा कि आखिर कोई मेरे संस्मरण को क्यों पढ़ना चाहेगा...और वैसे भी अपने जीवन को यूँ सभी से साझा कर देना आसान नहीं होता। सो, प्रकाशन को लेकर बार-बार मेरा मन बदलता रहा।

तमाम ऊहा-पोह के बाद अब यह पुस्तक आपके हाथों में है। इस पुस्तक में मैंने हर भारतीय को आवाज़ दी है कि वह विकलांग लोगों के प्रति अपना नज़रिया सकारात्मक बनाए। मैंने समाज को कुछ वास्तविकताओं के बारे में बताया है ताकि हमारा समाज विकलांग लोगों को हाशिए पर डालने के बजाय विकलांगता से लड़ने के लिए खुद को मानसिक व संरचनात्मक रूप से तैयार कर सके। यदि यह पुस्तक एक भी व्यक्ति के जीवन को बेहतर बनाने में थोड़ा भी योगदान दे सके तो मैं इस पुस्तक के प्रकाशन को सफल समझूँगा। मैंने जीवन से जूझते बहुत से लोगों को देखा है और पाया है कि परिस्थितियों की वजह से वे अपनी क्षमता का पूरा प्रयोग नहीं कर पाते। यदि यह पुस्तक ऐसे किसी भी व्यक्ति को और अधिक प्रयास हेतु प्रेरित कर सके तो मैं

इस पुस्तक को सफल मानूँगा।

आपको इस पुस्तक में कुछ भी अच्छा लगता है तो इसका श्रेय मेरे सभी परिवारजनों को मिलना चाहिए, जिन्होंने मुझे इस पुस्तक को लिखने के योग्य बनाया। मेरे स्वर्गीय बाबा-अम्मा, मेरे माँ-पापा, चाचा-चाची, किशोर-सुधा, पूजा, नवीन, कपिल, मनीष, धैर्य और छवि—इन सभी परिवारजनों ने समय के चाक पर मेरे जीवन को सुगढ़ आकार दिया है। इसका श्रेय उन मित्रों को भी मिलना चाहिए जिनकी सहायता से एक व्यक्तिगत दस्तावेज़ सँवर कर प्रकाशित पुस्तक का रूप ले सका। पहले शब्द के लिखे जाने और पुस्तक के छपने के बीच कई वर्ष गुज़र गए हैं। इस बीच कितने ही निकट मित्रों ने इस पुस्तक को सँवारने में मुझे सहायता दी है। मधुरम् अपराजिता, शारदा सुमन, ममता व्यास, गायत्री गुप्ता, अनुपमा, प्रेक्षा जैन, कल्पना गाँधी, चरण सिंह के अलावा और भी कई मित्रों की राय का इस पुस्तक को वर्तमान रूप में लाने में महत्वपूर्ण योगदान है। मैं आप सभी को धन्यवाद देता हूँ। मित्रों के बिना जीवन में ऐसे पल कम ही बन पाते हैं, जो याद रह जाएँ! कुमार अमित ने पूरे मन से इस पुस्तक के लिए एक सुंदर, अर्थपूर्ण और कहानी कहने वाला आवरण चित्र बनाया है। और जब शैलेश भारतवासी के रूप में एक मित्र ही प्रकाशक हो तो पुस्तक के ठीक से प्रकाशित होने संबंधी आशंकाओं से निजात मिल जाती है। आप दोनों का धन्यवाद!

भारत में पोलियो के साथ बीते मेरे जीवन की कुछ यादें अब आपके हाथों में हैं...



# हमें भी कुछ कहना है

नमस्ते! हम ललित की बैसाखियाँ हैं, उनकी हमसफ़र हैं। हम दोनों ने उनके साथ दशकों लंबी जीवन-यात्रा की है। जब पहली बार हम उनके हाथों में आई थीं तो हम उन्हीं की तरह छोटी-सी थीं; करीब ढाई फुट लंबी। फिर जैसे-जैसे समय बीतता रहा...ललित के साथ-साथ हम भी बढ़ती रहीं। दुनिया की नज़र में हम निर्जीव हैं, लेकिन ललित और हमारे बीच जो रिश्ता है उससे अधिक सजीव शायद और कुछ हो ही नहीं सकता। हम साथ रहते हैं। सारे सुख-दुख साथ-साथ सहते हैं।

यह सच है कि हमसे अधिक किसी ने ललित का साथ नहीं दिया...किसी ने भी नहीं। हम उनके साथ पूरे जीवन क़दम-दर-क़दम चली हैं...सच्ची!...क़दम-दर-क़दम...एक-एक क़दम हम उनके साथ रही हैं। इसलिए केवल हमसफ़र ही नहीं, बल्कि हम बैसाखियाँ ललित की हमक़दम भी हैं।

लोग एक बार ही चलना सीखते हैं, लेकिन हम जानती हैं कि ललित को जीवन में कई बार चलना सीखना पड़ा। सभी बच्चों की तरह वह भी बचपन में चलना और दौड़ना सीख चुके थे...लेकिन पोलियो ने उनके पैरों की सारी शक्ति छीन ली। इसके बावजूद उन्होंने लड़खड़ाते हुए फिर से चलना सीखा। एक बच्चे का शक्तिहीन पैरों पर चलना और चलते चले जाना अचंभे में डालने वाला था। इस प्रयास में हमने ललित को हज़ारों बार गिरते हुए देखा है, चोट खाते देखा है और फिर से खड़े होते देखा है।

वैसे तो हम ललित के जीवन में अवांछित हैं, कोई नहीं चाहता कि हम उनके जीवन में रहें — लेकिन फिर भी उन्होंने हमें हमेशा अपने मन के करीब रखा है। हम खुद भी नहीं चाहतीं कि उन्हें हमारी ज़रूरत पड़े। लोग जुदा होने से ख़ौफ़ज़दा होते हैं, लेकिन अगर कभी ऐसा दिन आया कि हमें ललित से हमेशा के लिए अलग होना पड़े तो वह हमारे लिए सबसे अधिक खुशी का दिन होगा। हमें ललित से प्रेम है। उनके जीवन का सहारा बनना हमारे लिए गौरव की बात है, क्योंकि हमने खुद उन्हीं से सीखा है कि राह में आई रुकावटों को किस तरह पार करना है। ललित के बाज़ुओं से हमने दिशाएँ खोजना सीखा है। उनके साथ चलते-चलते हमने भी जीवन में बहुत कुछ देखा, वे जहाँ गए हम भी वहाँ गईं। नदियाँ, पहाड़, समुद्र, जंगल, गाँव, कस्बे, शहर, देश, विदेश...उनके साथ हमने जहान देखा है।

हम बैसाखियाँ हैं, हमारा साया पड़ने से अच्छे-खासे जीवन व्यर्थ हो जाते हैं; लेकिन ललित ने अपने जीवन को हमेशा हमसे बड़ा रखा...ललित की ज़िन्दगी बैसाखियों से हमेशा बड़ी रही है...और हमेशा बड़ी रहेगी। उनके हौसले के सामने हमारा और पोलियो का अस्तित्व बहुत छोटा

पड़ गया।

हमें इस किताब को पढ़ने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि हमने तो यह सब घटित होते देखा है। हम दोनों बैसाखियाँ गवाह रही हैं उन असंख्य पलों की जिनमें लोगों ने, समाज ने और व्यवस्था ने ललित को रोकने, हतोत्साहित करने या अपमानित करने की कोशिशें कीं। इस व्यवहार से हमने ललित के मन को बार-बार बिखरते देखा है, जूझते देखा है...लेकिन हमने उन्हें परिस्थितियों से हारते कभी नहीं देखा।

उम्मीद है कि आपको भी विटामिन ज़िन्दगी से भरपूर यह किताब ज़रूर पसंद आएगी...

— ललित की ज़िन्दगी से बहुत छोटी...हम...बैसाखियाँ...

# आसमानों में कहीं...

वह एक लंबी, बहुत लंबी पंक्ति थी। एक ऐसी पंक्ति जिसका कोई ओर-छोर ही नहीं था। पंक्ति में खड़े सभी बच्चे तक्ररीबन एक ही उम्र के थे और वे बिना हिले-डुले अपनी-अपनी जगह पर खड़े थे।

हरी घास के खुले मैदान में वे सभी बच्चे कंधे-से-कंधा मिलाए, आँखों में उत्सुकता लिए ऐसे खड़े थे मानों किसी अदृश्य की आज्ञा का पालन कर रहे हों। कोई भी अपने पैरों को ज़रा भी नहीं हिला रहा था।

वह बालक भी उसी पंक्ति में खड़ा था...

उसने अपने दाईं ओर दूर तक देखकर पंक्ति का छोर तलाशने की कोशिश की। उसे क्षितिज के करीब एक स्त्री की आकृति उभरती दिखाई दी। पंक्ति में खड़े हर बच्चे के सामने वह स्त्री रुकती, बच्चे के सामने झुककर उसके माथे को चूमती और फिर बैठकर कुछ पल उस बच्चे से बातें करने के बाद अगले बच्चे की ओर बढ़ जाती। वह स्त्री सुंदरता की पराकाष्ठा थी, यह स्पष्ट था कि संसार में जो भी कुछ सुंदर है, वह उस स्त्री की सुंदरता का ही एक रूप है।

वह स्त्री प्रकृति माँ थीं...

धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए प्रकृति माँ उस बालक के सामने आकर बैठ गईं। उनकी आँखों में प्रेम, दया और करुणा के साथ-साथ थोड़ा-सा दुख भी झलक रहा था। प्रकृति माँ ने बालक के माथे को उसी तरह चूमा जिस तरह उन्होंने पंक्ति में खड़े अन्य बच्चों के माथे को चूमा था। उस बालक के दोनों गालों पर भी प्रकृति माँ ने ममता भरा चुंबन दिया।

इसके बाद उन्होंने बालक के नन्हे हाथ को अपने हाथों में लिया और एक लंबा-सा काँटा उसकी हथेली पर रख दिया। प्रकृति माँ बालक की हथेली पर रखे उस काँटे को कई पलों तक दुख के साथ देखती रहीं, जैसे कि वह कुछ करने का साहस जुटा रही हों। बालक का मन बिल्कुल शांत था और वह प्रकृति माँ के हाथों की ममता-भरी छुअन को आत्मसात कर रहा था। कुछ पल काँटे को निहारने के बाद प्रकृति माँ ने बालक की आँखों में करुणामयी दृष्टि से देखा और तेज़ी से उसकी मुट्ठी को बंद कर दिया। मुट्ठी बंद होते ही हथेली पर रखा काँटा बालक के कोमल हाथ को चीरता हुआ पार निकल गया— दर्द की एक तीखी लहर बालक के शरीर में दौड़ गई और उसके हाथ से रक्त बहकर नीचे टपकने लगा। प्रकृति माँ का प्रेम उनकी आँखों में आँसू बनकर छलक आया और उन्होंने बालक को गले लगा लिया।

“तुम मुझे बहुत प्रिय हो...बहुत प्रिय। मैंने तुम्हें चुन लिया है”, प्रकृति माँ ने बालक के कान में धीरे-से कहा।

इसके बाद प्रकृति माँ उठ खड़ी हुई और पंक्ति में अगले बच्चे की ओर बढ़ गई। अब उनके चेहरे से विषाद और दुख के सारे भाव अदृश्य हो चुके थे, वह अगले बच्चे से उसी ताज़गी और मुस्कान के साथ मिलीं—जैसे उस बालक से मिली थीं— मानो कुछ हुआ ही न हो। बालक ने अपनी मुट्ठी से बहते रक्त को देखा और फिर से प्रकृति माँ की ओर निहारा। इतनी देर में प्रकृति माँ उस पंक्ति में बाईं ओर दूर जा चुकी थीं।

उस बालक ने आस-पास खड़े अन्य बच्चों के हाथों को देखा— किसी के भी हाथ से रक्त नहीं बह रहा था। वह बालक दूर जाती प्रकृति माँ को देखकर मुस्कुराया...उसने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया।

उसने हाथ में गड़े काँटे पर अपनी पकड़ और मज़बूत कर ली।

...उस बालक को गर्व था कि उसे स्वयं प्रकृति माँ ने चुना था।

**भाग 1**

गिरना

## अब तो पथ यही है!

आज स्कूल में बहुत गहमा-गहमी है। मैं बारहवीं कक्षा का विद्यार्थी हूँ और मेरी बोर्ड की परीक्षाओं में केवल दो महीने शेष हैं। चूँकि बारहवीं कक्षा स्कूल की अंतिम कक्षा होती है, इसलिए आज स्कूल में बारहवीं कक्षा के छात्रों का विदाई समारोह आयोजित किया गया है। यह केवल एक प्रथा है; हर कोई विदा नहीं हो जाता; बहुत से विद्यार्थी बरस-दर-बरस इस समारोह की शोभा बढ़ाते हैं। बहरहाल, प्रथा के अनुसार ग्यारहवीं कक्षा के छात्र और स्कूल के अध्यापकगण बारहवीं कक्षा के छात्रों के लिए यह समारोह आयोजित करते हैं।

दोपहर के बारह बज रहे हैं, धूप तेज़ पर सहनीय है। आज सुबह प्रार्थना के समय ही प्रिंसिपल महोदय ने ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षा के छात्रों को मैदान में ठीक बारह बजे इकट्ठा होने का निर्देश दे दिया था। सभी छात्र इस समय खुले मैदान में पंक्तियाँ बनाए बैठे हैं। कुछेक ने पतलूनों को मिट्टी से बचाने के लिए कॉपियों से पन्ने फाड़कर नीचे बिछाए हुए हैं। मैंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि चाहे जितना बचाओ मेरे कपड़ों पर तो मिट्टी लग ही जाती है।

मैं पूरे गर्व के साथ बारहवीं कक्षा की उस पंक्ति में बैठा हूँ जिसमें बस गिने-चुने विद्यार्थी हैं। यह बारहवीं कक्षा में विज्ञान पढ़ने वाले छात्रों की पंक्ति है। हमारे स्कूल में विज्ञान का विषय केवल दो वर्ष पहले ही आया और विज्ञान पढ़ने वाली पहली कक्षा में मैं भी शामिल हूँ। विज्ञान को मेरे स्कूल में एक महान और कठिन विषय माना जाता है। इसी वजह से हम विज्ञान के छात्रों को एक अलिखित विशेष दर्जा प्राप्त है। सभी अध्यापकगण हमारी ओर बहुत स्नेह और आशा की दृष्टि से देखते हैं। हमसे आशा की जाती है कि हम बोर्ड की परीक्षा में अच्छे नतीजे लाकर स्कूल का नाम रोशन करेंगे।

इस तरह के विदाई समारोहों में अधिकांश छात्रों की रुचि का विषय एक समोसा, एक बर्फी, एक केला और एक संतरा होते हैं जो समारोह के बाद हर छात्र को लिफ़ाफ़े में डालकर दिए जाते हैं। आयोजन के कारण, इसके महत्त्व और अध्यापकों के भाषण इत्यादि में अधिकांश छात्रों को कोई रुचि नहीं होती।

और ये लीजिए...भाषण आरंभ हो गए हैं। प्रिंसिपल महोदय और बारहवीं कक्षा के क्लास-टीचर्स छात्रों को अपनी-अपनी आशाओं के बारे में बता रहे हैं। ज़्यादातर छात्रों को इन आशाओं से कोई सरोकार नहीं है। वे एक-दूसरे से दबी आवाज़ में बातचीत करने में मशगूल हैं। करीब बीस मिनट के बाद आखिरकार भाषण समाप्त हो गए और अब छात्रों का उत्साह बढ़ाने के लिए कुछ पुरस्कारों की घोषणा की जा रही है। ऐसे पुरस्कार के रूप में अक्सर पेन, कॉपी या ज्यॉमेट्री

बॉक्स दिया जाता है।

...मुझे आज तक कभी कोई पुरस्कार नहीं मिला।

पिछले बारह वर्षों में मैं कभी कक्षा में सबसे अधिक अंक नहीं ला सका, मैं खेल-कूद में भी भाग नहीं ले पाता था और किन्हीं अनजान कारणों से मैं शिक्षकों के सबसे प्रिय छात्रों में भी नहीं रहा।

मंच पर एक-एक करके पुरस्कार विजेताओं को बुलाया जा रहा है। मैं हर उद्घोषणा को धड़कते दिल से सुन रहा हूँ कि शायद मेरा नाम भी पुकारा जाए; लेकिन जैसे-जैसे मंच पर रखी मेज़ से पेन-सेट, कॉपियाँ और ज्यामेट्री बॉक्स एक-एक कर अन्य छात्रों में बँट रहे हैं— मेरी आशा कमज़ोर पड़ती जा रही है। मैं विज्ञान पढ़ने वाले छात्रों की 'विशिष्ट' पंक्ति में बैठकर गौरव का अनुभव तो कर रहा हूँ, लेकिन एक खुशी, जिसके लिए मैं पिछले कई सालों से लालायित रहा हूँ, वह एक बार फिर मेरे हाथों से फिसलती हुई महसूस हो रही है। हालाँकि मैं स्कूल में हुए टेस्ट में दूसरे स्थान पर रहा और मैंने मोटे तौर पर पिछले दो वर्षों में विज्ञान और अँग्रेज़ी में अन्य छात्रों की बनिस्बत बेहतर प्रदर्शन किया है...लेकिन पुरस्कार? वो तो मुझे कभी मिलता ही नहीं है!

"...और इस वर्ष के सर्वश्रेष्ठ छात्र का पुरस्कार जाता है ललित कुमार को", मंच पर पुरस्कारों की घोषणा कर रहे अध्यापक ने अचानक कहा।

मैंने जो सुना उस पर मुझे विश्वास तो नहीं हो रहा, लेकिन जो सुना वो मैंने स्पष्ट सुना है। सर्वश्रेष्ठ छात्र का पुरस्कार मुझे ही दिया जा रहा है!

मैंने मंच की ओर देखा तो अध्यापक मुझे आगे आने का इशारा कर रहे हैं। मैं बेतहाशा धड़कते अपने दिल को थामने की कोशिश में जुटा हूँ। स्कूल के बारह वर्षों में मैं आज तक कभी भी मंच पर नहीं गया, लेकिन आज जब मैं स्कूल के अंतिम पड़ाव पर हूँ, तब आखिरकार मैंने स्वयं को सिद्ध कर ही दिया...मैं किसी से कम नहीं हूँ।

मैं इन्हीं भावनाओं में डूबा अपनी बैसाखियों पर खड़ा होने की कोशिश कर ही रहा था कि...

"अबे...इसे तो ये इनाम इसलिए मिला है क्योंकि ये लँगड़ा है", मुझे पीछे बैठे एक सहपाठी की आवाज़ सुनाई दी।

पुरस्कार मिलने की खुशी में धड़कता मेरा दिल जैसे अचानक रुक गया...अचानक मैंने अपने चारों ओर उसी सन्नाटे और ख़ालीपन को महसूस किया जो इस तरह की बातें सुनाई देने पर मुझे अपने आगोश में ले लेता है। मुझे लग रहा था जैसे मेरा दिमाग़ सुन्न हो गया हो...मानो किसी ने मेरे पूरे वजूद को एक झटके में मिटा दिया हो।

"यहाँ सबके सामने आओ ललित", मंच से आई अध्यापक की आवाज़ ने मुझे अचानक आ धमके उस सन्नाटे से निकाला और मैं अपने चीखते मन को बैसाखियों पर ढोते हुए मंच की ओर बढ़ने लगा। छात्रों ने अनमनी-सी तालियाँ बजाकर मेरा स्वागत किया।



इसके कुछ देर बाद छात्रों के बीच समोसों के लिफ़ाफ़े बाँट दिए गए। अध्यापक भी प्रिंसिपल महोदय के कमरे में चाय-नाश्ते के लिए चले गए और सभी छात्र अपने-अपने लिफ़ाफ़े से चीज़ें निकालकर खाने लगे।

...लेकिन मुझे उस सन्नाटे ने फिर से घेर लिया था। मैदान के एक कोने में बैठा मैं मन-ही-मन रो रहा था।

बारह वर्षों की बेहद कड़ी मेहनत के बाद आज मुझे सर्वश्रेष्ठ होने का खिताब मिला था, लेकिन समाज की निगाह में इस खिताब, खिताब को हासिल करने वाले ललित और उसके द्वारा लाँघी गई हज़ारों बाधाओं का कोई अर्थ नहीं था। समाज की नज़र से देखें तो जो बैसाखियों पर चलता है, उसे पुरस्कार केवल इसलिए मिलता है क्योंकि वह विकलांग है। कोई विकलांग व्यक्ति भी किसी ऊँचाई को छू सकता है— ऐसी कोई कल्पना मेरा समाज कर ही नहीं सकता था।

मेरे किसी भी सहपाठी का जीवन उतना कष्टप्रद नहीं था जितना मेरा था...मेरे किसी भी सहपाठी ने स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के लिए उतनी मेहनत नहीं की थी जितनी मुझे करनी पड़ी थी...मेरे किसी भी सहपाठी को अपना मन नहीं मारना पड़ा था...पढ़ाई के लिए अपने शरीर को तोड़ना नहीं पड़ा था— लेकिन फिर क्यों मेरे सहपाठी ने मुझे ताना दिया?

मैदान के एक अकेले कोने में बैठे हुए मैंने निश्चय कर लिया कि मैं उस सहपाठी को गुस्सा जता कर नहीं, बल्कि अपनी उपलब्धियों से उत्तर दूँगा। अध्यापक मान चुके थे कि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ...अब मुझे अपने उस सहपाठी को भी ऐसा जवाब देना था जिसे वह चाहे भी तो नकार न सके। बोर्ड की परीक्षा निकट थी, मुझे स्वयं को सिद्ध करना था।

और मैंने ठीक वही किया...

बोर्ड की परीक्षा में अपनी कक्षा में मुझे सर्वाधिक अंक हासिल हुए। मैंने सिद्ध कर दिया कि मुझे मिला वह पुरस्कार किसी की सहानुभूति नहीं था।

यह छोटी-सी घटना किसी भी विकलांग व्यक्ति के जीवन की कठिनाइयों और हमारे समाज के विकलांगता के प्रति दृष्टिकोण को रेखांकित करती है। विकलांगता और समाज के रवैए के विरुद्ध लड़ाई केवल अथक परिश्रम और इच्छाशक्ति के बल पर ही जीती जा सकती है।

यह लड़ाई, जो कि अपने-आप से मैंने लड़ी है  
यह घुटन, यह यातना, केवल किताबों में पढ़ी है  
यह पहाड़ी पाँव क्या चढ़ते, इरादों ने चढ़ी है  
कल दरीचे ही बनेंगे द्वार, ज़िन्दगी ने कर लिया  
स्वीकार  
अब तो पथ यही है!

## पोलियो से पहले

मेरा जन्म नई दिल्ली के महरौली क्षेत्र में 16 अगस्त 1976 को एक बड़ई परिवार में हुआ। महरौली दिल्ली का सबसे पुराना इलाका है— पुरानी दिल्ली से भी बहुत पुराना। मैं अपने दादाजी, स्वर्गीय धन सिंह, को 'बाबा' कहकर बुलाता था। बाबा केवल पाँचवी कक्षा तक स्कूल गए और हिंदी व उर्दू को पढ़ना-लिखना सीखा। जब वह बड़े हुए तो उन्होंने सरकार के लोक निर्माण विभाग में कारपेंटर के तौर पर कार्य करना आरंभ किया। वह मध्य दिल्ली (जिसे लुटियंस ज़ोन कहा जाता है) में बने सरकारी बंगलों में कुर्सियाँ, अलमारियाँ, मेज़, दरवाज़े जैसी लकड़ी की चीज़ें बनाने और टूट-फूट की मरम्मत का काम किया करते थे।

स्वर्गीय गंगादेवी, जिन्हें मैं अम्मा कहकर बुलाता था, मेरी दादी थीं। वह भी बाबा की ही तरह बहुत प्यारी थीं, हालाँकि यदि बाबा से तुलना की जाए तो अम्मा कहीं अधिक अनुशासन-पसंद महिला थीं।

अम्मा-बाबा की संताने थीं : निर्मला, परमानंद (मेरे पिता), शोभा और कैलाश चंद। जैसा कि आप देख सकते हैं, इन सभी नामों में उपनाम या तो अनियमित है या है ही नहीं। शिक्षा पर हमारे पूर्वजों ने कभी कोई खास ध्यान नहीं दिया। इसके पीछे सबसे बड़ा कारण तो शायद यह रहा कि कारपेंटर के पेशे में किताबी शिक्षा और स्कूल जाने की ज़रूरत नहीं होती। इस तरह के पारिवारिक पेशे पिता अपने बच्चों को खुद ही सिखा देते हैं। दूसरा कारण शायद गरीबी रहा होगा। जो पूरे घर की कुल कमाई होता था, उस थोड़े से धन में से स्कूल की फ़ीस निकालना काफ़ी मुश्किल था। कामगार लोगों के पास चिंता करने के लिए एक अच्छा नाम चुनने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मुद्दे हुआ करते थे। शिक्षा का अभाव, रोज़ी-रोटी की सतत चिंता और घर चलाने की जद्दो-जहद के सामने नाम का चुनाव एक बहुत ही छोटा मसला जान पड़ता था। इन सबके बावजूद बाबा ने अपने बच्चों को स्कूल भेजा। बाबा ने अपने हर बच्चे को तब तक पढ़ाया जब तक उनकी कमज़ोर माली हालत ने अनुमति दी या फिर जब तक बच्चे ने स्कूल जाना चाहा।

मेरे पिता ने ग्यारहवीं कक्षा तक शिक्षा हासिल की। वह एक अच्छे विद्यार्थी थे और आगे पढ़ना चाहते थे, लेकिन बाबा उनकी स्कूल फ़ीस इत्यादि का भार आगे नहीं उठा पाए और पापा को आगे पढ़ने की अपनी इच्छा को छोड़ना पड़ा। स्कूल छोड़ने के बाद उन्होंने आई.टी.आई. पूरी की और दिल्ली परिवहन निगम में क्लर्क का काम करना शुरू कर दिया।

कैलाश चाचा पाँचवीं कक्षा तक ही स्कूल गए और उसके बाद बाबा से काम सीखकर केंद्रीय लोक निर्माण विभाग में कारपेंटर की नौकरी करने लगे। हालाँकि कैलाश चाचा ने भी पारिवारिक पेशे को ही अपनाया, लेकिन इस पीढ़ी ने हमारे परिवार के इतिहास में एक अति महत्वपूर्ण बदलाव की नींव रखी। इस पीढ़ी से हम शिक्षा की ओर अग्रसर हुए। इस पीढ़ी के सभी बच्चे स्कूल गए— इनमें सबसे अधिक ग्यारह कक्षा तक पापा ने पढ़ाई की। यह बहुत अधिक शिक्षा तो नहीं थी, लेकिन यह बदलाव की एक ज़रूरी शुरुआत थी। हमारी रिश्तेदारी में इस तरह के उदाहरण कम ही थे। हमारे अधिकांश संबंधी बड़ईगीरी, मकान बनाने और मूर्तिकारी का काम करते थे। वे गाँवों में ईंट-पत्थर-गारे से मकान बनाते थे, मूर्तियाँ गढ़ते थे, मंदिरों की छतों-दीवारों पर नक्काशी का काम करते थे। वे सभी अच्छे कलाकार थे, लेकिन सामाजिक स्तर पर उन्हें केवल कामगार माना जाता था। वे अपने पिता या दादा से काम सीखते थे और आगे अपने बच्चों को भी उसी काम की शिक्षा देते थे। बच्चों को स्कूल भेजना एक अवांछित बोझ के साथ-साथ पारिवारिक काम सीखने की राह में बाधा की तरह देखा जाता था। यह भी कहना होगा कि अधिकतर बच्चे भी ऐसे नहीं थे जो स्कूल जाने और पढ़ाई करने की ज़िद करें।

‘काम सीखो और काम चलाओ’ का सरल वाक्य उनके जीवन को परिभाषित करता था।

नौकरी लगने के कुछ समय बाद ही पापा का विवाह मेरी माँ श्रीमती राजबाला से कर दिया गया। माँ का जन्म हरियाणा के रोहतक जिले में बसे एक पिछड़े गाँव में हुआ था। विवाह के दो वर्ष बाद परमानंद और राजबाला के सबसे बड़े पुत्र के रूप में मेरा जन्म हुआ।

मेरे बचपन के शुरुआती चार वर्ष सामान्य रहे। माता-पिता, दादा-दादी, चाचा, बुआ की गोद में बहुत प्यार मिला। मेरी सबसे पुरानी तस्वीर तब की है, जब मैं शायद एक या डेढ़ वर्ष का था। तस्वीर में मैं गोल-मटोल, बड़ी-बड़ी आँखों वाले एक सुंदर शिशु की तरह दिखता हूँ जिसे किसी फ़ोटो स्टूडियो में तस्वीर खींचने के लिए एक गोल कुर्सी पर बैठाया गया है।

आरंभ के चार वर्षों में जीवन कितना अच्छा और सुखमय था— आज उसकी बहुत कम यादें मेरे मन में बची हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरा जीवन शुरू ही तब हुआ था जब मैं तक्ररीबन चार वर्ष का था...

...और हमारा परिवार वैष्णो देवी की यात्रा पर गया था।

## वैष्णो देवी की यात्रा

जब मैं बीते दिनों के बारे में सोचता हूँ तो ज़ेहन में कुछ अक्स उभरते हैं :

क्ररीब चार साल का एक फुर्तीला बालक खुशी से उछलता-कूदता विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों से ढकी एक छोटी पहाड़ी की खड़ी चढ़ाई चढ़ रहा है। उसने निक्कर और आधी-बाजू की

क़मीज़ पहनी है। दृश्य में दो लोग और हैं। वे भी पहाड़ी पर चढ़ रहे हैं। उनके चेहरे स्पष्ट नहीं हैं, लेकिन निश्चय ही वे उस बालक के परिवार के लोग हैं। उस बालक की गति में चंचलता है और वह आसानी से बड़े-बड़े पत्थरों के गिर्द अपना रास्ता बनाता हुआ, ऊपर चढ़ा चला जा रहा है। बीच में यदि उसे कोई ऐसा पत्थर मिलता है, जिस पर वह अपने छोटे-छोटे पाँवों से चढ़ सके तो वह उस पत्थर पर चढ़कर बैठ जाता है और पीछे आते दो लोगों को देखकर मुस्कुराता है। वे दो लोग ज़ोर से आवाज़ लगाकर बालक को धीरे चलने को कहते हैं, लेकिन धीरे चलना उस बालक का स्वभाव नहीं था। वह सबसे पहले पहाड़ी की चोटी पर पहुँच जाता है और दूसरी ओर झाँककर देखता है। दूसरी तरफ़ उसे केवल ढलान दिखाई देती है...और...

दृश्य धुँधला हो जाता है...और एक नया अक्स उभरता है...

एक संकरी गुफ़ा में घुटनों तक गहरे पानी से गुज़रते हुए वह बालक थोड़ा-सा घबराया हुआ है। गुफ़ा में बहुत कम जगह है और लोग पंक्ति बनाकर उस गुफ़ा के भीतर आगे बढ़ रहे हैं। अंदर पीले रंग की रोशनी वाले बिजली के बल्ब लगे हैं जिससे रास्ता साफ़ दिखाई दे रहा है, लेकिन जगह इतनी कम है कि उस नन्हे बालक को भी झुककर चलना पड़ रहा है। बालक को अपने पैरों पर बहते ठंडे पानी और पैरों के नीचे चिकने पत्थरों की छुअन अच्छी लग रही है। उसके आगे-पीछे चल रहे परिवार के लोग उसे पानी में खेलने से मना कर रहे हैं और आगे बढ़ते रहने का निर्देश दे रहे हैं। बालक उनके निर्देशों का बिना ना-नुकर किए पालन कर रहा है। उसे अनुभव हो रहा था कि उस गुफ़ा से कोई विशेष पवित्रता जुड़ी है। तभी...

दृश्य फिर से समय के कोहरे में खो जाता है...एक अन्य दृश्य यादों के आईने में उभरता है...

अब वह बालक एक बड़े हॉल के कोने में बिछी पतली चादर पर बैठा है। हल्की-सी ठंड उसके कपड़ों को चीरती हुई उसके शरीर तक पहुँच रही है। बालक को ज़ोरों की भूख लगी है और वह आशा भरी नज़रों से पास रखे एक बैग की ओर देख रहा है जिसमें खाने का सामान बँधा है। वह बेसब्री से इंतज़ार कर रहा है कि कब उसकी दादी उसे खाने के लिए कुछ दे। आखिरकार दादी आई और उन्होंने एक डब्बे का ढक्कन खोल रोटी और गुड़ से बने लड्डू उस बालक को खाने के लिए दिए...

दृश्य फिर से धुँधला होकर खो जाता है...और इसके बाद उस यात्रा की अन्य कोई याद मन में नहीं उभरती।

जब मैं क़रीब चार वर्ष का था तब मेरे परिवार के लोग वैष्णो देवी के पवित्र स्थान की उस यात्रा पर गए थे जिसकी बाक़ी बची यादों का मैंने अभी ज़िक्र किया।

इस यात्रा से लौटने के कुछ ही दिन बाद मुझे पोलियो हो गया था।

# पोलियो से मुलाकात

पोलियो वायरस के कारण होने वाली एक बीमारी है जो हज़ारों वर्षों से इंसान को होती आई है। पोलियो के 90 से 95 प्रतिशत मामलों में वायरस का इंसान के शरीर पर कोई असर नहीं होता। 5 से 10 प्रतिशत मामलों में हल्का बुखार, उल्टी और दर्द होकर रह जाता है। केवल 0.5 प्रतिशत मामलों में वायरस तंत्रिका तंत्र पर हमला करता है और इससे माँसपेशियाँ बेकार हो जाती हैं।

...प्रकृति माँ ने मेरा चुनाव उन्हीं 0.5 प्रतिशत लोगों में किया था।

यह सन् 1980 के उस समय की बात है, जब गर्मी का मौसम धीरे-धीरे समाप्त हो सुखद मानसून के लिए रास्ता बना रहा था। भीषण गर्मी के बाद जब मानसून आता है तो दिल्ली के लोग बहुत खुश हो जाते हैं, लेकिन मेरी माँ के मन में कोई प्रसन्नता नहीं थी। वह चिंतित और अधीर थीं, क्योंकि मुझे कई दिन से तेज़ बुखार था। बुखार लगातार 103 डिग्री फ़ेरेनहाइट के आस-पास बना हुआ था।

बीमारी की स्थिति में हमारे जैसे निम्न मध्यवर्गीय घरों में पहली प्रतिक्रिया यही होती थी कि थोड़ा इंतज़ार किया जाए। हो सकता है कि बीमारी मौसमी सर्दी-ज़ुकाम की तरह खुद ही चलती बने। इस तरह की प्रतिक्रिया कई बार बीमार की स्थिति को गंभीर भी बना देती थी, लेकिन इसके पीछे तर्कपूर्ण कारण थे। धन की कमी ने हमारे जैसे परिवारों के मन में डॉक्टर से परामर्श लेने के प्रति अनिच्छा भर दी थी। डॉक्टर जो फ़ीस लेते थे, वह निम्न मध्यवर्गीय परिवार के लिए चुका पाना थोड़ा मुश्किल होता था। डॉक्टर के परामर्श से बचने की एक और वजह अशिक्षा भी थी। बीमारी का इलाज जल्द-से-जल्द आरंभ किए जाने के महत्त्व को कम ही समर्थन हासिल था। ये तमाम चीज़ें आज भी करीब-करीब वैसी ही हैं।

‘इंतज़ार करो और देखो’ के दौरान ही कभी घरेलू इलाज भी शुरू हो जाया करता था। बुखार में बीमार को क्रोसिन की गोली दो, पानी में भीगा कपड़ा माथे पर रखो, मौसम यदि ठंडा है तो उसे तुलसी, अदरक इत्यादि जड़ी-बूटियों वाली चाय दो। बहरहाल, मेरा बुखार इतना तेज़ था कि अगले ही दिन मुझे डॉक्टर को दिखा दिया गया था और डॉक्टर ने बुखार की कुछ दवाइयाँ भी दी थीं। इसके अलावा घरेलू इलाज भी किया जा रहा था।

...लेकिन मेरा बुखार सामान्य नहीं था।

किसी को अनुमान नहीं था कि मेरे शरीर के भीतर पोलियो वायरस प्रवेश कर चुका था और उसने अपना आक्रमण शुरू कर दिया था।

बुखार चार दिन बाद भी अपनी ज़िद पर जस-का-तस अड़ा रहा और तमाम कोशिशों के बावजूद थर्मामीटर का पारा नीचे नहीं उतरा। इस परिस्थिति ने परिवार में काफ़ी घबराहट पैदा कर दी। बाबा मुझे लेकर एक अन्य डॉक्टर के पास पहुँचे। उन्हें लगा कि शायद पहला डॉक्टर

बीमारी को ठीक से समझ नहीं पा रहा था और स्थिति को नए सिरे से देखे जाने की ज़रूरत थी। दूसरे डॉक्टर ने कुछ नई दवाइयाँ बताईं, लेकिन उनसे भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। अगली सुबह मुझे तीसरे डॉक्टर के पास ले जाया गया। जैसे ही उस डॉक्टर ने सुना कि मेरा बुखार कई दिन से नहीं उतरा था; उसने मुझे एक इंजेक्शन दे दिया। डॉक्टर ने बाबा को भरोसा दिलाया कि बच्चा जल्द ही ठीक हो जाएगा। बाबा मुझे वापस घर ले आए। डॉक्टर के आश्वासन के विपरीत, दोपहर तक मेरा बुखार और अधिक बढ़ गया और स्थिति बहुत अधिक खराब लगने लगी।

हालाँकि वायरस कई दिन पहले मेरे शरीर में आ चुका था, लेकिन यही वह दोपहर थी जब पोलियो से मेरी मुलाकात हुई।

मैं लगातार रोए जा रहा था। माँ मुझे सुलाने की कोशिश कर रही थीं, पर मैं बिल्कुल नहीं सो पा रहा था। सुलाने के सभी प्रयासों में असफल रहने के बाद आखिर वह पलंग पर बैठ गई और मुझे अपनी गोद में लेकर अपने नर्म हाथों से मेरे माथे को सहलाने लगीं। वह काफ़ी देर तक मुझे शांत करने की कोशिश करती रहीं। मैं कुछ भी नहीं बोल रहा था— बस रो रहा था। माँ को इस बात का कोई अंदाज़ नहीं था कि मैं इतना क्यों रो रहा हूँ, उन्हें लगा कि शायद मुझे कहीं दर्द है। उन्होंने दर्द की ओर से मेरा ध्यान हटाने के लिए एक माँ द्वारा अपनाए जाने वाले सभी तरीक़े अपनाए। मुझे बाँहों में झुलाया, गले से लगाया, चूमा...मेरे साथ खेलने की कोशिश की।

इसी कोशिश में माँ ने मुझे पलंग पर खड़ा किया, लेकिन फिर उन्होंने जो देखा उससे उनका दिल दहल गया।

मैं खड़ा ही नहीं हो पाया और एक बेजान पत्थर की तरह उनकी गोद में गिर गया। माँ ने मुझे फिर से खड़ा करने की कोशिश की, लेकिन मेरे पाँव मेरा वज़न नहीं उठा पा रहे थे। मैं फिर से उसी तरह गिर गया। माँ ने फिर कोशिश की, लेकिन फिर से वही नतीजा देखा। अब माँ बहुत अधिक डर गई, उन्हें एहसास हो गया था कि जिस तरह से मैं गिर रहा था उसका कारण केवल कमज़ोरी नहीं थी...बात अवश्य कुछ और ही थी। गिरते समय मेरा शरीर कोई प्रतिरोध नहीं कर रहा था। माँ यह सब देखकर घबरा गई और उन्होंने आँगन में चारपाई पर उनींदी-सी लेटी अम्मा को आवाज़ लगाई।

“अम्माजी, ललित अपने पाँवों पर खड़ा नहीं हो पा रहा है। मैं इसे सहारा देकर खड़ा कर रही हूँ तो भी खड़ा नहीं हो पा रहा है”, माँ ने लगभग रोते-रोते कहा। अम्मा यह सुनकर माँ के पास आई।

“ऐसा कमज़ोरी के वजह से हो रहा होगा। कई दिन से बुखार नहीं उतरा है ना। ललति को मुझे दे और तू कुछ देर आराम कर ले”, अम्मा ने माँ को तसल्ली देते हुए कहा। अम्मा मुझे ‘ललति’ ही कहा करती थीं।

अब अम्मा मुझे गोद में लेकर चुप कराने की कोशिश करने लगीं। माँ ने जो कहा था उसे जाँचने के लिए अम्मा ने भी मुझे पलंग पर खड़ा किया। नतीजा फिर से वही, मैं खड़ा नहीं हो पाया और एकदम से पलंग पर गिर गया। अब घबराने की बारी अम्मा की थी। किसी अनहोनी

की आशंका हल्की झुर्रियों वाले उनके चेहरे पर साफ़ दिखने लगी थी। अम्मा ने खूब ज़ोर से बाबा को आवाज़ लगाई और कुछ ही देर बाद मैं वापस उसी डॉक्टर की दुकान में था जिसने सुबह मुझे इंजेक्शन लगाया था। तब तक सूरज ने डूबना शुरू कर दिया था और रात की परछाईं हर चीज़ पर दिखाई देने लगी थी, लेकिन अँधेरे की सबसे गहरी परछाईं मेरे परिवार के मन पर पड़ रही थी। डॉक्टर भी मेरी स्थिति देखकर चिंतित हो गए और उन्होंने बाबा से कहा कि इस बच्चे को अस्पताल ले जाना होगा ताकि आगे जाँच हो सके। चूँकि अँधेरा हो चुका था इसलिए अगले दिन का इंतज़ार करना पड़ा।

अगले दिन सूरज निकलते ही बाबा ने मेरे बुखार से तपते शरीर को अपनी बाँहों में उठाया और अम्मा ने मुझे कपड़े से अच्छी तरह ढक दिया। माँ ने उस समय तक रोटियाँ बना दी थीं। कुछ रोटी और थोड़ा-सा अचार एक पुराने अखबार में लपेटकर अम्मा ने साथ ले लिया। बाबा-अम्मा मेरी हालत देखकर समझ गए थे कि अस्पताल में देर लग सकती है, लेकिन अस्पताल में ज़रा भी देर नहीं लगी।

पहले मेरा मुआयना सफ़रदरजंग अस्पताल की ओ.पी.डी. में एक डॉक्टर ने किया। उस डॉक्टर को किसी बात का शक हुआ तो उसने एक सीनियर डॉक्टर को बुलवा भेजा। सीनियर डॉक्टर आए और उन्होंने भी मेरी स्थिति देखी।

“इस बच्चे को पोलियो हो गया है”, सीनियर डॉक्टर ने चिंतित आवाज़ में बाबा को बताया। बाबा को शायद पोलियो के बारे में कुछ नहीं पता था, पर डॉक्टर के चिंतित चेहरे को देखकर वह समझ गए कि स्थिति बहुत गंभीर है।

“लेकिन डॉक्टर साब, ये ठीक तो हो जाएगा ना? इस बीमारी का इलाज तो होगा ही?” बाबा ने अपनी आशाओं को बनाए रखने की साहस भरी कोशिश करते हुए पूछा।

“नहीं। इस बीमारी का पूरी दुनिया में कोई इलाज नहीं है। यह बच्चा अब कभी नहीं चल पाएगा। इसके पैर कभी पूरी तरह ठीक नहीं हो पाएँगे। हो सकता है कि ये थोड़ा-बहुत ठीक हो जाए, लेकिन वैसा कभी नहीं होगा जैसा यह पहले था”, डॉक्टर ने एकदम से कह दिया।

मुझे नहीं पता कि इन शब्दों को सुनकर बाबा पर क्या गुज़री। असीम दुख से रूँधे उनके गले की मैं केवल कल्पना ही कर सकता हूँ। अस्पताल के डॉक्टरों ने मेरे लिए कुछ और दवाइयाँ दे दीं और बाबा से कह दिया कि बच्चे को घर ले जाओ।

भाग्य से पराजित दो वृद्धों की तरह अम्मा-बाबा आँखों में आँसू लिए और मुझे गले से लगाए, घर लौट आए। उस दिन ऐसा लग रहा था जैसे घर में किसी की मृत्यु हो गई हो। हर कोई रो रहा था। पापा, बाबा और कैलाश चाचा इस बात पर चर्चा कर रहे थे कि अब मेरे इलाज को कैसे आगे बढ़ाया जाए।

मेरे परिवारजन आशा नहीं खोना चाहते थे...और इरादे के पक्के ये लोग आने वाले कई वर्षों तक इस बात के प्रति आशावान और कर्मशील बने रहे कि कोई तो इलाज होगा जो मुझे पूरी तरह ठीक कर देगा।

इधर मेरा बुखार अभी भी न उतरने की ज़िद पर अड़ा था और मेरा दाहिना पैर पूरी तरह से निर्जीव हो चुका था। मैं दाहिने पाँव को बिल्कुल भी नहीं हिला पा रहा था। यदि कोई इस पाँव को हवा में उठाता और छोड़ देता तो मैं पाँव को उठाए नहीं रख पाता था। मेरी कमर और कूल्हों की माँसपेशियाँ भी बुरी तरह से प्रभावित हुई थीं। इसके कारण मैं बैठ भी नहीं पा रहा था। बैठाने की कोशिश करने पर मैं लुढ़ककर इधर-उधर गिर जाता था। परिवारजन और मेरा हाल दरियाफ़्त करने आ रहे पड़ोसी बार-बार मुझे खड़ा करने या बैठाने की कोशिश कर रहे थे। जो मुझे इस हालत में पहली बार देख रहे थे, वे सुनाए गए हाल को स्वयं होता देखने के लिए मुझे खड़ा करने की कोशिश कर रहे थे। जो मुझे गिरते हुए देख चुके थे, वे भी मुझे बार-बार इस उम्मीद से खड़ा कर रहे थे कि शायद हालत में सुधार की कोई झलक दिख जाए।

लेकिन भविष्य में सुधार नहीं...बल्कि स्थिति का और बिगड़ना लिखा था।

प्रकृति माँ के दिए काँटे को अभी और गहरा धँसना था...अभी और दर्द आना बाक़ी था।

अगले दिन भी मेरा बुखार तेज़ बना रहा और शाम होते-होते पोलियो का एक और हमला मुझ पर हुआ। शाम के वक़्त मैं फिर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा और कुछ ही घंटों में मेरे बाएँ पैर ने भी काम करना बंद कर दिया। परिवार के लोगों की बची-खुची आशाएँ भी इस दूसरे हमले की भेंट चढ़ गईं। अब कमर से नीचे मेरा शरीर पूरी तरह से निष्क्रिय हो चुका था। परिवारजनों की आशाएँ निराशा के गहन अँधेरे में खो चुकी थीं। वायरस के दूसरे हमले से सभी को लगने लगा कि इस तरह एक-एक करके मेरे सभी अंग काम करना बंद कर देंगे और मेरा पूरा शरीर निष्क्रिय व निष्प्राण हो जाएगा। उस समय ऐसा लगने लगा था जैसे मैं धीमे-धीमे मौत की ओर बढ़ रहा था।

अगली सुबह बाबा मुझे फिर से सफ़रदरज़ंग अस्पताल लेकर गए ताकि डॉक्टरों को बता सकें कि मेरे बाएँ पैर ने भी काम करना बंद कर दिया है। मेरी स्थिति को जाँचने के बाद डॉक्टर ने बाबा को बताया कि इस दूसरे हमले के बाद मेरे थोड़ा-बहुत ठीक होने के आसार और भी कम हो गए थे।

“अब आपका पोता कभी भी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाएगा”, डॉक्टर ने बाबा से कहा।

पिछले कुछ दिन से जो कुछ हो रहा था, उसे देखते हुए बाबा को भी यह अंदाज़ा हो ही गया था। हर किसी को डॉक्टर से ऐसा ही जवाब मिलने की आशंका थी और परिवार के सब लोग खुद को इस ख़बर के लिए तैयार किए हुए थे, लेकिन फिर भी यह ख़बर पूरे परिवार पर आसमानी बिजली की तरह पूरी निर्ममता के साथ टूटकर गिरी।

आशाएँ और दिल टूट चुके थे...

मेरे लिए यह एक ऐसे जीवन की शुरुआत थी जो निश्चित रूप से असामान्य होने वाला था। यह तय हो चुका था कि मेरे जीवन को ऐसे किसी भी साँचे से नहीं गुज़रना था जिन साँचों से अधिकांश लोगों के जीवन बने होते हैं।



आगे आने वाले भविष्य में मुझे तोड़कर बिखेर देने की बेपनाह ताकत थी और यह मुझ पर था कि मैं इस असामान्य जीवन की कठिनाइयों का प्रतिरोध करूँ या इन कठिनाइयों के सामने आत्म-समर्पण कर पराजय स्वीकार कर लूँ।

प्रकृति माँ का उपहार, वह काँटा, अब मेरे भीतर पूरा धँस चुका था। मैंने प्रकृति माँ से नहीं पूछा कि आपने मुझे ही क्यों चुना। पोलियो वायरस के जिन कणों ने मेरे शरीर को तहस-नहस कर दिया था, वे कण मुझ पर हमला न करते तो हो सकता है कि किसी और को अपना निशाना बनाते। प्रकृति माँ ने उन कणों को मेरे शरीर में कैद करके शायद किसी और की रक्षा की हो! प्रकृति माँ से क्या पूछना...उनका आदेश सिर-आँखों पर!

मेरी ज़िन्दगी के रजिस्टर में पोलियो ने अपनी उपस्थिति के हस्ताक्षर कर दिए थे...जीवन भर चलने वाली मेरी लड़ाई अब शुरू हो चुकी थी...

## हम जितना लड़ सकते हैं, ज़रूर लड़ेंगे

जब परिवार के लोग इस तथ्य को स्वीकारने की स्थिति में आए कि मैं जीवन भर के लिए विकलांग हो चुका था, तो परिवार के सभी लोगों ने निश्चय किया कि इस बीमारी से हम जितना लड़ सकते हैं उतना ज़रूर लड़ेंगे। आने वाले कई वर्षों तक सभी ने कोशिश की कि कोई तो इलाज ऐसा मिल जाए जो उनके 'ललति' को ठीक कर दे।

मुझे बेजान करने के बाद आखिरकार बुखार उतर गया। जैसे ही मेरी हालत कुछ स्थिर हुई वैसे ही पापा, बाबा, माँ, अम्मा, चाचा इत्यादि सभी ने जितना हो सका उतने लोगों से मिलकर मेरे लिए कोई इलाज तलाशना शुरू कर दिया। वे मेरी स्थिति के बारे में सभी को बताते थे : चाहे वे पड़ोसी हों, मित्र हों, रिश्तेदार हों, रिश्तेदारों के रिश्तेदार हों...या केवल जान-पहचान के लोग हों...

...कई बार तो घर के सामने से गुज़रने वाले अजनबियों को भी मेरी स्थिति के बारे में बता दिया जाता था और उनसे किसी इलाज के बारे में सूचना देने की प्रार्थना की जाती थी।

## पोलियो के बारे में आम लोगों की धारणा

आमतौर पर लोग पोलियो की बीमारी को 'हवा लग जाना' कहते थे। सामान्यतः लोग लकवे,

माँसपेशियों की अन्य कमज़ोरियों और पोलियो के बीच फ़र्क़ नहीं समझ पाते थे। उनके लिए इस तरह की विकलांगता का एक ही कारण होता था : 'हवा लगना'।

'हवा लगने' से लोगों का आशय यह होता था कि अमुक व्यक्ति 'बुरी हवा' के संपर्क में आ गया है और इसकी वजह से उस व्यक्ति की माँसपेशियाँ अकड़कर अस्थायी रूप से निष्क्रिय हो गई हैं। लोग कुछ इस तरह समझते थे कि जैसे ठंड के कारण कोई जीवित शरीर जम गया हो और यदि उस शरीर को उचित गर्माहट मिले तो शरीर खुलेगा और फिर से काम करने लगेगा।

शुभचिंतकों ने मेरे लिए हर तरह के इलाज सुझाए। ये लोग वस्तुस्थिति से अनजान ज़रूर थे, लेकिन ये सभी मेरे हालात के प्रति चिंतित और इलाज सुझाने की अपनी कोशिशों में ईमानदार थे। इन सभी शुभचिंतकों ने लकवे के शिकार कुछ लोगों को किसी विशेष खुराक, व्यायाम या दवाई से ठीक होते देखा था— इसलिए उन्हें लगता था कि वही विशेष खुराक, व्यायाम या दवा मुझे भी स्वस्थ कर देगी...और मेरे माता-पिता तो बताई गई किसी भी तरकीब को तुरंत इस्तेमाल करने के लिए तैयार थे।

उस समय मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा था कि मुझे क्या हुआ है, ये सब लोग क्या बातें करते हैं, ये सब इतने परेशान क्यों हैं। मुझे केवल यह पता था कि अब मैं दूसरे बच्चों की तरह बैठ नहीं पाता था, चल नहीं पाता था...दौड़ नहीं पाता था...खेल नहीं पाता था। मुझे केवल यह पता था कि मुझे बिस्तर में पड़े-पड़े दूसरे बच्चों को खेलते देखना था। मेरी कमर से नीचे का हिस्सा पूरी तरह से निष्क्रिय हो चुका था।

बहुत वर्षों बाद जब मैं पोलियो के वायरस, इसकी कार्य-प्रणाली और इसके प्रभावों को पुस्तकों और डॉक्टरों की मदद से समझने लगा था, तब मुझे यह बात बहुत अजीब लगने लगी कि लोग पोलियो को ठीक कर देने का दावा करते हैं। जब मैं बताता कि पोलियो लाइलाज है तो अक्सर मुझे बुजुर्ग व्यक्तियों से झिड़कियाँ सुनने को मिलतीं, जबकि अन्य लोग पोलियो को लाइलाज कहने और उनके विश्वास को ग़लत बताने पर मुझसे नाराज़गी जताते थे। मुझे इन तमाम लोगों का विश्वास अजीब लगता था क्योंकि यह असत्य था, पर मैं यह ज़रूर मानता हूँ कि लोगों का विश्वास अपने आस-पास देखी वास्तविकताओं पर आधारित था।

## डॉ. जोनास सॉक

हो सकता है कि आप डॉ. जोनास एडवर्ड सॉक के बारे में नहीं जानते हों, लेकिन डॉ. सॉक ने मानव जाति को जो उपहार दिया वह अतुल्य है। अमरीकी वैज्ञानिक डॉ. सॉक ने सन् 1955 में पोलियो के टीके की खोज की थी। इसी टीके की बदौलत धीरे-धीरे पोलियो को दुनिया से मिटाया गया— इस समय केवल पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और नाइजीरिया में ही पोलियो के

केस सामने आ रहे हैं।

डॉ. सॉक ने पोलियो के टीके का पेटेंट कराने से इंकार कर दिया था। यदि वह इस टीके को पेटेंट करा लेते तो अभी तक उन्हें इसका कुल मुनाफ़ा करीब चालीस हज़ार करोड़ रुपए हो सकता था। लेकिन यदि वह इस टीके को पेटेंट करा लेते तो दुनिया से पोलियो को मिटाना बेहद मुश्किल हो जाता। डॉ. सॉक से जब पूछा गया कि इस दवा का पेटेंट किसके पास है, तब उन्होंने कहा था, “इसका कोई पेटेंट नहीं है। क्या आप सूरज को पेटेंट करा सकते हैं?” डॉ. सॉक जैसे इंसानों की वजह से ही इस धरा पर रोशनी बनी रहती है।

कहा जाता है कि उस समय अमेरिका में लोगों को बस दो चीज़ों का डर था— एक एटम बम और दूसरा पोलियो। 1952 में अमेरिका में पोलियो के 58, 000 मामले सामने आए थे। डॉ. सॉक और उनकी टीम ने परीक्षणों के दौरान करीब 18,00,000 स्कूली बच्चों पर पोलियो के टीके को आजमाया। आखिरकार 12 अप्रैल 1955 को जब यह घोषणा हुई कि डॉ. सॉक की दवा सुरक्षित और असरदार है तो पूरे अमेरिका में खुशी की लहर दौड़ गई। पोलियो से बेहद खौफ़ज़दा लोग सड़कों पर निकल आए, गिरिजाघरों में विशेष प्रार्थना सभाएँ की गईं, लोग एक-दूसरे से गले मिले, बधाइयाँ दीं, मिठाइयाँ बाँटीं...लोगों ने अपने घरों पर दुकानों पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा—“धन्यवाद डॉ. सॉक!” 12 अप्रैल 1955 को पूरे अमेरिका में छुट्टी और जश्न का माहौल रहा। डॉ. सॉक को मसीहा कहा गया और लोगों में उन्हें सम्मानित करने की होड़ लग गई।

भारत में पल्स पोलियो टीकाकरण कार्यक्रम 1978 में शुरू किया गया था और 1984 तक केवल 40 प्रतिशत बच्चों को ही दवा पिलाई जा सकी थी। 1980 में जब मुझे पोलियो हुआ था, उस समय भारत में हर वर्ष पोलियो के हज़ारों-लाखों केस सामने आते थे। पोलियो को रोक पाना बहुत मुश्किल काम था, फिर भी भारत सरकार द्वारा लगातार चलाए गए पोलियो टीकाकरण कार्यक्रम के कारण अब भारत में पोलियो के बहुत कम केस पाए जाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन भारत को आधिकारिक रूप से पोलियो-मुक्त भी घोषित कर चुका है। लेकिन इस बीच जो लोग पोलियो वायरस की चपेट में आ गए, पोलियो ने उन्हें एक विकृत शरीर और सारी उम्र चलने वाला घोर संघर्ष दिया है। मनुष्यता अनुभव करने के लिए ज़रूरी आत्म-सम्मान पाना और जीवन जीने का संघर्ष पोलियो के शिकार को मिलने वाली सबसे बड़ी चुनौती होती है।

## मच्छा की डेरी वाले वैद्य जी का आना

मुझे पोलियो हो जाने की खबर जल्द ही आस-पास के घरों में भी फैल गई। मेरा हाल जानने

और इलाज के बारे में अपने सुझाव देने के लिए रोज़ाना लोग घर पर आने लगे। इसी क्रम में एक दिन एक मध्यवय व्यक्ति हमारे घर आए।

“मिस्रि जी, मेरे बेटे को भी कुछ साल पहले पोलियो हो गया था। इसकी वजह से मेरे लड़के के एक पैर को हल्का नुकसान पहुँचा था।” वह सज्जन बाबा को बता रहे थे, “हमने उसका इलाज एक वैद्य जी से कराया तो उसके पैर की खोई हुई क़रीब-क़रीब सारी ताक़त लौट आई। अब वह बिना किसी सहारे के चलता और दौड़ता है। उसकी चाल में बस हल्की-सी लँगड़ाहट ही बची है।”

यह सुनकर परिवारजनों की आशाओं के बुझे दीपक फिर से जल उठे। उन सज्जन से जब वैद्य जी का पता पूछा तो पता चला कि वह उत्तर प्रदेश में स्थित मच्छा की डेरी गाँव में रहते थे।

बाबा ने तुरंत उन वैद्य जी से संपर्क किया और उन्हें बहुत आग्रह करके घर ले आए। वैद्य जी की उम्र क़रीब पचास वर्ष थी और उनकी सेहत अच्छी अवस्था में थी। कुछ लोग होते हैं जिनके चेहरे से ही करुणा और मित्रता की मिठास टपकती है, और उनकी बोली में तो शहद होता है! वैद्य जी उन्हीं लोगों में से थे। उनका सिर हमेशा सफ़ेद रंग की एक गाँधी टोपी से ढका रहता था और हर मौसम में उनका लिबास सफ़ेद धोती-कुर्ता ही रहता था। सर्दियों में वह गहरे सलेटी रंग की एक जैकेट भी पहन लिया करते थे।

घोर अँधेरे में सहारा टटोलते परिवारजनों को वैद्य जी के रूप में रोशनी की किरण दिखाई दी थी। पहली बार उनका हमारे घर आना पूरे परिवार के लिए उल्लास के पल लेकर लाया। घर में वैद्य जी का स्वागत पूरी विनम्रता और आभार के साथ किया गया, क्योंकि वैद्य जी ने सैकड़ों किलोमीटर दूर से दिल्ली में हमारे घर आना स्वीकार किया था। वैद्य जी ने इस बात को समझा था कि मेरी नाज़ुक अवस्था के कारण मुझे उनके गाँव ले जाना कठिन कार्य था। इसलिए वैद्य जी ने हर 15 दिन में दिल्ली आकर मेरा इलाज करना स्वीकार कर लिया।

मुझे याद है जब वैद्य जी पहली बार घर पहुँचे तो आँगन में चारपाई पर दरी बिछाकर उन्हें बिठाया गया। माँ ने मुझे घर में एक कमरे के भीतर लिटाया हुआ था। वहाँ से मुझे वैद्य जी की चारपाई दिख रही थी— बाहर उजाला था, लेकिन दिन का कौन-सा समय था, यह मुझे याद नहीं है। वैद्य जी ने पानी पिया, चाय पी और घर में मौजूद लोगों के साथ कुछ देर बातचीत की। फिर किसी ने मुझे गोदी में उठाकर बाहर उसी चारपाई पर लिटा दिया जिस पर वैद्य जी बैठे थे। इसके बाद वैद्य जी मेरे निर्जीव हो चुके दोनों पैरों को उठाकर, गिराकर, दबाकर, मोड़कर; कई तरह से पोलियो के असर को समझने की कोशिश करने लगे। वह कई मिनट तक मेरा मुआयना करते रहे। इस बीच परिवारजन दम साधे इंतज़ार कर रहे थे कि वैद्य जी अभी कोई खुशख़बरी सुनाएँगे। मुआयना पूरा कर लेने के बाद वैद्य जी ने जो कहा उससे सभी के चेहरे पर चमक आ गई।

“इस बच्चे के केस में कुछ तो किया जा सकता है, हो सकता है थोड़ी-बहुत जान लौट आए।” उन्होंने आगे कहा, “मैं कोई गारंटी नहीं दे रहा हूँ, लेकिन मैं कोशिश ज़रूर करूँगा।”

वैद्य जी इस बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं करना चाहते थे कि पोलियो का असर किस हद तक मिट जाएगा।

“एक भी दिन नागा नहीं होनी चाहिए”, ऐसा कहते हुए इलाज के लिए वैद्य जी ने कई चीज़ें बताईं जो बिना एक भी दिन रुके रोज़ाना की जानी थीं।

मेरे माता-पिता ने उनके हर निर्देश का अक्षरशः पालन अगले दो वर्ष तक उसी तरह किया जैसा वैद्य जी ने कहा था।

...रोज़ाना— बिना रुके...बिना नागा...

## पोलियो से संघर्ष की शुरुआत

मेरे जीवन से खेल-कूद, भाग-दौड़ इत्यादि सब विदा हो चुके थे। मेरे दिन-रात बिस्तर में पड़े एक बेजान शरीर के तौर पर बीतने लगे। सुबह की शुरुआत मेरे पैरों, कमर और कूल्हों की गर्म पानी की सिकाई से होती थी। उन दिनों दफ़्तर से पापा का साप्ताहिक अवकाश शुक्रवार को होता था और बाक़ी दिन वह अलग-अलग शिफ़्टों में काम करते थे। कभी उन्हें सुबह दफ़्तर जाना होता था, कभी दोपहर को, कभी शाम को और कभी रात को। इसलिए वैद्य जी के कहे अनुसार मुझे इलाज देने के लिए माँ-पापा को अपनी दिनचर्या में काफ़ी बदलाव करते रहना पड़ता था। माँ मेरे इलाज संबंधी कार्यों के अलावा घर सँभालने में भी दिन-रात व्यस्त रहने लगीं।

हमारे पास ‘नूतन’ ब्रांड का बत्तियों वाला एक स्टोव था जिसे हम खाना पकाने और पानी गर्म करने के लिए प्रयोग करते थे। अम्मा ने घर के आँगन में मिट्टी का एक चूल्हा भी बना रखा था जिसे हम तब प्रयोग करते थे जब कभी जलाने के लिए कोयला या लकड़ी उपलब्ध हो जाती थी। सरकार उस समय कोयला राशन में देती थी जो मिट्टी के तेल (केरोसीन) के मुक़ाबिले सस्ता पड़ता था। सो, पैसे बचाने के लिए जहाँ तक संभव हो हम कोयले और लकड़ी का प्रयोग करके चूल्हे पर ही खाना पकाते थे। लेकिन जल्द ही मिट्टी के तेल से चलने वाला स्टोव चूल्हे के बनिस्बत अधिक लोकप्रिय हो गया, क्योंकि स्टोव पर काम जल्दी हो जाता था; मिट्टी का तेल भी राशन में मिलने लगा था और स्टोव से धुआँ भी कम निकलता था। लाल और पीले रंग से सजा नूतन ब्रांड का स्टोव उस समय लगभग हर घर में होता था।

मेरी सिकाई के लिए माँ सुबह-सुबह एक बड़े भगोने में पानी भर कर स्टोव पर रख देती थीं। यह देखकर मेरी धड़कनें बढ़ जाती थीं और सिकाई व व्यायाम से होने वाले दर्द का भय दिल में घर कर जाता था, ऐसा हर रोज़ होता था। मन करता था कि यह सब तकलीफ़ जल्द से जल्द समाप्त हो जाए।

स्टोव पर उबलते हुए पानी में माँ एक मुट्ठी अजवायन डाल दिया करती थी। इसके बाद

पानी को करीब बीस मिनट और उबलने दिया जाता था। जैसे ही अजवायन उबलनी शुरू होती थी, पूरा घर अजवायन की गंध से भर जाता था और पानी का रंग सुनहरा होने लगता था। हमारे घर में लोहे, पीतल और काँसे के बने कई पुराने बर्तन थे, इनमें से कई तो अभी भी घर में रखे हैं। चमकदार स्टेनलेस स्टील के ज़माने में आज ये बर्तन ऐसे लगते हैं जैसे संग्रहालय से लाए गए हों। इन्हीं बर्तनों में पीतल की एक बड़ी-सी परात भी शामिल है, जो करीब चार इंच गहरी और दो फुट व्यास की है। अजवायन के उबलते पानी को इस परात में डालकर तब तक छोड़ दिया जाता था, जब तक कि पानी की गर्माहट सहनीय न हो जाए। कई बार जब माँ-पापा को किसी और काम के लिए जल्दी होती थी तो इस परात में पानी धीरे-धीरे और बार-बार डाला जाता था ताकि पानी जल्दी सहनीय तापमान तक आ सके।

‘सहनीय’ का अर्थ होता था— बहुत गर्म, बस इतना गर्म न हो कि त्वचा पर फफोले पड़ जाएँ। पानी के ‘सहनीय’ हो जाने के बाद मुझे परात में सिकाई के लिए तब तक बिठाया जाता था जब तक पानी में गर्माहट बनी रहे, क्योंकि मैं खुद बैठ नहीं पाता था इसलिए माँ या पापा को मुझे पकड़कर बिठाए रखना होता था। परात ज़्यादा गहरी नहीं थी, इसलिए मेरे पैर पूरी तरह से पानी में नहीं डूबते थे। पापा या माँ पास में बैठकर पानी को मेरे पैरों, कूल्हों और कमर के ऊपर डालते रहते थे ताकि पोलियो से प्रभावित हुए हर हिस्से को बराबर सिकाई मिल सके।

मुझे कभी भी उस गर्म पानी में बैठे रहना अच्छा नहीं लगा। इतने गर्म पानी में मुझे करीब एक घंटे से भी अधिक समय तक बैठना पड़ता था। एक छोटे बच्चे के लिए यह सब रोज़ाना मिलने वाली किसी सज़ा से कम नहीं था।

अब मैं यह समझने लगा था कि यह सब इसलिए किया जा रहा है ताकि मैं फिर से अपने पैरों पर चल सकूँ। मुझमें स्वस्थ हो जाने और पहले की तरह दौड़ने-भागने की तीव्र इच्छा थी, लेकिन साथ ही मेरा बालमन पीड़ा से भरी इस दिनचर्या से डरता भी था। सिकाई का गर्म पानी इतना गर्म होता था कि बस मुझे जलाता नहीं था, लेकिन जलन की तेज़ अनुभूति काफ़ी देर तक होती रहती थी।

गुज़रते समय के साथ मैंने गर्म पानी को बरदाश्त करना तो सीख लिया, लेकिन उस परात में देर तक बैठे रहने के बंधन के प्रति मैं कभी सहज नहीं हो पाया। मेरे छोटे भाई किशोर का जन्म मुझसे दो वर्ष बाद हुआ। जब मुझे पोलियो हुआ तो किशोर दो वर्ष का था और मेरे इलाज के समय ढाई-तीन वर्ष का। मैं किशोर और अन्य बच्चों की तरह खेलना चाहता था, उनके साथ इधर-उधर दौड़ना चाहता था।

यह मेरी दिनचर्या की केवल शुरुआत ही थी। अजवायन के पानी से सिकाई के बाद मालिश की बारी आती थी। वैद्य जी ने औषधि-युक्त एक तेल की मालिश रोज़ाना मेरे पैरों पर करने के लिए कहा था। यह शायद मछली का तेल था जिसमें वैद्य जी कुछ जड़ी-बूटियाँ मिलाकर हमें देते थे। इस तेल में कौन-सी जड़ी-बूटियाँ थीं, इसकी जानकारी हमें नहीं थी। वैद्य जी हर पंद्रह दिन में मेरे मुआयने के लिए आते थे और यह तेल दे जाते थे। दोपहर में पापा, और

यदि पापा दफ़्तर में होते थे तो माँ, इस तेल से मेरे पैरों की मालिश किया करते थे। मालिश का लक्ष्य यह होता था कि रोज़ एक अंजुली-भर तेल मेरे पैरों में जज़्ब हो जाना चाहिए। मालिश शुरू करने से पहले मेरे नीचे एक रबर-शीट बिछाई जाती थी ताकि तेल पलंग पर बिछी चादर को खराब न करे। यह वही एक ओर से लाल, एक ओर से हरी रबर-शीट थी जिसे उन छोटे बच्चों के नीचे बिछाया जाता है जो रात को बिस्तर गीला करते हैं। मालिश के दौरान कमरे के सभी खिड़की-दरवाज़ों को बंद रखा जाता था ताकि हवा से मेरे पैरों को बचाया जा सके। मालिश करीब एक घंटे चलती थी। इसके बाद मेरे पैरों और कमर को पुरानी सूती धोतियों और चुन्नियों से बनी पट्टियों में लपेट दिया जाता था। मालिश के बाद मैं अँधेरे कमरे में पट्टियों में एक 'ममी' की तरह बँधा लेटा रहता था।

इसके बाद पापा मुझे छत पर एक कोने में ऐसे खड़ा करते थे जिससे कि मेरे शरीर पर सीधी व तेज़ धूप पड़ती रहे। मैं दोनों हाथों से दीवार पकड़कर किसी तरह अपने पैरों पर हल्का वजन लेने की कोशिश करता था। यह एक बहुत ही मुश्किल काम था। इसमें दर्द भी बहुत होता था। मेरे पैर ज़रा भी वजन उठाने को तैयार नहीं थे, लेकिन मुझे अपनी सारी शक्ति लगाकर खड़े रहने का अभ्यास करना होता था। पापा भी मेरे साथ तेज़ धूप में बैठकर मेरे घुटनों को दबाए रखते थे ताकि मैं खड़ा रह सकूँ। अक्सर ऐसा होता था कि उनके हाथ हटाते ही मैं गिर जाता था। गिर जाने पर कभी-कभी मुझे डाँट भी पड़ती थी, लेकिन यह डाँट मेरे भले के लिए ही थी।

जैसा कि गाँवों में होता ही है, हम रात का खाना जल्दी खा लेते थे और नौ बजे तक सब लोग सो भी जाते थे। लेकिन जबसे मुझे पोलियो हुआ, माँ-पापा की दिनचर्या में बहुत बदलाव आए। रात के खाने के बाद माँ रसोई के अन्य काम निपटाती थीं और उसके बाद पानी से भरी एक टोकनी को स्टोव पर चढ़ा देती थीं। टोकनी धातु से बने मटके की तरह का एक बर्तन होता है जिसे पानी भर कर रखने के लिए प्रयोग किया जाता है। हमारी टोकनी पीतल की थी और इसमें करीब बीस-पच्चीस लीटर पानी आ जाता था। माँ पानी से भरी टोकनी में अरंडी के खूब-सारे पत्ते डालकर टोकनी के मुँह पर एक प्लेट लगाती थीं। फिर इस प्लेट को चारों ओर से गेहूँ का गीला आटा लगाकर सील किया जाता था। इसके बाद टोकनी को स्टोव पर तब तक रख दिया जाता था जब तक कि पानी उबलने न लगे। उबलते पानी से जो भाप टोकनी के भीतर बनती थी उसका दबाव जल्द ही आटे की सील में एक-दो छेद कर देता था और भाप तेज़ी से उन छेदों से निकलती थी। इसका अर्थ होता था कि पानी तैयार है।

अब माँ मुझे एक चारपाई पर लिटा देती थीं इस चारपाई पर कोई चादर, गददा या दरी नहीं होती थी। चारपाई की बुनाई भी हल्की थी। उबलते पानी से भरी टोकनी को चारपाई के नीचे कुछ ऐसे रखा जाता था ताकि टोकनी से निकलती भाप ऊपर उठकर मेरे पैरों को छू सके। फिर देर रात तक माँ-पापा थोड़ी-थोड़ी देर में उस टोकनी को चारपाई के नीचे इधर-उधर खिसकाते रहते थे ताकि मेरे पैरों के हर हिस्से की भाप से सिकाई हो सके। मैं इसी तरह चारपाई पर लेटा-लेटा सो जाता था, लेकिन माँ-पापा देर तक मेरे पैरों की सिकाई करते रहते थे। वे आधी रात के

बाद ही सो पाते थे।

परिवार के सभी लोगों ने इसी तरह कई वर्षों तक मेहनत की, वे इससे कभी नहीं थके— बल्कि सभी लोग और अधिक मेहनत करने को हमेशा तैयार रहते थे। सबका बस एक ही अरमान था कि वे मुझे फिर से चलता हुआ देख सकें। बीतते समय के साथ-साथ परिवारजनों को यह बात कुछ हद तक समझ आ गई कि पोलियो वाकई एक लाइलाज बीमारी है और इसके असर को केवल एक सीमा तक ही समाप्त किया जा सकता है।

माँ दिन-रात इसी प्रार्थना में रहती थीं कि वह अपने बेटे को एक दिन चलता हुआ देखें। अपने पैरों पर नहीं तो कम-से-कम किसी सहारे की मदद से ही सही...लेकिन ललित चले...

...ललित को चलता हुआ देखना सबकी प्रार्थनाओं का केंद्र बन गया था।

## डूबते को तिनके का सहारा

वैद्य जी द्वारा किया जा रहा इलाज करीब दो वर्ष तक चला। इन दो वर्षों में कई बार ऐसा हुआ जब परिवार की आशाएँ मद्धम पड़ीं, सभी लोग मुझे ठीक होता देखने के लिए अधीर थे। लेकिन वैद्य जी ने पहले ही कह दिया था कि वह किसी भी तरह का फ़ायदा होने की गारंटी नहीं देंगे, अगर कुछ बेहतरी हुई भी तो उसमें काफ़ी समय लगेगा। ऐसी अनिश्चितता भरी स्थिति और लगातार चल रहे, थका देने वाले इलाज के कारण कई बार वैद्य जी के ऊपर बना विश्वास डगमगाया भी था। इसी कारण परिवारजन मुझे और भी कई जगह इलाज के लिए लेकर गए— लेकिन, हाँ, वैद्य जी का इलाज नहीं रोका गया।

शुभचिंतकों ने बहुत तरह के इलाज सुझाए। किसी ने कहा कि राइफल के तेल से पैरों पर मालिश करो, किसी ने मुझे कबूतर का गोشت खिलाने की वकालत की तो किसी ने मछली के तेल से मालिश करने को कहा। किसी ने कहा कि बच्चे को समुद्र किनारे रेत में दो दिन के लिए गर्दन तक गाड़ दो, तो एक अन्य ने केंचुओं से भरी मिट्टी में मुझे गर्दन तक दबाने के लिए कहा। हमारा परिवार शुद्ध शाकाहारी है, इसलिए माँस इत्यादि खाना मेरे बस की बात नहीं थी। घर के लोगों ने तो कहा भी कि बाहर से लाकर खिला देंगे, लेकिन मैंने इसके लिए बिल्कुल मना कर दिया। एक शुभचिंतक बहुत ज़ोर डाल रहे थे कि बच्चे को खूब अंडे खिलाओ। उनके बार-बार कहने पर पापा ने मुझे अंडा लाकर दिया भी, लेकिन उसे जीभ पर रखते ही मुझे बेतहाशा उल्टियाँ होने लगीं। उसके बाद से अंडे और माँस के बारे में हमने सोचना ही बंद कर दिया।

लोगों द्वारा सुझाई तक्ररीबन हर उस जगह पर मुझे ले जाया जाता था, जहाँ मुझे इलाज मिलने की उम्मीद थी।

मुझे मुज़फ़्फ़रनगर जाना याद है। वह एक बहुत ही गर्म दिन था— शायद मई या जून का



महीना रहा होगा। बाबा और अम्मा रोडवेज़ की टूटी-फूटी और ठूँस-ठूँसकर सवारियों से भरी बस में मुझे लेकर उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़रनगर में पहुँचे, जहाँ एक व्यक्ति ने बीमार लोगों के लिए मुफ्त कैप लगाया हुआ था। एक शुभचिंतक ने बाबा को बताया था कि यह व्यक्ति हर बीमारी को ठीक कर सकता है। इस तरह की सूचनाओं के मिलने पर बाबा एकदम से आशावान हो उठते थे और मुझे यहाँ, वहाँ, हर जगह ले जाने को तैयार हो जाते थे।

मुझे याद है कि मुज़फ़्फ़रनगर गाँव के एक खुले खेत में अम्मा मुझे गोद में लिए बैठी थीं। खेत में लगी फ़सल कट चुकी थी और हम मिट्टी में ही बैठे थे। सिर पर आया सूरज आग बरसा रहा था। हम दुखी और बीमार लोगों की अंतहीन-सी लगने वाली एक पंक्ति में बैठे थे। लगभग सभी लोग बहुत ग़रीब दिखते थे (शायद इसीलिए वे इलाज कराने एक मुफ्त कैप में आए थे)। हमारे आस-पास की पंक्तियों में बैठी कई महिलाओं की गोद में अलग-अलग उम्र के ऐसे बच्चे थे जिनके हाथ-पैर सूखे बाँस की तरह पतले-पतले थे। इन लोगों के पास एल्यूमिनियम या स्टील के विभिन्न तरह के बर्तन थे जिनमें शायद वे लोग घर से रोटी-सब्ज़ी इत्यादि लाए थे। सब एक लंबे इंतज़ार की तैयारी करके आए थे। पंक्तियाँ बहुत धीरे-धीरे आगे खिसक रही थीं।

कई घंटे इसी तरह मिट्टी में धीरे-धीरे आगे खिसकने के बाद हम खेत में ही लगे एक टेंट के करीब पहुँचे। इस खुले टेंट के नीचे ही मरीज़ों को दवा दी जा रही थी। टेंट में एक आदमी प्लास्टिक के तारों से बुनी कुर्सी पर बैठा दिखाई दे रहा था। उसके पास रखी एक टेबल पर छोटी-बड़ी बहुत-सी बोतलों में दवाइयाँ रखी थीं। वह व्यक्ति मरीज़ों से कुछ बातें करता और फिर अलग-अलग बोतलों से निकालकर दवाई दे देता था।

हमारी बारी तब आई जब सूरज ने पश्चिम में क्षितिज को लगभग चूम लिया था। मुझे नहीं पता कि उस व्यक्ति ने अम्मा-बाबा को क्या सलाह दी, लेकिन मुझे यह याद है कि उसने एक लिफ़ाफ़े में कई तरह की गोलियाँ भर कर दी थीं। अम्मा-बाबा को संतोष था कि मुझे दवा मिल गई थी और दिन भर का लंबा इंतज़ार व यात्रा की कठिनाई बेकार नहीं गई। पता नहीं अम्मा-बाबा को उन दवाइयों पर कितना विश्वास था, लेकिन वे आशा से ज़रूर भर गए थे। जब तक हमने दिल्ली की ओर आती हुई रोडवेज़ बस पकड़ी तब तक शाम का धुँधलका गहराने लगा था। नए-नए मिले दवाइयों के आशा-भरे खज़ाने के साथ घर पहुँचते-पहुँचते हमें काफ़ी देर हो गई। घर पहुँचकर खाना खाने के बाद मुझे उन कड़वी दवाइयों की पहली खुराक दी गई।

परिवारजन इस तरह की बातों को वैद्य जी से छुपाते नहीं थे। हालाँकि वैद्य जी इस तरह हर इलाज स्वीकार लिए जाने से असहमत थे, लेकिन वह इस बात को समझते थे कि परिवार के लोग बीमार बच्चे के ठीक होने को लेकर अधीर और व्याकुल हैं। शायद इसीलिए उन्होंने मेरे इलाज के लिए आना बंद नहीं किया। मुझे वैद्य जी से और अन्य बहुत-सी जगहों से लगाने और खाने की दवाइयाँ लगातार बड़ी मात्रा में मिलती रहीं और मैं उन्हें खाता रहा।

पोलियो हमले के बाद के कुछ वर्षों में मुझे गोलियाँ, कैपस्यूल, सिरप, काढ़ा, तेल, पेस्ट इत्यादि रूपों में जाने कितने किलोग्राम दवाइयाँ खानी पड़ीं। इन सभी दवाइयों की प्रकृति बहुत

गर्म और तीव्र होती थी, क्योंकि इलाज करने वाले तक़रीबन सभी लोगों में एक सामान्य विश्वास था कि मेरी स्थिति का कारण खून की नसों का बंद होना या माँसपेशियों का कमज़ोर होना था। उनका मानना था कि गर्म प्रकृति की जड़ी-बूटियाँ और दवाइयाँ बंद नसों को खोल कर माँसपेशियों को ताक़त प्रदान करेंगी।

ख़ूब सारी दवाइयों को नाश्ते, लंच, डिनर और इनके बीच में भी लगातार निगलते रहना मेरी दिनचर्या का एक हिस्सा बन गया था। कैपस्यूलों में अक्सर किसी न किसी तरह का तेल भरा होता था। पेस्ट जड़ी-बूटियों का मिश्रण हुआ करते थे और उनका स्वाद अक्सर खट्टे और मीठे के बीच कहीं ठहरता था। स्वाभाविक है कि मुझे दवाइयाँ खाना बिल्कुल नापसंद था, लेकिन पेस्ट का स्वाद बेहतर होने के कारण उन्हें मैं आसानी से खा लेता था। तेल से भरे कैपस्यूल निगलना सबसे मुश्किल काम था, क्योंकि इन कैपस्यूलों की गंध और जीभ पर उनके स्पर्श से ही मुझे उल्टी आने लगती थी। लेकिन यह सब दिन में कई-कई बार खाना होता था।

एक बार कैलाश चाचा मुझे पास के ही एक गाँव में इलाज के लिए लेकर गए। हमें बताया गया था कि उस गाँव में एक ऐसा व्यक्ति है जो हर बीमारी को लगभग जादुई तरीके से ठीक कर देता है। किसी शुभचिंतक ने बताया था कि वह व्यक्ति बीमार अंग पर एक फूल का स्पर्श कराता है और बीमारी तुरंत ठीक हो जाती है। मुझे मालूम है कि आप क्या सोच रहे होंगे, यही कि 'ये क्या मज़ाक़ है!' ...मेरे परिवारजनों ने भी ठीक यही सोचा था, लेकिन मुझे फिर से चलता-फिरता देखने की इच्छा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने तर्क इत्यादि को एक तरफ़ सरकाया और मुझे उस व्यक्ति के पास ले जाने का फ़ैसला कर लिया।

हर बीमारी के इलाज का दावा करने वाला यह व्यक्ति पास के एक गाँव में बने लंबे-चौड़े फ़ार्महाउस में रहता था। फ़ार्महाउस के ठीक बीचों-बीच बड़ा और बहुत शानदार सफ़ेद रंग का एक घर बना हुआ था। इसी इमारत के भीतर यह व्यक्ति हफ़्ते में कुछ चुने हुए दिनों पर बीमारों का मुफ़्त इलाज करता था। इस तरह का इलाज करने वाले जाने कितने ही डॉक्टरों, साधुओं, वैद्यों, नीम-हक़ीमों के पास मुझे ले जाया गया था। हर जगह मुझे बीमार और ग़रीब लोगों की एक बहुत लंबी पंक्ति हमेशा देखने को मिलती थी।

ख़ूब इंतज़ार के बाद जब हमारी बारी आई तो कैलाश चाचा ने मुझे अपनी गोदी में उठाया और उस सफ़ेद घर के भीतर ले गए। घर का ड्रॉइंग-रूम महँगे फ़र्नीचर और सजावटी चीज़ों से भरा हुआ था। कमरे में मौजूद एक व्यक्ति ने चाचा से कहा कि इस बच्चे को टेबल पर लिटा दो। कई मिनट बाद एक अन्य व्यक्ति ने कमरे में प्रवेश किया। करीब पैंतालीस वर्ष उम्र और बड़े डील-डौल वाले उस व्यक्ति ने रेशम का बना सफ़ेद कुर्ता-पायजामा पहना हुआ था और उसके गले में रुद्राक्ष की माला थी। हल्के पीले रंग का दुपट्टा उसने गर्दन पर लटका रखा था। वह व्यक्ति ऐसा लग रहा था जैसे बॉलीवुड की किसी फ़िल्म से निकला हुआ कोई दबंगी-राजनेता हो। ठीक फ़िल्मों की ही तरह उसके पीछे दो लोग और चल रहे थे।

“बच्चे की पैंट उतारो”, मेरे पास आते ही उस व्यक्ति ने चाचा से कहा।

पैंट उतार दिए जाने के बाद, उस व्यक्ति ने पास रखी प्लेट में से गेंदे का एक फूल उठाया और उस फूल को मेरे पैरों पर दो-तीन बार फिराया।

“चलो इलाज हो गया, बच्चे को पैंट पहनाओ, ठीक हो जाएगा।” उस व्यक्ति ने कहा।

हम घर वापस आ गए। मुझे इलाज के लिए जाने कितनी अजीब-अजीब जगहों पर ले जाया गया था, लेकिन उस फ़ार्महाउस में मिला इलाज सबसे अधिक अजीब और बेसिर-पैर का था। वहाँ से आकर न मुझे और न ही कैलाश चाचा को ऐसी कोई आशा थी कि इस ‘इलाज’ से कुछ होगा। हमें लगा कि उस फ़ार्महाउस में जाना समय और मेहनत की बर्बादी थी। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि उस इलाज से कुछ हुआ भी नहीं।

इन व्यक्तियों के सामने लगने वाली मरीज़ों की लंबी क़तारें हमारी स्वास्थ्य-सेवा व्यवस्था, हमारे विश्वास, निरक्षरता, आशा के महत्त्व के साथ-साथ इस ओर भी इशारा करती हैं कि हमारे समाज में नीम-हक़ीम कितनी आसानी से लोगों के मन में जगह बना लेते हैं। अशिक्षा और निराशा लोगों को तर्क से दूर कर देती है और वे हर उस व्यक्ति की बात मान लेते हैं जो उन्हें आशा की किरण दिखाता है— चाहे वो आशा कितनी भी बेतुकी क्यों न हो। अशिक्षित, बीमार और हताश लोगों की बड़ी संख्या उपजाऊ ज़मीन की तरह साबित होती है जिसमें ये नीम-हक़ीम कुकुरमुत्तों की तरह उगते और पनपते रहते हैं।

यहाँ मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कुछ वैद्यों को नीम-हक़ीमों से अलग रखना चाहूँगा। हो सकता है कि वैद्य योग्यता-प्राप्त आयुर्वेदिक या होमियोपैथिक डॉक्टर भी न हों, लेकिन एक अच्छा और अनुभवी वैद्य छोटी-मोटी बीमारियों का इलाज करना भली-भाँति जानता है। ऐसे वैद्य लोगों को यह कहकर बेवकूफ़ नहीं बनाते कि वे सभी बीमारियों को ठीक कर सकते हैं। वैद्य अक्सर इलाज के घरेलू नुस्खों के आधार पर अपने नुस्खे उन्नत करते हैं। वैद्य को अपना ज्ञान अमूमन अपने पिता से मिलता है और यह ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता हुआ परिष्कृत व उन्नत होता रहता है। एक अच्छे वैद्य को पता होता है कि किस बीमारी को वह ठीक कर सकता है और किसे नहीं। उसे पता होता है कि कब मरीज़ को अस्पताल जाने की सलाह दी जानी चाहिए। एक अच्छे वैद्य का मूल उद्देश्य मानव-सेवा होता है— पैसा या शोहरत कमाना नहीं।

## स्कूल जाने की शुरुआत

पोलियो होने के एक वर्ष बाद जब मैं पाँच साल का था, तब मेरा दाखिला स्कूल में करा दिया गया। परिवारजनों द्वारा लिए गए उस सही निर्णय के बारे में मैं अक्सर सोचता हूँ। उस समय सामान्यतः बच्चों का स्कूल में दाखिला पाँच वर्ष की उम्र में ही होता था। हमारी पारिवारिक पृष्ठभूमि में शिक्षा का अधिक महत्त्व न होने और दाखिले के समय मेरे शरीर की बीमार स्थिति के

बावजूद परिवारजनों ने मुझे सही समय पर स्कूल भेजने के बारे में सोचा— यह एक महत्वपूर्ण बात थी। हालाँकि हमारे परिवार में पढ़ाई-लिखाई की ओर रुझान निश्चित रूप से बढ़ने लगा था फिर भी मैं सोचता हूँ कि किस बात ने मेरे माता-पिता को मुझे उस समय स्कूल भेजने के लिए प्रेरित किया होगा। कारण चाहे जो भी रहा हो, लेकिन मैं आभारी हूँ कि उन्होंने सही निर्णय लिया।

मुझे नगर निगम के स्थानीय प्राइमरी स्कूल में भर्ती कराया गया। यह स्कूल हमारे घर के सबसे नज़दीक था, सबसे सस्ता था और बच्चों को अच्छी शिक्षा देने के लिए शायद सबसे कम चिंतित भी यही स्कूल था। बाबा मुझे स्कूल लेकर गए और उन्होंने मेरा दाखिला करा दिया। इसके बाद उन्होंने स्कूल के प्रिंसिपल से मेरी बीमार स्थिति और दिन भर चलने वाले इलाज के बारे में बात की। बाबा ने प्रिंसिपल से प्रार्थना की कि इस बच्चे को पहले वर्ष स्कूल न आने की छूट दी जाए। मेरे लिए नियमित स्कूल जा पाना बिल्कुल संभव नहीं था। प्रिंसिपल ने इस बात पर ध्यान दिया और मुझे रोज़ स्कूल आने की शर्त से छूट दे दी। इसके बदले बाबा ने प्रिंसिपल को आश्वासन दिया कि बच्चे को घर पर पढ़ाया जाएगा और परीक्षाएँ देने के लिए स्कूल लाया जाएगा।

ज्ञान की दुनिया में यह मेरा पहला क़दम था— यह एक ऐसी यात्रा का पहला क़दम था जिसकी मंज़िल मुझे एक शिक्षित व्यक्ति बनाना था। उस समय मैं न तो बैठ सकता था और न ही चल सकता था। वैद्य जी द्वारा दिया जा रहा इलाज बिना नागा नियमित गति से लगातार चल रहा था। दिन-रात या तो मैं अजवायन के गर्म पानी में रहता था; या पट्टियों से बँधा पड़ा रहता था; या मुझे तेज़ धूप में व्यायाम कराया जा रहा होता था; या फिर भाप, गोलियाँ, कैपसूल और अन्य किस्म की दवाइयाँ ले रहा होता था। हालाँकि औपचारिक तौर पर मैं पहली कक्षा का विद्यार्थी बन चुका था...लेकिन मैं स्लेट, कॉपी, पेंसिल इत्यादि को उस निरंतरता के साथ प्रयोग नहीं कर पा रहा था जिसकी ज़रूरत अक्षर-ज्ञान के लिए होती है।

स्कूल का पहला वर्ष बस इसी तरह पोलियो से जूझते और पढ़ाई की कोशिशें करते हुए बीत गया, मैं परीक्षाओं में भी नहीं बैठ सका। मेरे परीक्षाओं में उपस्थित न होने के कारण स्कूल के प्रिंसिपल नाराज़ थे। मौखिक समझौते के तहत उन्होंने मुझे स्कूल से अनुपस्थित रहने की अनुमति इसलिए दी थी कि मैं परीक्षाओं में बैठूँगा और उनमें उत्तीर्ण भी होऊँगा। नाराज़ प्रिंसिपल से बात करने की ज़िम्मेदारी फिर से बाबा पर आ गई। इस बार प्रिंसिपल को राज़ी करना मुश्किल रहा, लेकिन बाबा ने आखिरकार प्रिंसिपल साहब को मना लिया। प्रिंसिपल एक करुण व्यक्ति थे और वह मेरी समस्या समझ रहे थे, लेकिन इस बार उनकी शर्त अधिक कड़ी थी। उन्होंने कहा कि बच्चा इस साल भी स्कूल से अनुपस्थित रह सकता है, लेकिन उसे साल के आखिर में पहली और दूसरी कक्षा की सारी परीक्षाएँ एक साथ देनी होंगी और उनमें उत्तीर्ण भी होना होगा।

...और मेरे ऊपर आने वाले पढ़ाई के बोझ की चिंता न करते हुए, बाबा ने तुरंत सधन्यवाद

हामी भर दी!

## वैद्य जी द्वारा इलाज समाप्त करना

अब मेरी उम्र छह वर्ष हो चुकी थी और वैद्य जी के इलाज ने धीरे-धीरे कुछ नतीजा दिखाना शुरू कर दिया था। मेरे बाएँ पैर की कुछ माँसपेशियों में थोड़ी-सी ताकत लौट आई थी। हालाँकि मैं अभी भी चल नहीं पा रहा था, क्योंकि मेरा दायाँ पैर अभी भी पूरी तरह बेजान था और थोड़ी-सी बेहतरी के अलावा बायाँ पैर भी बहुत कमज़ोर बना हुआ था। लेकिन वैद्य जी के इलाज से अब मेरी कमर की माँसपेशियों में इतनी ताकत आ चुकी थी कि मैं बैठ सकता था और ज़मीन पर अपने शरीर को घसीटकर आगे बढ़ सकता था। मैं बहुत खुश था कि दो साल के बाद मैं अपने-आप बैठ पा रहा था और 'चल' पा रहा था...यह खुशी इतनी ज़्यादा थी कि मुझे इस बात का एहसास ही नहीं था कि मैं असल में खुद को ज़मीन पर घसीट रहा था। इस तरह घिसट पाना, सारा दिन पलंग पर पड़े रहने और यह इंतज़ार करने से तो बेहतर ही था कि कोई आए और मुझे एक जगह से उठाकर दूसरी जगह रख दे।

“बच्चे की स्थिति में इससे ज़्यादा सुधार की गुंजाइश नहीं है। जो किया जा सकता था वो मैंने कर दिया है।” एक दिन वैद्य जी ने यह कहते हुए इलाज समाप्त करने की घोषणा कर दी।

हालाँकि उनका पुत्र अभी भी विकलांग ही था, लेकिन फिर भी माँ-पापा वैद्य जी के प्रति बेहद कृतज्ञ थे कि उनके इलाज ने कुछ तो सहायता की। इसके बाद वैद्य जी ने हमारे घर आना बंद कर दिया और जो इलाज पिछले दो वर्षों से बिना रुके चल रहा था, वह अपनी समाप्ति पर पहुँच गया। बाद में वैद्य जी को मैंने केवल दो-तीन बार देखा। वह कभी-कभी मेरा हाल-चाल पूछने आ जाते थे। धीरे-धीरे उनके आगमनों के बीच अंतराल बढ़ता गया और अंततः उनका आना बिल्कुल रुक गया।

मैं उन वैद्य जी का नाम भी नहीं जानता, लेकिन उनकी कोशिशें वह तिनका थीं जिसकी मेरे डूबते हुए जीवन को तलाश थी। वैद्य जी को शब्दों में धन्यवाद देना मेरे लिए संभव नहीं है। उनके प्रति जो कृतज्ञता भाव मेरे मन में है, उसे केवल मेरा मन ही समझ सकता है।

## घर पर पढ़ाई की शुरुआत

अब जबकि मैं बिना सहारे के बैठ पाता था तो मेरी पढ़ाई ने ज़ोर पकड़ना आरंभ कर दिया। हमारे घर के पास एक अध्यापिका रहती थीं जो छोटे बच्चों को अपने घर पर पढ़ाया करती थीं। चूँकि अभी तक मैंने शिक्षा के किसी औपचारिक वातावरण में एक दिन भी व्यतीत नहीं किया था, इसलिए यह ज़रूरी था कि जल्द-से-जल्द मुझे अन्य बच्चों के साथ बैठकर शिक्षा प्राप्त करने की आदत डाली जाए। इसलिए टीचर जी से बात कर ली गई और मुझे उनके पास भेजना तय हुआ। मुझे याद है कि पहले-पहल माँ और अम्मा मुझे वहाँ लेकर गई थीं।

टीचर जी मुझे पहले से ही जानती थीं। आस-पड़ोस में सभी लोग मुझे एक विकलांग और 'बदनसीब' बच्चे के रूप में अच्छी तरह जानते थे। माँ और अम्मा ने टीचर जी को स्कूल में मेरे दाखिले और निकट आ रही परीक्षाओं के बारे में बताया। यह भी बताया कि मुझे एक ही बार में दो कक्षाओं की परीक्षाओं में पास होना होगा। टीचर जी ने मुझे पढ़ाने के लिए हामी भर ली और साथ ही भरोसा दिलाया कि वह मुझे अतिरिक्त समय देने की कोशिश भी करेंगी, क्योंकि मुझे कुछ ही महीनों में दो वर्ष का अध्ययन पूरा करना था। इस तरह मेरी औपचारिक शिक्षा की वास्तविक शुरुआत हुई।

माँ मुझे गोदी में उठाकर रोज़ शाम को करीब तीन बजे टीचर जी के घर ले जाती थीं और मुझे वहाँ छोड़कर वापस घर लौट आती थीं। मैं टीचर जी के घर में मैं रोज़ दो घंटे रहकर पढ़ाई करता था। शाम पाँच बजे के करीब माँ आतीं और मुझे अपनी बाँहों में समेटकर वापस घर ले आतीं। मुझे टीचर जी के घर में रुकना अच्छा लगता था, क्योंकि वहाँ मेरी उम्र के और भी बच्चे होते थे। अकेलेपन, बंधन और दर्द से भरे कई सालों के बाद हमउम्र बच्चों के बीच वापस लौटना और उनसे दोस्ती करना एक बेहद सुखद अनुभूति थी।

## मैं अन्य बच्चों जैसा नहीं रह गया था

अपने ही जैसे छोटे बच्चों के बीच लौट आने की खुशी जल्द ही गायब हो गई। पोलियो होने के बाद टीचर जी के घर में मैं पहली बार दुनिया के तौर-तरीकों से रूबरू हो रहा था। बिस्तर के बंधन से मुक्ति और अन्य बच्चों के बीच लौट आने की खुशी मेरे जीवन में इस कड़वे एहसास को साथ लेकर आई कि अब मैं अन्य बच्चों जैसा नहीं रह गया था।

उस समय मेरे मन में पोलियो से पहले के दिनों की यादें बिल्कुल स्पष्ट थीं कि मैं किस तरह पड़ोस के बच्चों के साथ खेलता और दौड़ता था। लेकिन अब मुझे समझ आने लगा था कि बदलाव केवल इतना नहीं हुआ था कि अब मैं हमेशा के लिए विकलांग हो चुका था। बदलाव केवल मेरे शरीर में ही नहीं हुआ था, बल्कि जो बच्चे पोलियो से पहले मेरे साथ खेला करते थे मेरे प्रति उनके व्यवहार में भी बहुत बड़ा बदलाव आ चुका था।

टीचर जी के घर में पहली बार दिखा यह बदलाव दरअसल समाज के उस व्यवहार की एक झलक मात्र था जिसका सामना मुझे आने वाले जीवन में करना था। टीचर जी के घर में मेरे साथ पढ़ने वाले बच्चे अक्सर मुझे इस बात का एहसास कराते रहते थे कि अब मैं उनके मुक़ाबिले कमज़ोर हो चुका था। खेल-खेल में ही, जब टीचर जी आस-पास नहीं होती थीं, इन बच्चों में से कोई मेरी कॉपी या पेंसिल छीनकर दूर जा बैठता था और मुझे इस बात की चुनौती देता था कि मैं आऊँ और अपनी चीज़ उससे ले लूँ। हमउम्र बच्चों के पहले कभी न देखे इस व्यवहार से मैं हक्का-बक्का रह जाता था। घबराहट और अचंभे से भरा मेरा मन अक्सर इस बात का निर्णय नहीं कर पाता था कि क्या चुनौती को स्वीकारते हुए मुझे घिसटते हुए जाकर अपनी चीज़ ले लेनी चाहिए या फिर इस बात का इंतज़ार किया जाए कि टीचर जी आकर मुझे बचा लेंगी। यह असमंजस की स्थिति मुझे बहुत असहाय अनुभव कराती थी और कई बार मैं रोने भी लगता था।

टीचर जी जब वापस आती तो मुझे तंग कर रहे बच्चे को डाँटती थीं। टीचर जी मुझे दुलार-पुचकार के ज़रिए यह जताने की बहुत कोशिश करती थीं कि मैं जीत गया था क्योंकि आखिरकार डाँट उसी बच्चे को पड़ी जो शैतानी कर रहा था। लेकिन ऐसा होने पर भी मैंने कभी खुद के भीतर विजेता की भावना महसूस नहीं की। मैं बस यह चाहता था कि बच्चे मुझे तंग करना बंद कर दें और फिर किसी को यह याद न रहे कि बच्चों ने मेरा मज़ाक़ उड़ाया था। मैं इस तरह की घटनाओं से संबंधित सत्य को महसूस नहीं करना चाहता था। मेरे भीतर से आती एक आवाज़ कहती थी कि चाहे जो भी हो जाए, लेकिन ये बच्चे अब कभी भी मुझे अपने जैसा नहीं मानेंगे। टीचर जी की पीठ पीछे वे फिर से मुझे इसी तरह तंग करेंगे और मेरा मज़ाक़ उड़ाएँगे।

इलाज के अलावा किसी और उद्देश्य को लेकर घर से बाहर निकलने की वजह से मुझे कुछ खुलेपन का एहसास होने लगा था, लेकिन खुलेपन का यह एहसास असुरक्षा की भावना अपने साथ लेकर आया था। कभी-कभी माँ किसी अन्य काम में व्यस्त हो जाने के कारण मुझे लेने के लिए टीचर जी के घर देर से पहुँचती थीं। उन्हें पता था कि मैं टीचर जी के घर आराम से रहूँगा और वह मेरा ध्यान रखेंगी। इसलिए माँ कभी-कभी अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को प्राथमिकता दे देती थीं।

ट्यूशन शाम के पाँच बजे समाप्त हो जाती थी और सारे बच्चे खुद ही अपने-अपने घर चले जाते थे, क्योंकि वे सभी मेरी तरह आस-पास ही रहते थे। सर्दियों के मौसम में शाम पाँच बजे तक रोशनी काफ़ी कम हो जाती है। बच्चों के चले जाने के बाद टीचर जी भी अपने घर के काम निपटाने में व्यस्त हो जाती थीं। यदि माँ ठीक पाँच बजे मुझे लेने नहीं पहुँचती थीं तो टीचर जी मुझे व्यस्त रखने के लिए स्लेट पर और काम दे दिया करती थीं। लेकिन मेरा ध्यान फिर स्लेट पर नहीं लगता था। मेरे दिल में घबराहट बढ़ने लगती कि अभी तक माँ क्यों नहीं आई, क्या आज वह आएँगी? या नहीं आएँगी? मैं विभिन्न संभावनाओं की कल्पना करने लगता। मैं असुरक्षित महसूस करता था, क्योंकि मुझे डर लगता था कि यदि माँ नहीं आई तो मुझे खुद को घसीटते हुए घर जाना होगा, इस तरह गलियों से गुज़रने का विचार मुझे बहुत डरा देता था। जब भी मैं अपने

घर के सुरक्षित, जाने-पहचाने व मित्रवत वातावरण में नहीं होता था, तो मैं डर जाता था। हालाँकि सच्चाई यह थी कि केवल मुझे ही ऐसा लगता था कि मैं अकेला हूँ। टीचर जी बहुत अच्छी प्रवृत्ति की महिला थीं, यदि माँ नहीं भी आतीं तो वह मुझे घर छोड़ सकती थीं, लेकिन उस समय मुझे यह बात नहीं पता थी!

यदि माँ को देर हो जाती थी तो मेरी परेशानी का एक और कारण था कि मैं खुद टॉयलेट तक नहीं जा सकता था। घर में जब भी मुझे टॉयलेट जाना होता था तो कोई मुझे उठाकर घर के बाहर की नाली पर बिठाता था (उस समय हमारे घर में टॉयलेट नहीं था)। ट्यूशन ले जाने से पहले माँ मुझे इसी तरह नाली पर बिठा दिया करती थी ताकि ट्यूशन के दौरान मुझे परेशानी न हो। लेकिन जब कभी ट्यूशन के दौरान मुझे टॉयलेट जाने की ज़रूरत महसूस होती थी तो मेरे पास सब्र करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचता था। कभी सब्र की तमाम हदें पार हो जाती तो माँ के आते ही मैं उन्हें बताता था कि मुझे टॉयलेट जाना है। तब माँ मुझे उठाकर टीचर जी के घर में बने टॉयलेट में जाती थीं। चूँकि अन्य बच्चे इस तरह किसी की गोद में टॉयलेट तक नहीं जाते थे, सो ऐसी स्थिति में मुझे बहुत शर्मिंदगी का एहसास होता था। इस बात का तो प्रश्न ही नहीं उठता था कि ट्यूशन के दौरान ज़रूरत होने पर मैं टीचर जी को कहूँ कि वह मुझे टॉयलेट तक पहुँचा दें। इसलिए मैंने धीरे-धीरे अपनी टॉयलेट जाने की प्राकृतिक ज़रूरत पर नियंत्रण करना सीखा और मैं तब तक क़ाबू रखने लगा जब तक मैं घर वापस न आ जाऊँ।

मानसिक कष्ट के बजाय शारीरिक कष्ट सहने को वरीयता देने की यह एक शुरुआत थी। मैंने जल्दी ही इस तरह की तमाम परिस्थितियों से उपजे शारीरिक कष्टों को सहना और स्वयं को स्थिरचित्त बनाए रखना सीख लिया।

## स्कूल का मेरा पहला दिन

जब धीरे-धीरे मुझे ट्यूशन में लगातार दो घंटे बैठे रहने की आदत पड़ गई, तब घर में सब लोग सोचने लगे कि मुझे अब स्कूल भेजा जाए। जब बाबा, अम्मा, माँ और पापा इस विषय पर चर्चा करते थे तो मेरा वजूद भय में डूब जाता था। मैं घर से दूर क़तई नहीं जाना चाहता था क्योंकि, जैसा कि मैंने पहले भी कहा, घर से दूरी मुझमें असुरक्षा की भावना भर देती थी। बाबा ने मुझे समझाते हुए बताया कि स्कूल एक बहुत अच्छी जगह होती है, वहाँ और भी बहुत से बच्चे होंगे जो मेरे दोस्त बन जाएँगे। बाबा द्वारा इस तरह समझाए जाने के बाद मैं कुछ हद तो शांत हुआ, लेकिन फिर भी स्कूल के पहले दिन मैं घर से जाते समय खूब रोया-चिल्लाया।

स्कूल के पहले दिन माँ ने मुझे सुबह-सुबह नहलाने के बाद मेरे बालों में थोड़ा-सा सरसों का तेल लगाया और मेरे बाल बनाए। माँ बालों में मेरी माँग बाई ओर निकालती थीं और बालों



को इतना कसकर कंधी करती थीं कि ऐसा लगता था जैसे सिर पर काले रंग की एक-समान परत बन गई हो। इसके बाद माँ कंधी से दाईं तरफ़ के बालों में आगे की ओर देवानंद स्टाइल का, लेकिन थोड़ा छोटा, एक पफ़ बनाती थीं। फिर उन्होंने मेरी आँखों में काजल लगाया और नज़र से बचाने के लिए काजल का एक छोटा-सा टीका मेरे माथे पर बालों के करीब लगा दिया।

माँ और अन्य परिवारजनों के लिए यह एक बहुत बड़ा दिन था। उनकी बरसों की मेहनत रंग ला रही थी। मेरे लिए स्कूल की वर्दी एक दिन पहले ही बना ली गई थी। वर्दी में आसमानी रंग की क्रमीज़ और खाकी रंग की एक निक्कर शामिल थी। माँ ने मुझे वर्दी पहनाकर पूरी तरह से सजा-सँवार दिया था। एक छोटा-सा बस्ता मेरी पीठ पर टाँग दिया गया। बस्ते में पत्थर (ग्रेफ़ाइट) की एक स्लेट, स्लेट पर लिखने के लिए दो-तीन स्लेटियाँ, हिंदी का क़ायदा, एक-दो किताबें, एक कॉपी और एक पेंसिल थी।

सुबह नौ बजे के करीब बाबा ने मुझे अपने कंधे पर बिठाया और कहा कि हम स्कूल जा रहे हैं। बाबा जैसे ही मुझे लेकर घर से निकलने को हुए मैं इतनी ज़ोर से रो पड़ा जैसे कि सारा गुबार अपने भीतर छुपाकर रखा हुआ था। आँखों से निकल कर बड़े-बड़े आँसू मेरे गालों पर बहने लगे, और जब मैंने रोते हुए अपनी आँखें मली तो सारा काजल फैलकर मेरे चेहरे पर लग गया। माँ को यह देखकर गुस्सा आया, लेकिन उन्होंने मुझे केवल हल्का-सा डाँटा। धैर्यपूर्वक, उन्होंने फिर से मेरे चेहरे को धोकर थोड़ा पाउडर लगाया, मेरे बाल कंधी किए और आँखों में काजल लगाया। माँएँ कितनी ममतामय होती हैं! लेकिन बाबा जैसे ही मुझे घर से लेकर निकले, मैं फिर से रो पड़ा और फिर से माँ ने मेरे चेहरे को साफ़ किया और बहलाने की कोशिश की कि जब मैं स्कूल से घर आऊँगा तो वह मेरे लिए खाने की अच्छी-अच्छी चीज़ें बनाएँगी; लेकिन मैं स्कूल बिल्कुल नहीं जाना चाहता था। माँ, अम्मा और बाबा ने मुझे बहलाने के जितने भी प्रयास किए वे सब बेकार गए। आखिरकार, बाबा ने निर्णय किया कि मुझे रोते हुए ही स्कूल ले जाना होगा; और उन्होंने यही किया!

गालों पर दौड़ की प्रतियोगिता करती आँसुओं की बूँदे लिए मैं स्कूल पहुँचा। उस स्कूल में मैं एक-दो बार पहले भी दाखिले के सिलसिले में जा चुका था; लेकिन दाखिले के समय मुझे पता था कि स्कूल में मुझे अधिक देर तक नहीं रुकना है और बाबा मुझे थोड़ी ही देर में वापस घर ले जाएँगे। स्कूल की वह इमारत मुझे एक अजीब-सी डरावनी भावना से भर रही थी। मैंने कोशिश तो बहुत की, लेकिन स्कूल में दिख रही किसी भी चीज़ के साथ मैं सहज अनुभव नहीं कर पा रहा था। वह स्कूल एक बहुत पुरानी हवेलीनुमा इमारत में बना था जिसे नगर निगम ने स्कूल बनाने के उद्देश्य से या तो ख़रीदा था या किराए पर ले लिया था। उस इमारत को यह सोचकर क़तई नहीं बनाया गया था कि कभी इसमें कोई स्कूल भी चलेगा। इमारत के कुछ दरवाज़े किले के दरवाज़ों की तरह विशाल थे। ये दरवाज़े मज़बूत और अच्छी स्थिति में थे। इन्हें अक्सर बंद ही रखा जाता था क्योंकि इन्हें खोलना और बंद करना आसान नहीं था। स्कूल की इमारत में अंदर जाने के लिए दो अन्य सामान्य आकार के दरवाज़े थे, लेकिन ये दरवाज़े समय की मार से इतने

कमज़ोर हो चुके थे कि उनका होना या न होना एक बराबर था। यदि किसी को स्कूल की इमारत में ज़बरन घुसना हो तो एक कमज़ोर-सा आदमी भी आसानी से दरवाज़े तोड़ सकता था, कुंडी-ताले से जूझने की कोई ज़रूरत नहीं थी।

दिल्ली नगर निगम द्वारा संचालित इस प्राइमरी स्कूल में केवल छात्र पढ़ते थे। हिंदी माध्यम के इस स्कूल में पहली से पाँचवीं कक्षा तक की पढ़ाई होती थी।

स्कूल के दरवाज़े पर पहुँचते ही मुझे ग्राउंड फ़्लोर की कक्षाओं में पहाड़े याद करते बच्चों की आवाज़ सुनाई दी। पहाड़े याद कराने के लिए बच्चों को एक साथ तक्ररीबन चिल्लाते हुए पहाड़े बोलने को कहा जाता था। पहाड़ों का यह सामूहिक जाप लयबद्ध होता था। चूँकि मेरा स्कूल हिंदी माध्यम का था, इसलिए वहाँ यह जाप कुछ इस तरह होता था :

“दो एकम दो... दो दूनी चार... दो तिया छह... दो चौके आठ... दो पंजे दस... दो छिक बारह... दो सत्ते चौदह... दो अठ्ठे सोलह... दो नीम अठारह... दो धाय बीस...”

जब करीब पचास छात्र पहाड़ों का लयबद्ध जाप करते थे तो उनकी आवाज़ गूँजती हुई-सी लगती थी। मुझे गोदी में लिए बाबा ने स्कूल में प्रवेश किया, पहले ही क्षण से मुझे वह इमारत भूतहा लगने लगी थी। प्रवेश-द्वार के ठीक भीतर एक बूढ़ी स्त्री ज़मीन पर जूट की बोरी बिछाए बैठी थी। उसने बोरी पर कई पारदर्शी पन्तियों में खट्टी-मीठी टॉफ़ियाँ, चूरन और फ़्रंटूश जैसी चीज़ें तरतीब से रखी हुई थीं। बाबा ने मुझे उस स्त्री के पास ही ज़मीन पर बिठा दिया और रोंने से ध्यान हटाने के लिए मेरे लिए कुछ टॉफ़ियाँ खरीद दीं। यह तरकीब काम कर गई! मैं चुप हो गया और बाबा मुझे गोदी में उठाकर प्रिंसिपल के कमरे में ले गए।

प्रिंसिपल का कमरा बहुत छोटा-सा था जिसमें इकलौती खिड़की प्रिंसिपल महोदय की कुर्सी के पीछे लगी थी। लोहे के सरियों से सुरक्षित इस खिड़की से आ रही रोशनी उस कमरे में उजाले का एकमात्र स्रोत थी। खिड़की के दूसरी तरफ़ खेल का मैदान दिख रहा था जिसमें कुछ बच्चे भाग-दौड़ रहे थे।

बाबा ने मुझे एक कुर्सी पर बिठाया और मुझसे प्रिंसिपल महोदय को नमस्ते कराई। इसके बाद प्रिंसिपल और बाबा ने क्या बातें की इसका मुझे कुछ पता नहीं चला, क्योंकि मैं अपनी टॉफ़ियों को समाप्त करने में व्यस्त हो गया था। कुछ मिनट के बाद बाबा ने मुझे फिर गोदी में उठाया और प्रिंसिपल महोदय के साथ चलते हुए मुझे दूसरी कक्षा के कमरे में ले गए। यह कमरा प्रिंसिपल के कमरे के ठीक सामने ग्राउंड फ़्लोर पर ही था और इसका दरवाज़ा इतना बड़ा व ऊँचा था कि उसमें से हाथी भी निकल जाए। बहुत ऊँची छत वाले इस कमरे के दरवाज़े पर किवाड़ नहीं लगे थे। कमरे के भीतर की दीवारों पर फ़र्श से करीब छह फ़ुट की ऊँचाई तक गहरे हरे रंग का पेंट किया गया था। छात्र चार पंक्तियों में ज़मीन पर बिछी लंबी और फटी हुई टाट-पट्टियों पर बैठे थे। मैंने उन्हें देखकर आश्चर्य से सोचा कि उन सबने मेरे जैसे कपड़े ही क्यों पहने हैं, लेकिन इस प्रश्न का कोई उत्तर मेरे मन में नहीं आया। उस कक्षा में पढ़ा रहे शिक्षक के बारे में मुझे कुछ भी याद नहीं है। इस बात का अंदेशा तो मुझे हो ही गया था कि इसी कमरे में मुझे उन

सब छात्रों के बीच बैठाया जाएगा। इस कल्पना मात्र से ही मैं भय से भर गया, लेकिन कुछ ही पलों में मेरी यह आशंका सच भी हो गई। बाबा मुझे कमरे के भीतर ले गए और मुझे दीवार के साथ बिछी एक टाट-पट्टी पर अन्य छात्रों के बीच बिठा दिया। बाबा और प्रिंसिपल के इस तरह अचानक कमरे में आ जाने से छात्रों ने पहाड़ों का जाप बंद कर दिया था। अब कुछ छात्र एक-दूसरे के बातचीत में व्यस्त हो गए थे, लेकिन अधिकांश छात्र चेहरे पर विभिन्न प्रकार के भाव लिए मुझे टकटकी लगाए देख रहे थे। बाबा ने मुझसे कहा कि वह कमरे के बाहर तब तक मेरा इंतज़ार करेंगे जब तक स्कूल समाप्त नहीं हो जाता। प्रिंसिपल महोदय ने कमरे में पढ़ा रहे शिक्षक से कुछ बातें कीं और फिर वह बाबा के साथ कमरे से बाहर निकल गए।

पहाड़ों का जाप फिर से शुरू हो गया। हालाँकि मैं पहाड़े और इस जाप की लय ट्यूशन में सीख चुका था, फिर भी मैं अन्य छात्रों का साथ नहीं दे रहा था। जैसा कि ट्यूशन में होता था मेरा मन आशंकाओं, समस्याओं और उनके समाधानों के बारे में सोचने में व्यस्त हो गया था। क्या होगा यदि बाबा स्कूल के बाद मुझे लेने नहीं आए? वह बाहर बैठे हैं भी या नहीं? अगर बाबा नहीं आए तो मैं घर कैसे जाऊँगा, मुझे तो रास्ता भी नहीं पता, मैं तो चल भी नहीं सकता... इत्यादि विचार मेरे मन में तूफानी गति से चक्कर काट रहे थे। कुछ समय बाद मन थोड़ा सँभला तो मैंने उस कमरे को गौर से देखना शुरू किया। पंक्तियों में पालथी मारे बैठे छात्र पहाड़ों का जाप करते समय लय के साथ आगे-पीछे हिल रहे थे। जो छात्र मेरी दाईं ओर बैठा था, वह अपने नटराज ब्रांड के ज्यॉमेट्री बॉक्स के साथ खेल रहा था। पहाड़े दोहराते समय छात्रों के बीच चोरी-छुपे शरारतें भी जारी थी। मैं वहाँ बैठा बस इसी तरह अन्य छात्रों और कमरे की बहुत ऊँची छत को देखता रहा।

मुझे नहीं पता था कि वहाँ उस कमरे में मुझे कितनी देर बैठना होगा। रोशनदानों से छनकर आ रही धूप के कुछ टुकड़े सामने वाली दीवार पर उतरे हुए थे। उन्हीं से मुझे समय का कुछ अंदाज़ लग रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर में मैं धूप से चमक रहे दीवार के हिस्सों को देख लेता था। धीरे-धीरे मुझे लगने लगा कि दोपहर का समय हो चुका था। मेरे मन में घबराहट बढ़ने लगी और मुझे लगा कि मैं इस कमरे में अब हमेशा के लिए फँस गया था। बाबा मुझे घर ले जाने के लिए नहीं आएँगे, लेकिन तभी छुट्टी की घंटी बज उठी...

घंटी के बजते ही सारे छात्र अपने-अपने बस्ते उठाकर कमरे से बाहर भागने लगे, पलक झपकते ही कमरा ऐसे खाली हो गया जैसे वहाँ कभी कोई था ही नहीं! अब कमरे में मैं और शिक्षक महोदय बचे थे। वह अपनी मेज़ से चॉक, रजिस्टर और छड़ी उठा रहे थे। बाहर जाने से पहले उन्होंने मुझे भरोसा दिलाया कि वह मेरे बाबा को अंदर भेज देंगे। रोशनदान में बैठी एक चिड़िया को छोड़ दें तो अब मैं उस बड़े-से कमरे में बिल्कुल अकेला रह गया। डर और चिंता ने मुझे तुरंत अपनी गिरफ्त में ले लिया। लेकिन तभी बाबा आ गए। बाबा का लंबा, दुबला-पतला और जाना-पहचाना आकार जैसे ही कमरे के दरवाज़े में से मुझे दिखा तो यकीन कीजिए उस क्षण मेरे लिए दुनिया में उस दृश्य से सुंदर कोई दृश्य नहीं था।

बाबा ने मेरा बस्ता उठाया। बस्ता उसी तरह बंद रखा हुआ था जैसे उसे सुबह लाया गया था। बाबा ने मुझे अपनी गोदी में उठाया और स्कूल की इमारत के बाहर ले आए। मैं आपको यह ज़रूर बताना चाहूँगा कि प्राइमरी स्कूल के दिनों में छुट्टी के बाद स्कूल से बाहर निकलना एक अतीव आनंद की अनुभूति देता था। ऐसी अनुभूति मुझे तब भी होती थी जब मैं अस्पतालों से बाहर निकलता था। आगे मैं आपको अस्पतालों के साथ अपने रिश्ते के बारे में भी बताऊँगा।

इस तरह स्कूल में मेरा पहला दिन बीता। घर वापस आते समय बाबा ने मुझे और टॉफ़ियाँ दिलाईं। घर पर मेरा स्वागत ऐसे हुआ जैसे मैं युद्ध जीत कर लौटा हुआ कोई योद्धा होऊँ।

## प्राइमरी स्कूल के दिन

पहली बार स्कूल जाने का काम पूरा करके मैं बहुत खुश था। उस शाम को मुझे बहुत अच्छा लगा रहा था। मैं छोटे भाई किशोर के साथ खेला और रात को खूब मज़े से खाना खाया। यह सब इसलिए था क्योंकि मुझे यह नहीं पता था कि मुझे अगले दिन भी स्कूल जाना है, और उसके अगले दिन भी, और फिर उसके अगले दिन भी! आज मैं उत्सुकतापूर्वक सोचता हूँ कि यदि मुझे पता होता तो उस शाम मेरा मन कितना भारी और डरा हुआ होता!

अगली सुबह स्कूल के लिए तैयार होने का वही चक्र फिर से आरंभ हुआ। फ़र्क़ बस इतना था कि दूसरे दिन मैंने सुबह से ही रोना शुरू कर दिया था। माँ ने मुझे सुबह-सुबह उठाया और बताया कि मुझे फिर से उसी डरावनी इमारत में जाना था जिसे स्कूल कहते हैं। बस फिर क्या था! 'स्कूल जाना है', यह सुना नहीं कि मेरा रोना शुरू! मेरे तमाशों की ओर कोई ध्यान न देते हुए माँ ने मुझे स्कूल के लिए तैयार करना आरंभ किया। बाबा फिर से रोते हुए ललित को अपनी गोदी में उठाकर स्कूल ले गए और मैंने फिर से कक्षा में खाली बैठे हुए दिन बिता दिया। पता नहीं बाबा और हमारे शिक्षक के बीच में क्या समझौता हुआ था, लेकिन शिक्षक ने एक बार भी मेरे बंद रखे बस्ते पर आपत्ति नहीं उठाई! दिन एक बार फिर से घबराहट के बीच बीता, लेकिन इस बार मुझे यह पता चल गया था कि मुझे स्कूल में हमेशा के लिए नहीं रहना, घंटी बजने के बाद बाबा आएँगे और फिर मैं मज़े से घर जाऊँगा। इस आशा ने मुझे दूसरे दिन पहले की अपेक्षा थोड़ा शांत रखा।

इस तरह समय बीतने लगा। मैं धीरे-धीरे स्कूल में सामान्य अनुभव करने लगा और मेरी पढ़ाई तेज़ी से आगे बढ़ने लगी। हिंदी की किताबों में सरल वाक्यों में लिखे पाठ होते थे, जैसे कि 'रानी डर मत', 'अमर खाना खा', 'मदन इधर आ' ...इन्हीं रानी, मदन और अमर के किताबों में बने चित्रों को देख हमने हिंदी के अक्षरों को जोड़-जोड़कर पढ़ना शुरू किया। हमसे इमला लिखवाई जाती थी, जिसमें हमें बिना क्रम के दिए गए अक्षरों को लिखना होता था। मास्टरजी

कहते थे, “चलो अब लिखो ईSSSS” ...और हम स्लेट पर ‘ई’ अक्षर लिखने की कोशिश करते थे।

वर्ष के आखिर में मैंने पहली और दूसरी कक्षा की सभी परीक्षाओं को एक साथ उत्तीर्ण किया। शायद इस बात का कोई आधिकारिक रिकॉर्ड नहीं होगा क्योंकि यह सब प्रिंसिपल और बाबा के बीच हुई मौखिक सहमति से हुआ था, और बाबा द्वारा प्रिंसिपल को दिए गए वायदे को मुझे पूरा करना था। प्रिंसिपल ने मुझे घर पर रहकर पढ़ाई करने की अनुमति दी थी, लेकिन वह नहीं जानते थे कि मैं कितनी बुरी तरह से पोलियो के शिकंजे में था। इसके कारण मेरी पढ़ाई पहले वर्ष में तो बिल्कुल नहीं हो सकी थी।

एक ही बार में पहली और दूसरी कक्षा की सभी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना मेरी ओर से पोलियो को पहला करारा जवाब था। पोलियो ने मेरे नियमित स्कूल जाने और शिक्षित होने की संभावनाओं पर प्रश्नचिह्न लगाया था और मैंने उस प्रश्नचिह्न को तमाम पीड़ा सहते हुए भी मिटा दिया था। यह मेरी पहली जीत थी, लेकिन यह तो केवल पहला क़दम था— एक अंतहीन यात्रा का पहला क़दम।

## तीसरी कक्षा में पहुँचना

परीक्षाओं में सफल होने के पश्चात मुझे तीसरी कक्षा में प्रोन्नत कर दिया गया। इस समय तक मुझे अपने भीतर ज्ञान और जानकारी की मद्धम रोशनी उपजती महसूस होने लगी थी। मैं अपने आस-पास की चीज़ों को सीखने, समझने और उनके प्रति अपना दृष्टिकोण स्थापित करने लगा था। किसी बालक के सीखने की यह प्राकृतिक प्रक्रिया पोलियो ने न केवल बाधित की थी बल्कि इसे कई वर्षों तक रोके भी रखा था। कई वर्षों तक मैंने शैक्षिक और स्वाभाविक रूप से कुछ नहीं सीखा था। पोलियो के बाद के इन वर्षों के बारे में मुझे बस इतना याद है कि मैं घोर संघर्ष, असमर्थता, निराशा और दर्द के एक गहरे अंधकार में जी रहा था। मेरे जीवन के वे वर्ष इसी अंधकार की भेंट चढ़ गए थे जिनमें बच्चा मानसिक रूप से शायद सबसे अधिक तेज़ी से विकसित होता है। इसलिए अब इसकी भरपाई के लिए मैं बहुत तेज़ी से चीज़ों को सीख और समझ रहा था। ऐसा नहीं है कि यह मेरे चाहने से हो रहा था। यह सब बस अपने-आप हो रहा था और मैं केवल इस बहाव में बह रहा था। मैं केवल मेहनत कर रहा था।

मैं यादों की गलियों में पीछे लौटकर देखूँ तो पाता हूँ कि मैं अपने सहपाठियों से कहीं अधिक तेज़ी से मानसिक रूप से विकसित और गंभीर हो रहा था। प्यार, दोस्ती, आनंद, दुख, प्रशंसा, शर्मिंदगी, नफ़रत, क्षमा, दया, करुणा, एकता, गुस्सा, उपलब्धि, सफलता, असफलता, असमर्थता इत्यादि सभी अच्छी-बुरी भावनाओं को मैं अपने सहपाठियों के बनिस्बत अधिक

शिद्दत से महसूस करने लगा था। मेरा विश्वास है कि मैं यह सब कहीं अधिक तीव्रता से इसलिए अनुभव करता था क्योंकि मैं अपने सहपाठियों से बिल्कुल अलग किस्म की ज़िन्दगी जी रहा था। मैं एक ऐसा जीवन जी रहा था जो सामान्य नहीं था। उस आयु में मेरे सहपाठियों के जीवन में यदि कोई संघर्ष था भी— तो भी मेरे लिए जीवन का संघर्ष कहीं अधिक कठोर और निर्मम था।

तीसरी कक्षा तक आते-आते मैंने बैसाखियों का प्रयोग करके चलना सीख लिया था। कैलाश चाचा ने मेरे लिए अल्यूमीनियम के पाइपों से बैसाखियाँ घर पर ही बना दी थीं और मैंने दो बैसाखियों के बीच झूलते हुए चलना आरंभ कर दिया। मेरा दायाँ पैर पूरी तरह से निष्क्रिय हो चुका था, लेकिन वैद्य जी द्वारा किए गए इलाज के कारण मैं अपने बाएँ पैर पर कुछ वज़न ले पाता था। बैसाखियों पर चलते समय मेरे शरीर का अधिकांश बोझ मेरे बाजू ही उठाते थे।

तीसरी कक्षा के पहले दिन स्कूल पहुँचते ही, अन्य छात्रों के विपरीत, मैंने एक अनपेक्षित और बड़ी चुनौती का सामना किया। तीसरी कक्षा का कमरा स्कूल की इमारत में पहली मंज़िल पर था। जैसा कि मैंने पहले बताया, इस स्कूल की इमारत कभी यह सोचकर नहीं बनाई गई थी कि इसमें कभी स्कूल भी लग सकता है, और यह तो कभी भी नहीं सोचा गया होगा कि उस स्कूल में एक छोटा-सा बच्चा बैसाखियों पर चलता हुआ भी आ सकता है। यह एक बहुत पुरानी दो मंज़िला इमारत थी। ऊपरी मंज़िलों तक जाने के लिए एकदम खड़ी और बहुत संकीर्ण सीढ़ियाँ बनाई गई थीं— यह पुरानी बनी इमारतों का एक लक्षण था। सीढ़ियों के कोण में खड़ापन शायद इसलिए भी आता था क्योंकि कमरों की छतें बहुत ऊँची बनाई जाती थीं।

अब भी घर से कोई न कोई मुझे गोदी में उठाकर स्कूल छोड़ने आता था, क्योंकि तब तक मैं बैसाखियों पर बाज़ार से गुज़रने का अभ्यस्त नहीं हुआ था। मुझे स्कूल छोड़ने बाबा, पापा या चाचा जाया करते थे। जो भी मुझे स्कूल लाता था वही मेरी बैसाखियों को भी साथ लाता था। मुझे कक्षा में बिठा दिया जाता और पास में बैसाखियाँ रख दी जातीं ताकि यदि मुझे टॉयलेट जाना हो तो मैं घिसटते हुए न जाकर चलकर जाऊँ।

धीरे-धीरे मुझे इस बात से शर्मिंदगी महसूस होने लगी कि मेरे सहपाठी मुझे किसी की गोदी में कक्षा के भीतर आता देखें। वे मेरा मज़ाक़ उड़ाते थे और मैं उनके भागते-दौड़ते पैरों के समक्ष खुद को कमतर महसूस करता था। सो, मैंने स्कूल के दरवाज़े पर ही गोदी से उतरना शुरू कर दिया। वहाँ से मैं खुद ही किसी तरह कक्षा में जाता था।

तीसरी कक्षा के पहले दिन कैलाश चाचा मुझे स्कूल छोड़ने गए थे। जब वे मुझे गोदी में लिए पहली मंज़िल की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे तो मैंने ज़िद करके उन्हें ऐसा करने से मना किया और उनकी गोदी से उतर गया। मैं गोदी में स्कूल के भीतर क़तई नहीं जाना चाहता था। क्या आप मानेंगे कि उस स्कूल में मैं कुछ महीनों से नियमित जा रहा था, लेकिन मैंने पहले कभी भी वे सीढ़ियाँ नहीं देखीं थीं, हालाँकि पहली मंज़िल को जाती वे सीढ़ियाँ स्कूल के ग्राउंड फ़्लोर वाले दरवाज़े के ठीक बराबर से ऊपर को जाती थीं। ऐसा इसलिए था कि हर एक क़दम चलना मेरे लिए एक युद्ध जीतने के समान था, ऐसे में मैं केवल उतने ही क़दम चलता था जितने आवश्यक

थे। अपने तयशुदा रास्ते से एक क़दम भी इधर-उधर जाकर देखना मेरे लिए संभव नहीं था।

पहली मंज़िल की ओर जाती उन एकदम खड़ी और ऊँची-ऊँची सीढ़ियों को देखते ही मैं समझ गया कि बैसाखियों का प्रयोग करते हुए उन सीढ़ियों पर चढ़ना मेरे लिए असंभव था।

“चल... तुझे गोदी में ऊपर ले चलता हूँ”, चाचा ने मुझे फिर से कहा।

लेकिन मैंने इंकार कर दिया। अन्य छात्र भी स्कूल पहुँच रहे थे और आराम से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए ऊपर तक जा रहे थे, जबकि मैं वहाँ सकपकाया-सा खड़ा था। मैं नहीं चाहता था कि किसी भी छात्र को यह पता चले कि इन सीढ़ियों पर चढ़ना मेरे लिए कितना मुश्किल था, इसलिए मैं वहाँ खड़ा अपने पास उपलब्ध विकल्पों को तौल रहा था और योजना बना रहा था कि किस तरह इन सीढ़ियों पर ‘गरिमापूर्ण’ तरीके से चढ़ा जाए। तमाम विकल्पों को तौल लेने के बाद आखिरकार मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि मुझे सीढ़ियों पर घिसटते हुए ही चढ़ना होगा, इसके अलावा और कोई दूसरी संभावना नहीं थी।

मैं अपने घर में भी इसी तरह चला करता था...

\*\*\*

हालाँकि मैंने बैसाखियों का प्रयोग शुरू कर दिया था, लेकिन उनका प्रयोग मैं केवल तब करता था जब मुझे घर से दूर कहीं जाना हो। घर के अंदर और पास की गलियों में मैं अपने हाथ और पैरों के बल चौपायों की तरह चलता था। यह मेरे लिए एक जगह से दूसरी जगह जाने का सबसे आसान तरीका था। इस तरीके से मैं सीढ़ियों से घर की छत पर भी जा पाता था। घर के भीतर इस तरह चलने में मैं सहज हो गया था, लेकिन बाहर गलियों में इस तरह घिसटने के प्रति मैं सचेत होता जा रहा था कि यह चलने का सामान्य तरीका नहीं है।

मेरे मन में इच्छा रहती थी कि मैं भी अन्य बच्चों की तरह भाग-दौड़ करूँ, उनके खेलों का हिस्सा बनूँ। बैसाखियाँ इस्तेमाल करते हुए अन्य बच्चों के साथ खेलना नामुमकिन था। मेरे पैर बेकार हो चुके थे, मेरी बाँहें कमज़ोर थीं और शरीर के निचले हिस्से में संतुलन समाप्त हो गया था। बैसाखियों के सहारे एक-एक क़दम उठाना मेरे लिए खतरनाक था क्योंकि मैं किसी भी पल गिर जाता और मुझे ज़ोरदार चोट लगती थी। कुछ समय तक मैंने घर के दरवाज़े पर बैठ अन्य बच्चों को गली में खेलते देखकर ही संतोष किया, लेकिन खुद को अधिक समय तक रोक नहीं पाया। अन्य बच्चों के साथ खेलने की प्रबल इच्छा ने मेरी शर्मिंदगी को कुछ हद तक दबा दिया और मैं गली में खेलते बच्चों के बीच घिसटकर जाने लगा।

बैसाखियों को मैं घर में ही छोड़ देता था, क्योंकि उनका इस्तेमाल मैं बाहर भागते-दौड़ते बच्चों के बीच नहीं कर सकता था। गली में मैं बस तभी घिसटता था जब मुझे विश्वास हो कि मुझे कोई नहीं देख रहा है, वरना मैं बस खेलते बच्चों के पास ज़मीन पर बैठा रहता था... और तो कुछ नहीं पर इससे मुझे अन्य बच्चों के बीच होने का एहसास मिल जाता था। अक्सर बच्चे मुझे अपने साथ नहीं खेलने देते थे, क्योंकि मैं खेलों में उनका साथ नहीं दे सकता था और वैसे भी वे मुझे अपने जैसा नहीं मानते थे। हाँ, कभी-कभार वे मुझे अपने साथ खेलने देते थे और मैं ऐसे

अवसरों को खुशी-खुशी स्वीकार कर लेता था। गली के बीच बैठकर अन्य बच्चों को खेलते देखना एक बात थी, लेकिन उनके साथ खेलने के लिए मुझे गली में इधर से उधर जाना होता था। मैं कोशिश करता था गली में केवल तब घिसटूँ जब मुझे कोई देख न रहा हो, तो ऐसे में बच्चों का साथ दे पाना बहुत मुश्किल हो जाता था। यदि मैं यह देख लेता था कि किसी ने मुझे घिसटते हुए देख लिया है तो ऐसा लगता था मानो शर्म से ज़मीन में गड़ ही जाऊँ।



\*\*\*

फिर से तीसरी कक्षा के पहले दिन पर लौटते हैं। उस दिन भी मैं ऐसी ही स्थिति का सामना कर रहा था। मुझे मालूम था कि स्वयं को हाथों के सहारे सीढ़ियों के ऊपर घसीटने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था और मैं यह भी नहीं चाहता था कि कोई मुझे इस तरह घिसटता हुआ देखे। इसलिए मैं एक ऐसे मौके का इंतज़ार कर रहा था जब आस-पास कोई और न हो और मैं ऊपर चला जाऊँ। करीब दस-पंद्रह मिनट इंतज़ार करने के बाद वो पल आ गया जब मेरी सारी गणनाओं और जानकारी के अनुसार इस बात की संभावना बहुत कम थी कि कोई मुझे देख लेगा। इस अवसर को दोनों हाथों से लपकते हुए मैंने अपनी बैसाखियाँ चाचा को पकड़ाई और जल्दी-जल्दी घिसटते हुए सीढ़ियों पर चढ़ने लगा।

मैं आगे की सीढ़ी को अपने हाथों से पकड़कर खुद को ऊपर की ओर खींचता था और फिर आगे वाली सीढ़ी पर बैठ जाता। इसी तरह मैं एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ने लगा। चाचा पीछे-पीछे बैसाखियाँ लिए चल रहे थे और ध्यान रख रहे थे कि यदि मैं सीढ़ियों से गिरूँ तो वह मुझे सँभाल लें। सीढ़ियाँ संख्या में बीस के लगभग थीं। जितना जल्दी हो सका मैंने वे सीढ़ियाँ पार कीं और ऊपर पहुँचकर चाचा से बैसाखियाँ लेकर जल्दी से खड़ा हो गया। फिर मैंने चारों ओर यह सुनिश्चित करने के लिए निगाह दौड़ाई कि किसी ने मुझे देखा तो नहीं। वहाँ किसी को न पाकर मैंने राहत की साँस ली— एक मिशन जो मेरे लिए बहुत चुनौतीपूर्ण था— उसे मैंने पूरा कर लिया था। यह इसलिए संभव हो पाया क्योंकि सभी बच्चे और अध्यापक सुबह की प्रार्थना सभा के लिए खेल के मैदान में इकट्ठा थे। मैंने चाचा से आग्रह किया कि वह तुरंत घर चले जाएँ ताकि अन्य बच्चे उन्हें देखे नहीं।

मैं सभी बच्चों को इस भ्रम में रखना चाहता था कि मैं पूरी तरह आत्म-निर्भर हूँ और उनसे किसी भी तरह कम नहीं हूँ।

\*\*\*

जब मैं तीसरी कक्षा में आया तो मेरे छोटे भाई किशोर का दाखिला भी उसी स्कूल की पहली कक्षा में करा दिया गया था। वह ग्राउंड फ़्लोर पर बने पहली कक्षा के ऊँची छत वाले कमरे में बैठकर उसी तरह पहाड़े याद करने लगा था जैसे कुछ समय पहले मैंने किए थे।

\*\*\*

मुझे स्कूल में सुबह होने वाली प्रार्थना सभा में अनुपस्थित रहने की छूट दी गई थी क्योंकि मेरे लिए देर तक लगातार खड़े रहना संभव नहीं था। इसलिए मैंने स्कूल उस समय पहुँचना शुरू किया जब प्रार्थना सभा शुरू हो चुकी होती थी, इससे मैं बिना किसी की नज़र में आए सीढ़ियाँ चढ़ जाता था।

“तेरे तो मज़े हैं, प्रार्थना में नहीं जाना पड़ता”, मेरे सहपाठी अक्सर मुझे यह ताना देते थे। मैं उन्हें ईमानदारी से बताता कि मैं न केवल रोज़ाना प्रार्थना के लिए मैदान में जाना चाहता था, बल्कि मैं तो उन पाँच छात्रों के समूह में खड़ा होना चाहता था जो प्रार्थना का नेतृत्व करते थे। अन्य छात्रों को प्रार्थना-सभा एक सज़ा की तरह लगती थी और इसलिए वे अक्सर मुझसे कहते

थे कि मेरा लँगड़ापन वास्तव में मेरे लिए एक 'वरदान' था जिससे मुझे वो 'मज़े' मिलते थे जो उन्हें नहीं मिलते। इस तरह की छींटाकशी रोज़ की बात थी और इससे मेरे मन को चोट लगती थी। मेरे आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान पर पड़ने वाली इस चोटों को मुझे रोज़ सहना पड़ता था, इसके अलावा मेरे पास कोई रास्ता भी तो नहीं था।

जहाँ प्रार्थना-सभा होती थी वह मैदान पहली मंज़िल की एक खिड़की से साफ़ दिखाई देता था। मैं रोज़ उस खिड़की से प्रार्थना-सभा को इस तरह छुपकर देखता था जिससे कि मैदान में से कोई मुझे न देख सके। जैसा कि आप इन वाक्यों से समझ सकते हैं— मैं नहीं चाहता था कि मैं दूसरों से अलग दिखूँ। हालाँकि मुझे प्रार्थना-सभा में न जाने की छूट दी गई थी, लेकिन मैं सभा के बाहर नहीं दिखना चाहता था क्योंकि इससे दूसरों के मन में इस विचार को बल मिलता था कि ललित 'असामान्य' है।

जब सभा चल रही होती थी तो एक-दो अध्यापक स्कूल के सभी कमरों का निरीक्षण करने आते थे ताकि छुपे हुए छात्रों को प्रार्थना-सभा की ओर धकेल सकें। ये अध्यापक मुझे रोज़ खिड़की के पास बैठा देखते थे। वे जानते थे कि प्रिंसिपल महोदय की ओर से मुझे प्रार्थना-सभा में न जाने की अनुमति मिली हुई है, इसके बावजूद वे अध्यापक भी मेरी विकलांगता और प्रार्थना-सभा के संदर्भ में कभी-कभी ऐसी बातें कह देते थे जिनसे मेरा बालमन बहुत अधिक दुखता था।

दिन-प्रतिदिन की इस मानसिक वेदना और संघर्ष के दौर ने मुझे एक संकोची बालक बना दिया जो कहीं भी दिखाई ही नहीं देना चाहता था। लेकिन इसी दुख और तकलीफ़ को अपनी ताक़त में बदलकर मैंने स्वयं के भीतर कुछ अच्छे गुण भी उन्नत किए जिनका ज़िक्र मैं आगे के पन्नों में करूँगा।

\*\*\*

तीसरी कक्षा के पहले दिन के पूर्व मैं कभी भी इमारत की ऊपरी मंज़िल पर नहीं आया था। हमारी कक्षा का फ़र्श ईंटों का बना हुआ था। इनमें से कुछ टूट चुकी थीं और कुछ टूटने के कगार पर थीं। हम इसी फ़र्श पर जूट से बनी टाट-पट्टियों पर बैठते थे। स्कूल में पाँच साल के दौरान मैंने शायद दो बार ही नई पट्टियाँ स्कूल में आती देखी थीं। नई पट्टियाँ कुछ ही समय में बच्चों की खींचतान के कारण टुकड़े-टुकड़े हो जाती थीं और उसके बाद ये टुकड़े भी ग़ायब होने लगते थे। टाट के इन टुकड़ों के लिए सब बच्चों के बीच खासी लड़ाई होती थी, शक्तिशाली शरीर वाले बच्चे सबसे अच्छे और बड़े टुकड़े हथिया लेते थे तो कई कमज़ोर बच्चों के कूल्हों और फ़र्श के बीच केवल उनकी निक्कर ही रह जाती थी। मुझे भी बैठने के लिए कभी टाट का टुकड़ा मिलता था तो कभी नहीं मिलता था। जब मिलता था तो उसके पीछे या तो अध्यापकों की दया-भावना होती थी या कक्षा के किसी दबंग बच्चे की स्वयं को हीरो साबित करने की इच्छा होती थी।

\*\*\*

मेरे प्राइमरी स्कूल में सभी बच्चे महारौली क्षेत्र के ही विभिन्न वार्डों से आते थे। इनमें से अधिकांश कामगार परिवारों के बालक थे। अमीर लोग अपने बच्चों को बेहतर और महँगे स्कूलों

में पढ़ने के लिए भेजते थे। हमारे स्कूल में दुकानदारों के बच्चे भी अपने को 'ऊँचा' मानते थे क्योंकि कक्षा में बहुत से बच्चों के पिता तो रिक्शाचालक, चपरासी, मैकेनिक जैसे कम आय वाले काम करते थे। बच्चे अक्सर जाति और आर्थिक हालातों को आधार बनाकर एक-दूसरे का मज़ाक़ उड़ाते थे। इससे आप समझ सकते हैं कि मेरी कक्षा के बच्चों का समूह कैसा रहा होगा। अधिकांश छात्र इसलिए स्कूल आते थे क्योंकि ऐसा करने के लिए उन्हें मजबूर किया जाता था। उन्हें इस बात का कोई अंदाज नहीं था कि वे रोज़ स्कूल क्यों आते हैं और वे क्या और क्यों पढ़ रहे हैं। उनमें से अधिकांश का मक़सद आठवीं पास होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होता था। उनके माता-पिता को लगता था यह प्रमाण पत्र मिलते ही वे किसी सरकारी नौकरी में लग जाएँगे, लेकिन मैंने ऐसा होते नहीं देखा। उन बच्चों में से बहुत से तो बीस-पच्चीस साल की उम्र तक गलियों में आवारा घूमे और उसके बाद ही कोई मेहनत-मज़दूरी का काम पकड़ा। हमारे स्कूल में छात्र ज़ात-बिरादरी, परिवार की कमाई, शारीरिक बल और परिवार के सामाजिक रुतबे के आधार पर बँटे थे। मित्रता का भाव उन बच्चों में था, लेकिन कम था।

स्कूल में मेरी स्थिति बहुत अस्थिर रहती थी। यदि संयोगवश कोई एक दिन ऐसा बीत जाता था जिस दिन मेरा मज़ाक़ न उड़ाया जाए तो उस दिन मैं बहुत अधिक चैन का अनुभव करता था। किसी विरले दिन ऐसा भी होता था कि रोज़ मेरा मज़ाक़ उड़ाने वाले और मुझे तंग करने वाले बच्चे ही मेरे 'रक्षक' होने का अभिनय करने लगते थे। ऐसे में वे मुझसे कहते थे कि यदि कोई मुझे तंग करे तो मैं उन्हें तुरंत सूचना दूँ, वे तंग करने वाले को 'ठीक कर देंगे'। लेकिन अगले ही दिन इन दबंगों का मन बदल जाता था और वे फिर से मेरे शरीर, बैसाखियों और मेरी विकलांगता को निशाना बनाकर चुटकुले सुनाने लगते थे।

मेरी बैसाखी छीन लेना मुझे तंग करने का उनका सबसे पसंदीदा तरीक़ा था। फिर वे बैसाखी को एक राइफल की तरह पकड़कर एक दूसरे से कहते थे कि हम सबको 'लँगड़े ललित' से डरना चाहिए, क्योंकि उसके पास बंदूक है। यहाँ तक कि स्कूल के अध्यापकों को भी मेरी बैसाखियाँ मनोरंजक लगती थीं। 'उसके पास बंदूक है', 'वो तुम्हें अपने डंडे से मारेगा'— जैसे वाक्य अध्यापकों के मुँह से भी सुनने को मिलते थे। अध्यापक इन बातों को भरी कक्षा में कह दिया करते थे और इससे शह पाकर मेरे सहपाठी अध्यापक द्वारा कही बात को दोहराने लगते थे। सभी छात्रों और अध्यापकों को मेरी बैसाखी बंदूक जैसी क्यों दिखती थी, यह मुझे कभी समझ नहीं आया।

मैं यह भी नहीं समझ सका कि छात्रों ने इस मज़ाक़ को अध्यापकों से सीखा था या अध्यापकों ने छात्रों से सुनकर इसे अपनाया था।

मैंने अपना पूरा स्कूली जीवन डर के साए में बिताया। मैं अन्य छात्रों के साथ नहीं रहना चाहता था, क्योंकि वे हमेशा मेरा मज़ाक़ उड़ाते थे। मुझे अक्सर 'बेचारा', 'लंगड़ा' और 'अपाहिज' जैसे विशेषणों के साथ पुकारा जाता था। प्राइमरी स्कूल में तो बच्चे मेरा मज़ाक़ उड़ाने के लिए बाक्रायदा लय में एक तुकबंदी गाते थे! मुझे पता था कि मेरे सहपाठी इतने

बुद्धिमान नहीं थे कि वे खुद इस तरह की तुकबंदी बना सकें— सो, यह तय बात है कि यह तुकबंदी स्कूल के बाहर के समाज से ही छात्रों ने सीखी थी। यह तुकबंदी इस तरह थी :

“लंगड़दीन, बजाए बीन, हाथ में सोटा, मुँह में लीड”

इस तुकबंदी का कोई अर्थ नहीं है, इसका बस एक ही उद्देश्य है— शिकार का अपमान करना। मुझे ऐसा लगता था जैसे कि यह तुकबंदी पूरी दुनिया को मालूम थी। बाद के दिनों में जब मैं खुद ही चलकर स्कूल आने जाने लगा, तब मुझे गलियों से गुज़रता देखकर बच्चे इसी तुकबंदी को गाते हुए मेरे पीछे-पीछे हो लेते थे। वे पल मेरे लिए अत्यधिक कष्टदायक होते थे और मुझे बेहद शर्मिंदगी महसूस होती थी। आस-पास खड़े सभी लोगों की निगाहें बच्चों की आवाज़ सुनकर मेरी ओर घूम जाती थीं, लेकिन कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि कोई आगे बढ़कर उन बच्चों को रोके। मेरा मज़ाक़ बनाते हुए थक जाने पर ही बच्चे मेरे पीछे आना छोड़ते थे।

इन सबके बीच मेरी प्रतिक्रिया क्या रहती थी? मुझे धीरे-धीरे अनुभव हो गया था कि ऐसी स्थितियों में मेरे लिए सबसे अच्छा यही था कि उन बच्चों की ओर बिना देखे बस चलता रहूँ। मेरी ओर से कोई प्रतिक्रिया न मिलने पर बच्चे मुझे अपेक्षाकृत जल्दी छोड़ देते थे।

प्राइमरी स्कूल में यह सब देख लेने के बाद, आज मेरा मन अध्यापकों के कार्य पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लगाने को करता है। मैं उस प्रक्रिया पर भी प्रश्नचिह्न लगाना चाहता हूँ जिसके ज़रिए अध्यापकों का चुनाव, प्रशिक्षण व नियुक्ति होती है। जहाँ तक मेरा अनुभव है, अधिकांश लोगों के लिए अध्यापन का कार्य किसी भी दूसरे पेशे की तरह ही है। जबकि यह स्पष्ट है कि अध्यापक का काम अन्य सभी पेशों से बिल्कुल भिन्न व अपेक्षाकृत बहुत अधिक ज़िम्मेदारी का होता है। अध्यापक, विशेषकर प्राथमिक स्कूलों के अध्यापक, अपने विद्यार्थियों के जीवन पर गहरी छाप छोड़ते हैं। जैसे एक मूर्तिकार किसी अनगढ़ पत्थर में से एक सुंदर प्रतिमा का निर्माण कर सकता है, उसी तरह अध्यापक भी बच्चों के कोमल मन-मस्तिष्क को तराशकर उनके भविष्य का निर्माण करता है। विद्यार्थी अध्यापकों को अपना आदर्श मानने लगते हैं और अध्यापकों के शब्द व कार्य विद्यार्थियों के मन में लंबे समय तक अमिट रहते हैं।

लेकिन प्रश्न यह है कि हमारे समाज में अध्यापक अपने कार्य को आखिर कितनी गंभीरता से लेते हैं? इसके बारे में मैं बात करूँगा, लेकिन पहले मैं उस प्रक्रिया के बारे में कुछ कहना चाहूँगा जिसके ज़रिए हमारे अध्यापक चुने जाते हैं और जिसके ज़रिए एक आम व्यक्ति के हाथों में सैकड़ों विद्यार्थियों का भविष्य सौंप दिया जाता है।

भारत में बहुत से (मैं अधिकांश कहने से बच रहा हूँ) लोग अध्यापक केवल इसलिए बनते हैं, क्योंकि उन्हें अध्यापक का ‘आसान’ जीवन बहुत आकर्षित करता है। बहुत सारी छुट्टियाँ, रोज़ाना कम घंटे काम करना और समाज में इज़्ज़त के अलावा तनख्वाह भी अच्छी-खासी मिलती है। ये सब बातें लोगों को बी.एड. की डिग्री लेने के लिए आकर्षित करती हैं। मैं कई लोगों को जानता हूँ जिन्होंने यह डिग्री हासिल की हुई है, लेकिन मुझे उनमें वो गंभीरता और ज़िम्मेदारी का एहसास कहीं नहीं दिखता जिसकी अपेक्षा इस डिग्री के धारक से की जाती है।

लोग बी.एड. की डिग्री किसी भी 'शिक्षा की दुकान' से हासिल करने में नहीं हिचकिचाते, क्योंकि उन्हें केवल डिग्री से मतलब है और चयन-प्रक्रिया को भी मूलतः डिग्री से ही मतलब है। इस चयन-प्रक्रिया में रिश्तत और जुगाड़ का ऐसा बोल-बाला रहता है कि कोई यह देखता ही नहीं कि बी.एड. करके कोई व्यक्ति वास्तव में शिक्षक बनने लायक हुआ है या नहीं। पता नहीं कि इस डिग्री कोर्स में शिक्षकों को आदर्श स्थापित करना, नैतिकता का पालन करना, एक अच्छा नागरिक बनना और मानवीय मूल्यों को धारण करना सिखाया जाता है या नहीं। यदि सिखाया भी जाता है तो भी यह स्पष्ट है कि यह सीख अपना काम नहीं कर पा रही है।

स्थिति तब और भी खराब हो जाती है जब व्यक्ति शिक्षक बन जाता है। ऐसे किसी शिक्षक को तो चिराग लेकर ही ढूँढ़ना पड़ेगा जो स्वयं को मनसा, वाचा, कर्मणा से बच्चों के भविष्य के लिए ज़िम्मेदार मानता हो। मैं नाम नहीं बताऊँगा, लेकिन हमारे एक अध्यापक को स्कूल की इमारत के बाहर सड़क पर शराब के नशे में धुत्त पड़ा पाया गया था। उन्हें कोई होश नहीं था कि वह कहाँ हैं। वह पारंपरिक व रचनात्मक सभी तरह की गालियाँ बक रहे थे। मैंने स्वयं उन्हें इस स्थिति में नहीं देखा, लेकिन स्कूल में इस घटना की चर्चा हर कोई कर रहा था। वही अध्यापक कक्षा में भी खूब गालियाँ देते थे और 'कठोर' शिक्षक के तौर पर जाने जाते थे। 'कठोर' से आशय यह नहीं था कि वह सिद्धांतों या आदर्शों के प्रति अडिग थे। इसका अर्थ केवल इतना था कि वह होमवर्क पूरा न करने वाले छात्र की बुरी तरह से पिटाई करते थे। हमारे मन में उनकी इस 'कठोरता' के लिए कोई आदर नहीं था। हमारे मन में उनके प्रति केवल भय था। वह छात्रों को संटी (नीम की लंबी, पतली, लचीली और कच्ची डाली) से पीटा करते थे। जब संटी बच्चों की हथेलियों पर पड़ती थी तो बड़ी तेज़ पीड़ा की लहर बदन में दौड़ जाती थी। संटी बच्चों को 'नियंत्रित' करने के लिए हमारे अध्यापकों का पसंदीदा औज़ार थी।

## भय का अँधेरा

तीसरी कक्षा में ही मैं जगन से पहली बार मिला था। ऐसा नहीं है कि उसका शरीर बड़ा और बहुत मज़बूत था, जगन किसी भी तरह से दबंग नहीं दिखता था... लेकिन वह था दबंग ही। जगन और उसके कुछ दोस्त समाज के एक ऐसे वर्ग से थे जिसमें शिक्षा के प्रति उदासीनता विशेष रूप से अधिक थी। उस वर्ग में केवल माता-पिता ही शिक्षा के प्रति थोड़े-बहुत जागरूक दिखते थे, लेकिन बच्चे तो केवल मौज़-मस्ती के लिए ही स्कूल जाते थे। वही बच्चे बड़े होकर जब स्वयं माता-पिता बन जाते थे तब उन्हें लगता था कि पढ़-लिख लेते तो अच्छा रहता। वे अपने बच्चों को स्कूल भेजते थे ताकि कम-से-कम वे तो पढ़-लिख लें, लेकिन उनके बच्चे फिर वैसे ही निकलते थे। इस तरह हर पीढ़ी शिक्षित और बेहतर नागरिक बनने का भार अगली पीढ़ी

पर डाल देती थी, नतीजा यह कि लंबा समय बीतने के बाद भी समाज के उस वर्ग की स्थिति में कोई अर्थपूर्ण परिवर्तन नहीं होता था। शिक्षा के महत्त्व को हर कोई केवल तब तक ही स्वीकार करता था जब तक कि उसे स्वयं पढ़ने को न कहा जाए।

उस समय मैं स्कूल के मैदान में बनी एक सीढ़ी के पास दो पल रुककर बच्चों को खेलते देख रहा था। सीढ़ी पर एक अन्य छात्र बैठा हुआ था। उस सीढ़ी पर एक ही बच्चा ठीक से बैठ सकता था और मैदान में बैठने की कोई अन्य जगह नहीं थी।

“चल उठ ... मेरे भाई को यहाँ बैठने दे”, जगन एक ‘रक्षक’ की तरह आया और उसने धमकी भरे अंदाज़ में सीढ़ी पर बैठे लड़के से कहा। उस लड़के ने आज्ञा मानते हुए सीढ़ी मेरे लिए खाली कर दी। हालाँकि मुझे इस तरह की बिन-माँगी सहायता कभी भी अच्छी नहीं लगी, लेकिन इस घटना के कारण जगन मुझे पहली नज़र में मित्रवत लगा।

हालाँकि जल्द ही मैंने इस बात को समझ लिया कि जगन जैसे लड़के तुनकमिज़ाज होते हैं। वे किसी की सहायता इसलिए नहीं करते कि उस व्यक्ति को सहायता की ज़रूरत है, बल्कि वे सहायता इसलिए करते हैं ताकि वे खुद को रक्षक, बहादुर, नायक और नेता के रूप में स्थापित कर सकें। इसलिए जगन की वास्तविकता भी मुझसे अधिक दिन तक छिपी नहीं रह सकी और आखिरकार एक दिन जगन से मेरा झगड़ा हो गया।

उस दिन जगन ने मेरी बैसाखियाँ छीन ली और बैसाखियों को राइफल की तरह पकड़कर मेरा मज़ाक़ उड़ाने लगा। वह अक्सर ऐसा करता था। मेरे साथ बच्चों का इस तरह का व्यवहार रोज़ाना की बात थी, इसलिए मैंने इन चीज़ों को सहन करने की आदत डाल ली थी, लेकिन उस दिन जगन ने सीमा ही पार कर दी। जी भरकर मेरा मज़ाक़ उड़ाने के बाद अमूमन बच्चे मेरी बैसाखियाँ मुझे लौटा देते थे, लेकिन उस दिन जगन ने काफ़ी देर तक मेरी बैसाखियाँ मुझे वापस नहीं कीं। वह बैसाखियों से खेलता रहा और मुझे तमाम तरह की बातें कहकर शर्मिंदा करता रहा। आखिरकार मेरे सब्र के बाँध में दरार आ गई।

“मेरी बैसाखियाँ वापस कर दे जगन... नहीं तो मैं मास्टरजी से कह दूँगा”, मैंने गुस्सा होते हुए थोड़ी ऊँची आवाज़ में जगन से कहा।

“सच्ची? लेकिन तू मास्टरजी के पास बिना घोड़ी के जाएगा कैसे?” जगन ने इतराकर उत्तर दिया। मैं नहीं जानता कि बैसाखियों को ‘घोड़ी’ क्यों कहा जाता है, लेकिन मैंने बहुत से लोगों को ऐसा कहते सुना है। मेरी ऊँची आवाज़ सुनते ही जगन के दोस्त उसके आस-पास खड़े हो गए, जैसे अपने समूह के बल का प्रदर्शन करना चाह रहे हों।

मुझे याद नहीं कि जगन की बात सुनते ही मैंने गुस्से में उससे क्या कहा, पर मुझसे रहा नहीं गया। याचना करने की मेरी सीमा समाप्त हो चुकी थी और इस कारण मैंने जगन को कुछ कह दिया। मेरी आँखों में आँसू थे, लेकिन उससे कहीं अधिक मेरा मन रो रहा था। जगन ने मेरी विकलांगता का मज़ाक़ उड़ाते हुए इस सत्य की ओर इशारा किया था कि मैं तो मास्टरजी के पास शिकायत करने भी नहीं जा सकता था। मेरे मन में भरे गुस्से के पास कोई रास्ता नहीं था।

जिससे मैं जगन को समुचित जवाब दे सकूँ। परिणामस्वरूप मेरा गुस्सा असहाय आँसुओं में बदल गया। ऐसे आँसू असंख्य बार मेरी आँखों में आए हैं, लेकिन मैंने बहुत कम इन्हें पलकों के बाहर छलकने दिया है। जो सच था उसके विपरीत मैं लोगों को इस भ्रम में रखना चाहता था कि मैं शारीरिक रूप से कमज़ोर नहीं।

गुस्से से भरे मेरे शब्द सुनते ही जगन नाराज़ हो गया। उसने मुझे बैसाखी से मारा और फिर मेरी बैसाखियों को लेकर चला गया। बैसाखियाँ मेरी निगाह से ओझल हो गई थीं। उस क्षण मैं पंख कटे पंछी की तरह अनुभव कर रहा था। एक-दो मिनट के बाद जगन खाली हाथ वापस आ गया।

“अब देखता हूँ कि तू घर कैसे जाएगा। तेरी घोड़ी तो गई”, उसने आते ही चिल्लाकर मुझसे कहा।

उसके कहे इन शब्दों ने मुझे बेहद डरा दिया, क्योंकि पल भर में ही मेरे मन में कई चित्र दौड़ गए। इन चित्रों में मैंने स्वयं को स्कूल में अकेले बैठे देखा जबकि बाक़ी सब अपने-अपने घर जा चुके थे। मैं बहुत डर गया था, हालाँकि मुझे इस बात की आशा थी कि जगन ने बैसाखियों को तोड़ा नहीं होगा, उसने उन्हें केवल कहीं छिपा दिया है।

“जगन, मेरी बैसाखियाँ वापस कर दे, मैं मास्टरजी से कुछ नहीं कहूँगा”, एक बार फिर से मेरी आवाज़ में याचना लौट आई थी और मैं मन ही मन प्रार्थना कर रहा था कि जगन थोड़ी नरमी दिखाए।

कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं दया की आशा कर रहा था? मैंने इस प्रश्न का उत्तर खोजने की कोशिश कभी नहीं की और न ही अब करना चाहता हूँ।

“अब तुझे घोड़ी नहीं मिलेगी”, जगन ने घोषणा की और वहाँ से चला गया। उसके दोस्त भी उसके पीछे-पीछे चले गए।

कक्षा में जो अन्य छात्र थे उनमें से किसी ने जगन के डर से कुछ नहीं कहा। जब जगन चला गया तो उनमें से कुछ मेरे पास यह बताने आए कि वे जगन को कितना नापसंद करते थे। उन्होंने मुझे दिलासा दिया कि जब मास्टरजी को पता चलेगा तो मुझे बैसाखियाँ वापस मिल जाएँगी। उस दिन हमारी कक्षा के अध्यापक स्कूल नहीं आए थे, इसलिए सब छात्र अपनी मनमानी कर रहे थे। जब एक सहपाठी ने जगन के बारे में दूसरे सेक्शन के अध्यापक को सूचना दी तो उन्होंने जगन को बुलाया और मेरे सामने उसे डाँटने लगे।

अध्यापक डाँट तो जगन को रहे थे, लेकिन ज़मीन में मैं गड़ा जा रहा था। इसकी वजह? इसकी वजह यह कि अध्यापक जगन को यह नहीं कह रहे थे कि उसने कुछ ग़लत किया है, बल्कि वह कह रहे थे कि उसने सताने के लिए ग़लत बच्चे को चुना है।

“यह बेचारा तो पहले ही भगवान का सताया हुआ है, इसे और तंग क्यों करते हो?” अध्यापक जगन को समझा रहे थे।

यह सब सुनते हुए मैं बस ज़मीन की ओर देखे जा रहा था। अध्यापक द्वारा दी गई शाब्दिक

यातना झेलने के बाद मुझे अपनी बैसाखियाँ वापस मिल गई।

उस दिन के बाद से जगन मुझे तंग करने का छोटे-से-छोटा अवसर भी हाथ से नहीं जाने देता था। मैं उसके भय के साए में जीने लगा। शुरू-शुरू में वह धमकी देता था कि वह मेरी बैसाखियाँ तोड़ देगा, मुझे पीटेगा या सीढ़ियों से गिरा देगा। जब कोई देख नहीं रहा होता था तो वह मुझे मारता भी था। अब मैंने इन बातों के बारे में अध्यापक को बताना ही छोड़ दिया था, क्योंकि अध्यापकों को इस बात में कोई रुचि नहीं थी कि मैं स्कूल में किन हालातों में पढ़ रहा था। ऊपर से मुझे अध्यापकों के रवैए से भी डर लगने लगा था, वे हमेशा सबके सामने मुझे कमज़ोर व असहाय बताते रहते थे। इन सबके कारण जगन की मनमानियाँ बढ़ती ही जा रही थीं।

परीक्षाओं के समय जगन जान-बूझकर ठीक मेरे पीछे बैठा। उसे मालूम था कि मैं पढ़ाई में अच्छा था और उससे डरता भी था। इसके उलट वह खुद 'बस किसी तरह पास हो गया' श्रेणी का छात्र और दबंग लड़का था। उसने किताबों और कॉपियों को पूरे साल विश्राम दिया था और अब परीक्षा के समय उसे आशा थी कि वह पीछे बैठकर मेरे उत्तरों की नकल करके आराम से पास हो जाएगा।

उस दिन परीक्षा को आरंभ हुए करीब 10-15 मिनट ही हुए थे कि जगन ने पीछे-से फुसफुसाते हुए मुझसे एक प्रश्न का उत्तर पूछा। मैं उससे गुस्सा तो था ही, अपने डर पर नियंत्रण रखते हुए मैंने उससे कोई बात नहीं की और थोड़ा-सा सरककर अपनी उत्तर-पुस्तिका ठीक से छिपा ली। निगरानी रखने के लिए उपस्थित अध्यापकों की नज़रें बचाते हुए जगन लगातार कोशिश कर रहा था कि किसी तरह मेरी उत्तर-पुस्तिका देख सके। मैंने सोच लिया था कि मैं उसे अपने उत्तर नहीं दिखाऊँगा, इस तरह जगन फ़ेल हो जाएगा और मुझे उससे मुक्ति मिलेगी। जब मैंने उत्तर नहीं दिखाए तो उसने धीमे-धीमे बोलते हुए मुझे मारने-पीटने की धमकियाँ देना शुरू कर दिया। मैंने इस बात की शिकायत अध्यापक से कर दी और अध्यापक ने आकर जगन को चेतावनी देते हुए अपने उत्तर लिखने को कहा। अध्यापक के जाते ही जगन ने फिर से मेरे कान में कहा :

“लंगड़दीन, अब तुझे नहीं छोड़ूँगा। पेपर के बाद हम तुझे कोट पर ले जाएँगे और खूब मारेंगे... और...”

यहाँ मैं शालीनता की वजह से अलग शब्द लिख रहा हूँ। जगन के शब्द तो कुछ अधिक ही सड़कछाप थे। उसके शब्दों ने मुझे भीतर तक बुरी तरह से डरा दिया। 'कोट' एक जगह थी जिसका मैंने केवल नाम सुना था, मुझे यह नहीं पता था कि यह जगह कहाँ पर है। अन्य बच्चे इस जगह के बारे में जो बताते थे उससे मुझे इतना ही पता चला था कि यह झाड़ियों से भरा एक बड़ा-सा इलाक़ा है और वहाँ गंदे लोग तमाम तरह के गंदे काम करते हैं।

आस-पास के लोगों द्वारा ऐसी धमकियों के ज़हरीले साए में न जाने कितने ही बचपन अँधेरे में डूब जाते हैं। बचपन, जो कि निर्बल होता है, बहुत लोग उसका फ़ायदा उठाते हैं। जान-



पहचान के लोगों द्वारा बच्चों (और विशेषकर लड़कियों) का यौन-शोषण किया जाना या उन्हें ऐसा करने की धमकी देते रहना, यह सब समाज में उससे कहीं अधिक होता है जितना आप मानते हैं (या मानना चाहते हैं!) ...जगन की धमकी ने मेरे मन पर गहरा असर डाला। यदि अध्यापकों ने मुझमें यह विश्वास जगाया होता कि मैं उनसे अपनी परेशानियाँ कह सकता हूँ तो मैं उनसे अपने डर की बात कहता भी।

किसी अनजान जगह ले जाए जाने, पीटे जाने और वहाँ बैसाखियों के बिना छोड़ दिए जाने की कल्पना मात्र से मैं आतंकित हो उठा। मैं स्थिति को समझने और निर्णय लेने की कोशिश कर रहा था जबकि जगन मुझसे लगभग सटकर बैठा मुझे लगातार धमकाए जा रहा था। आखिरकार मैंने अपनी बैसाखियों की रक्षा के लिए जगन की बात मान ली और उसे अपने उत्तर दिखा दिए।

इस घटना के बाद से जगन और भी अधिक बेलगाम हो गया। अब वह रोज़ मुझे खींचकर कोट ले जाने, मेरी बैसाखियाँ तोड़ने और मुझे पीटने की धमकियाँ देने लगा; लेकिन ईश्वर की कृपा से, जगन सभी परीक्षाओं के कुल जमा नतीजों में फ़ेल हो गया और मैं उत्तीर्ण हो चौथी कक्षा में पहुँच गया। जब मुझे पता लगा कि जगन मेरी कक्षा में नहीं रहेगा तो मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मुझे उस खुशी का एहसास आज तक याद है, वो आज़ादी की साँस, डर की अँधेरी सुरंग में लंबा समय बिताने के बाद मिली रोशनी की एक किरण... सब याद है।

आज जब उस समय को कई दशक बीत चुके हैं। आप और मैं खुद भी यह प्रश्न कर सकते हैं कि जगन द्वारा मारे-पीटे जाने के बारे में मैंने घर पर किसी को क्यों नहीं बताया। इससे पहले कि मैं उत्तर दूँ, मैं बता दूँ कि स्कूल से मुझे कोई मदद नहीं मिली, इसमें अध्यापक और सहपाठी दोनों शामिल हैं। स्कूल में कोई भी एक अपाहिज बच्चे की व्यथा और उसकी रोज़मर्रा की परेशानियों के बारे में चिंता नहीं करता था। शिकायत करने पर अध्यापक तंग करने वाले बच्चों को डाँट तो देते थे, लेकिन मेरे भय को दूर करने के बारे में कोई क़दम नहीं उठाते थे। वे कुछ नहीं करते थे, क्योंकि उन्हें परवाह नहीं थी। अध्यापकों का काम था कि वे रोज़ स्कूल नामक उस इमारत में आएँ, पढ़ाने के नाम पर समय व्यतीत करें और माह के अंत में अपनी मासिक तनख़्वाह प्राप्त करें। मेरे एक अध्यापक कहा करते थे :

“तुम लोग पढ़ो या मत पढ़ो, मुझे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मैं तो सरकारी टीचर हूँ, मेरी तनख़्वाह तो एकदम पक्की है, पेंशन भी टाइम पर मिलेगी। पढ़ना या न पढ़ना तुम लोगों की मर्ज़ी है। तुम लोग न पढ़ो तो मेरी बला से!”

जगन जैसे बच्चों के बारे में मैंने कभी घर में बात नहीं की। इसके पीछे एक अजीब-सा कारण रहा। मुझे लगता था कि हमारे परिवार में कोई भी इस बारे में कुछ नहीं कर सकता था। अपने अनुभवों के आधार पर मैंने निष्कर्ष निकाला था कि अधिक से अधिक यह होगा कि परिवार के लोग मुझे सुन लेंगे, और बहुत हुआ तो कुछ सांत्वना भी दे देंगे। लेकिन इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ना था। पूरे समाज में ऐसा कोई भी नहीं था जो मेरे भय, शर्मिंदगी और पीड़ा को

समझ सके। मुझे अपने आस-पास ऐसा कोई भी नहीं दिखता था जो मेरे जीवन को जीने लायक बनाने में मदद दे सके। समाज विकलांग व्यक्तियों की ज़रूरतों, कठिनाइयों और भावनाओं के बारे में ज़रा भी चिंतित न पहले था और न ही अब है।

...और मुझे लगता है कि विकलांग बच्चों के प्रति तो हमारा समाज कुछ अधिक ही बेपरवाह है।

## बाबा की वर्कशॉप

उन दिनों मैं बाबा की वर्कशॉप में सोया करता था। बाबा शाम को घर आ जाते थे और अम्मा मुझे गोदी में ले वर्कशॉप पर चली जाती थीं। अधिकांशतः अम्मा और मैं ही वहाँ सोते थे। वर्कशॉप के अंदर एक चारपाई बिछी रहती थी, दिन में बाबा उस पर सुस्ता लिया करते थे और रात में अम्मा और मैं उस पर सो जाते थे। चारपाई के नीचे लकड़ियाँ और औज़ार भरे रहते थे। एक छोटा मटका भी अंदर रखा रहता था जिसमें हम पीने का पानी रखते थे।

उस जगह बिजली नहीं थी, इसलिए अम्मा शाम को वहाँ जाकर ढिबरी जलाती थी। ढिबरी बनाने के लिए राशन में मिले मिट्टी के तेल को खाँसी की दवाई की रंगीन काँच से बनी बोतल में डाल दिया करते थे। फिर किसी पुरानी सूती धोती में से कतरन फाड़कर उसे एक बत्ती के रूप में बँटा जाता था। दवाई की बोतल के ढक्कन में छेद करके उसमें कपड़े की बत्ती पिरोई जाती थी और फिर ढक्कन को बोतल के ऊपर कस दिया जाता था। यही ढिबरी रात में रोशनी का साधन हुआ करती था। ख़ूब सारी कालिख छोड़ता मिट्टी का तेल जलता रहता था और मैं उसकी मंद रोशनी में अपनी किताबों के अक्षर ढूँढ़ने की कोशिश में जुटा रहता था। जब कभी ध्यान ली की ओर जाता तो जाने कितनी ही देर तक मैं उस लौ को देखता रहता...

## पैरों पर बाँधने के लिए कैलिपर

गर्मियों की एक शाम, माँ, पापा और परिवार के अन्य लोग दिन भर की तेज़ गर्मी के बाद चली ठंडी हवा का आनंद लेने के लिए घर की छत पर बैठे थे। सूरज ढल चुका था और रात धीरे-धीरे आसमान से धरती पर उतर रही थी। गोधूलि की अंतिम किरणें पश्चिम के आकाश पर अभी भी सुनहरे पीले-नारंगी की छटाएँ बिखेर रही थीं। अम्मा, किशोर और मैं छत पर पड़ी एक चारपाई

पर बैठे थे और बाक़ी सब लोग छत पर ही आराम से बैठे हुए सामान्य बातचीत में मशगूल थे। हमारे रेडियो सेट पर 'जयमाला' नामक कार्यक्रम चल रहा था जिसमें फ़ौजी भाइयों की पसंद के फ़िल्मी गीत सुनवाए जा रहे थे। स्टूल पर रखा एक टेबल फ़ैन ठंडक को बढ़ा रहा था। टी.वी., कम्प्यूटर, इंटरनेट और मोबाइल की ग़ैर-मौजूदगी कितनी भली थी!

"कल मैं ललित को सफ़रदरजंग अस्पताल ले जाऊँगा", बातचीत के दौरान पापा ने कहा।

"सुबह जितना जल्दी हो सके चले जाना क्योंकि दिन चढ़ते ही अस्पताल में भीड़ बढ़ने लगती है।" अम्मा सलाह देते हुए बोलीं।

मैं यह सब सुन रहा था, लेकिन मुझे कहाँ और क्यों ले जाने की बात हो रही थी यह मैं नहीं जानता था। हालाँकि 'अस्पताल' शब्द से मुझे इस बात का एहसास हो गया था कि इन सबका संबंध पोलियो के इलाज से है। पापा और अम्मा के बीच इस बातचीत ने मुझे असहज कर दिया, क्योंकि मैं किसी अस्पताल या व्यक्ति के पास इलाज के लिए नहीं जाना चाहता था। उस समय मुझे इसका एहसास नहीं था, लेकिन सच यह था कि मैं लगातार चल रहे इलाज से बहुत थक चुका था।

"हाँ, सुबह साढ़े सात बजे के करीब चला जाऊँगा, बस से सफ़रदरजंग पहुँचने में आधा घंटा लगेगा", पापा ने कहा।

जैसे कि यह सब पहले से ही तय हो चुका था, किसी ने इस बारे में बात नहीं की कि मुझे अस्पताल क्यों ले जाया जा रहा है! सो, मैंने स्वयं को माँ के करीब खींचकर उनसे जानकारी माँगी।

जिस कैलिपर को विकलांग लोग अपने पैरों में पहनते हैं, उसे 'कैलिपर' के नाम से कोई नहीं जानता था। हमारे परिवार में सभी लोग, आस-पास के और जान-पहचान के सभी लोग उसे 'जूता' कहते थे। यह बिल्कुल उसी तरह था जैसे कि पोलियो को 'हवा लगना' कहा जाता था। माँ ने मुझे बताया कि अस्पताल में मेरे लिए 'जूता' बनेगा। मुझे इस चीज़ के बारे में कुछ नहीं पता था। इसलिए मैंने अपनी चिंताओं को अस्थायी विराम दिया और किशोर के साथ खेलने में व्यस्त हो गया।

अगले दिन जब मुझे पता लगा कि मुझे स्कूल नहीं जाना है तो मेरा दिल खुशी से भर गया। मैंने सोचा कि चलो आखिरकार अस्पताल जाने का एक फ़ायदा तो हुआ! माँ ने आलू के कुछ परांठे बनाए और उन्हें 'पंजाब केसरी' के एक पुराने अखबार में लपेट दिया। साथ में थोड़ा-सा घर का बना नींबू का अचार भी रख दिया। किसी दिन बाहर जाना हो तो हमारे घर में परांठे और अचार ही साथ बाँधे जाते थे। पापा ने मुझे गोदी में उठाया और परांठों का पैकेट लेकर बस अड्डे की ओर चल पड़े।

महरौली का बस अड्डा हमारे घर से करीब आधा किलोमीटर की दूरी पर गयासुद्दीन बलबन के मक़बरे के ठीक सामने बना हुआ है। जब कभी इलाज के लिए मुझे बाहर ले जाया जाता था तो मुझे हर चीज़ नई ही लगती थी और हर चीज़ को मैं कौतूहल से देखता था।

पापा बस अड्डे के उस गेट के पास खड़े हो गए जहाँ से बसें बाहर निकलती थीं। थोड़ी देर बाद एक बस बाहर आती हुई दिखाई दी। पापा ने ड्राइवर को बस रोकने के लिए इशारा किया।

“राम राम, क्या हाल है भाई परमानंद?” जैसे ही पापा मुझे लेकर बस में चढ़े, ड्राइवर ने उनका अभिवादन किया। ऐसा नहीं है कि डी.टी.सी. के ड्राइवर हमेशा ही इतने विनम्र होते हैं। उस ड्राइवर ने पापा का अभिवादन इसलिए किया क्योंकि पापा डी.टी.सी. के सरोजिनी नगर डिपो में काम करते थे और महरौली की काफ़ी बसों की सर्विसिंग इसी डिपो में होती थी। इसलिए अधिकांश ड्राइवर पापा को जानते थे।

“राम राम, बस भाई सब ठीक है”, पापा ने कहा

“और, कहाँ जा रहे हो?” बस के एक्सेलेटर को धीरे-धीरे दबाते हुए ड्राइवर ने पूछा।

“यह मेरा बेटा है। इसका जूता बनवाने के लिए सफ़दरजंग जा रहा हूँ।”

“अच्छा...ये तो सब कर्मों का खेल है परमा भाई। भगवान की मर्ज़ी के आगे हम क्या सकते हैं”, ड्राइवर ने मुझे देखते हुए कहा।

मुझे नहीं पता कि जब कोई मुझ पर इस तरह का अफ़सोस दिखाता था तो पापा कैसा महसूस करते थे। मेरा अंदाज़ है कि वह थोड़ा-सा असहज ज़रूर हो जाते होंगे, क्योंकि वह जल्द-से-जल्द इस तरह की बातों के दायरे से निकल जाना चाहते थे। उस दिन भी उन्होंने यही किया।

“हाँ भाई”, पापा ने संक्षिप्त उत्तर दिया और मुझे गोदी में लिए बस में एक खाली सीट की ओर बढ़ गए। वह खिड़की के पास वाली एक सीट पर बैठे और मुझे अपने पैरों पर बिठा लिया। मेरे लिए घर और स्कूल से बाहर की हर चीज़ आश्चर्यजनक थी, क्योंकि मेरा जीवन केवल और केवल घर व स्कूल की चहारदीवारी में बीतता था। मुझे याद है कि बस की सीटों पर चढ़ा वो रैक्सीन भी मुझे कितना अचंभित करता था जिस पर उभरे हुए बड़े-बड़े अंग्रेज़ी अक्षरों में डी.टी.सी. लिखा होता था। मैं उन अक्षरों को अपनी उंगलियों से टटोलकर जैसे उनसे पहचान करने की कोशिश करता था। हालाँकि हिंदी माध्यम स्कूल में पढ़ने के कारण उस समय मैं उन अक्षरों को पहचान नहीं पाता था।

सफ़दरजंग अस्पताल के ऑर्थोटिक्स विभाग में ले जाकर मुझे एक टेबल पर लिटाकर मेरी निक्कर उतार दी जाती थी। इसके बाद डॉक्टर एक बड़े-से खाकी कागज़ पर मेरे दोनों पैरों के निशान लेते थे। इस तरह मेरे बिल्कुल पतले पड़ चुके पैरों का ख़ाका कागज़ पर बनाकर नाप लिया जाता था। इन्हीं निशानों के अनुसार धातु की छड़ों को मोड़ा जाता था और कैलिपर बनाया जाता था। कैलिपर एक ऐसा उपकरण होता है जिसे पैर के ऊपर बाँधा जाता है और इससे पाँव मुड़ नहीं पाता। इस उपकरण में बँधे बेजान पैर पर भी शरीर का वज़न लिया जा सकता है।

नाप लेने के करीब दो हफ़्ते बाद पापा फिर से मुझे अस्पताल लेकर जाते और मैं वहाँ कैलिपर को दोनों पैरों पर बाँधकर चलने का अभ्यास करता। अभ्यास के दौरान पता लगी

समस्याओं को ठीक किया जाता। इस तरह करीब बीस-पच्चीस दिन में मेरा कैलिपर तैयार हो जाता था। इस बीच मुझे कई बार अस्पताल जाना पड़ता था। गर्मियों की मेरी आधी छुट्टियाँ तो इसी तरह अस्पताल के चक्कर काटते हुए बीत जाती थीं।

शुरुआत में मेरे दोनों पैरों के लिए कैलिपर बनते थे जिन्हें मैं अपनी पैंट के ऊपर से पहनता था, लेकिन दोनों पैरों में कैलिपर बाँधकर बैसाखियों के साथ चलना मेरे लिए बेहद मुश्किल था और इस तरह सीढ़ियाँ चढ़ पाना तो लगभग असंभव था। ऑर्थोटिक्स विभाग वालों का कहना था कि मुझे दोनों पैरों में कैलिपर बाँधने चाहिए, लेकिन मेरे लिए यह व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था। धीरे-धीरे डॉक्टर भी मान गए कि कैलिपर एक ही पैर में व्यावहारिक था।

कैलिपर बाँधकर चलना मेरे लिए कभी भी सरल नहीं रहा। जितनी बड़ी समस्या पैरों में ताक़त न होना थी, उतनी ही बड़ी समस्या मेरी निचली कमर और कूल्हों की कमज़ोर माँसपेशियाँ भी थीं। इन माँसपेशियों में ताक़त न होने के कारण मेरे शरीर में संतुलन की बहुत कमी रहती थी। कैलिपर केवल इतना कर पाते थे कि वे शरीर का भार पड़ने पर घुटने को मुड़ने से रोक लें, लेकिन वे संतुलन को बेहतर बनाने के बजाय और अधिक बिगाड़ देते थे। मैं बिना कैलिपर के खड़े होने पर अधिक संतुलन और आत्मविश्वास महसूस करता था। सो, कुल मिलाकर स्थिति यह थी कि कैलिपर के साथ मैं संतुलन नहीं बना पाता था और कैलिपर के बिना पैरों पर बोझ नहीं ले पाता था...यानी एक ओर कुआँ तो दूसरी तरफ़ खाई थी!

## असामान्य से असाधारण तक

जब मैं चौथी कक्षा में पहुँचा तो मेरे सामने एक और चुनौती मुँह बाए खड़ी थी। चौथी कक्षा का कमरा इमारत की दूसरी मंज़िल पर था। तीसरी कक्षा के लिए एक वर्ष तक मैं पहली मंज़िल पर गया था, लेकिन इस पूरे वर्ष के दौरान मैंने दूसरी मंज़िल की सीढ़ियों को छुआ भी नहीं था। मेरा मन तो दूसरी मंज़िल पर जाने का बहुत होता था, क्योंकि बच्चे कहते थे कि ऊपर से दूर तक दिखाई देता है; भूल-भुलैया और कुतुब मीनार भी दिखती हैं। यह सब देखने की बाल-सुलभ उत्सुकता को मैंने वर्ष भर दबाए रखा था, क्योंकि मेरे लिए सीढ़ियाँ चढ़ना बहुत ही मुश्किल, डरावना और खतरनाक काम था।

मुझे पता था कि चौथी कक्षा का कमरा दूसरी मंज़िल पर है। इसलिए तीसरी कक्षा की वार्षिक परीक्षाएँ आते-आते मैं इस बात को लेकर परेशान हो उठा कि मैं दूसरी मंज़िल पर मैं कैसे जा पाऊँगा। इस कारण कई बार तो मेरे मन में तीसरी कक्षा में ही जानबूझकर फ़ेल हो जाने तक के ख़याल भी आए थे।

चौथी कक्षा के पहले दिन जब मैं स्कूल पहुँचा तो पहली मंज़िल तक तो मैं रोज़ की तरह

लोगों की नज़रें बचाते पहुँच गया, लेकिन दूसरी मंज़िल तक जाने वाली सीढ़ियों पर जब मैंने घिसटकर चढ़ना शुरू किया तो यह मुझसे नहीं हो पाया। दूसरी मंज़िल की सीढ़ियाँ और अधिक खड़ी, अधिक ऊँची और संकीर्ण थीं। अपने हाथों की सारी ताक़त लगाकर भी मैं खुद को ऊपर की ओर नहीं खींच पा रहा था। इस खींचतान में मेरा संतुलन भी बिगड़ रहा था और मेरे सीढ़ियों से लुढ़क जाने का खतरा था। फिर भी मैं किसी तरह सीढ़ियाँ चढ़ता रहा। किशोर मेरी बैसाखियाँ पकड़े मेरे साथ-साथ था।

दूसरी मंज़िल पर पहुँचते-पहुँचते मैं बहुत अधिक थक और डर चुका था। मैंने जान लिया था कि दूसरी मंज़िल तक रोज़ाना चढ़ना संभव नहीं होगा। मुझे थकान और उसके कारण शरीर में होने वाले दर्द की चिंता नहीं थी, इस बात का भी डर नहीं था कि यदि मैं सीढ़ियों से गिर गया तो मुझे चोट लग सकती है, मुझे डर इस बात का था कि अगर मैं गिर गया तो सब मेरा मज़ाक़ उड़ाएँगे। बच्चों को मुझे चिढ़ाने का एक और बहाना मिल जाएगा।

चौथी कक्षा के पहले दिन किसी तरह दूसरी मंज़िल पर पहुँचकर मैं चौथी कक्षा के कमरे में जा बैठा। कुछ देर बाद नीचे खेल के मैदान में हो रही प्रार्थना-सभा समाप्त हो गई और चौथी कक्षा के मेरे सहपाठी भी कमरे में आ गए। मैं उस दिन बहुत डरा हुआ था कि मुझे पूरे एक साल इसी तरह इन सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ेगा।

दूसरी मंज़िल की सीढ़ियों पर खुद को घसीटना मेरे बस की बात नहीं थी। इसलिए आखिरकार, बहुत सकुचाते हुए, मैंने 'आधी छुट्टी' के दौरान अपने अध्यापक से कह दिया कि मैं कल से स्कूल नहीं आऊँगा क्योंकि मैं ये सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकता। अध्यापक ने प्रिंसिपल से इस बारे में बातचीत की और प्रिंसिपल महोदय ने यह निर्णय लिया गया कि चौथी कक्षा को पहली मंज़िल पर बने पाँचवी कक्षा के कमरे में लाया जाएगा और पाँचवी कक्षा दूसरी मंज़िल पर लगेगी ताकि मुझे दूसरी मंज़िल पर न जाना पड़े। प्रिंसिपल महोदय शुरू से ही मेरी परेशानियों को देखते आ रहे थे। शुरुआत में उन्होंने ही मुझे घर पर रह कर पढ़ने की अनुमति दी थी। मंज़िल बदलने के उनके इस निर्णय से मैं बहुत खुश था।

\*\*\*

अपने कई सहपाठियों के लिए मैं पहले से ही मज़ाक़ का विषय था, लेकिन जब मैं चौथी कक्षा में पहली बार कैलिपर पहनकर स्कूल पहुँचा तो बच्चों को मुझे छेड़ने का एक और बहाना मिल गया। मैं एक ही पैर पर कैलिपर बाँधकर स्कूल गया था। कैलिपर को पैट के ऊपर से बाँधना पड़ता था। बच्चों को कैलिपर में बँधा मेरा पाँव रोबोट के पाँव की तरह लगता था। कैलिपर चूँकि घुटने को मुड़ने नहीं देता था, इसलिए चलते समय मुझे पाँव को काफ़ी घुमाकर आगे बढ़ाना होता था— इससे मेरी चाल में बहुत अंतर आया। अब बच्चे मेरी चाल का भी मज़ाक़ उड़ाने लगे थे। अक्सर बच्चे मेरी चाल की नकल करते हुए देखे जा सकते थे। यह सब देखकर मैं रो पड़ता था। शायद मुझे रूलाने के लिए ही बच्चे यह सब तमाशा करते थे।

\*\*\*

मेरे सामने समस्याएँ और चुनौतियाँ हर रोज़ नए-नए रूप धरकर सामने आती थीं। स्कूल में

बच्चों को जब टॉयलेट जाना होता था तो वे स्कूल के बहुत गंदे टॉयलेट में किसी तरह चले जाते थे, लेकिन यदि मुझे टॉयलेट जाने की ज़रूरत होती तो मेरे लिए यह संभव नहीं था कि मैं स्कूल के टॉयलेट में भरी गंदगी से खुद को बचाते हुए टॉयलेट का प्रयोग कर सकूँ। इसलिए जहाँ तक संभव होता मैं अपनी इस प्राकृतिक ज़रूरत को तब तक रोके रहता, जब तक स्कूल की छुट्टी न हो जाए। लेकिन प्रकृति को हमेशा नहीं हराया जा सकता...कभी-कभी टॉयलेट जाने की ज़रूरत इतनी तीव्र होती थी कि मेरे पास वापस घर आने के अलावा कोई रास्ता न रहता। ऐसे में मैं बहुत जल्दी-जल्दी बैसाखियाँ आगे टिकाते हुए जितना तेज़ हो सके उतना तेज़ चलता था। ऐसे चलने से मैं गिरता भी खूब था। प्राकृतिक दबाव और मेरे पोलियोग्रस्त पैरों के बीच यह एक प्रतियोगिता होती थी...कई बार मैं इस प्रतियोगिता में हारा भी...और जब भी हारा तो खुद पर बहुत शर्म भी आई...लेकिन मैं क्या करता? पोलियो ने मुझे ऐसी परिस्थितियों का सामना करने लायक नहीं छोड़ा था। जो काम अन्य बच्चे स्कूल में आराम से कर सकते थे, वही काम मेरे लिए एक बड़ी चुनौती का रूप धर लेता था। चुनौतियों से मैं केवल जूझ ही सकता था...और मैं बस यही करता था।



मैं नव कुमार चक्रवर्ती से पहली बार शायद चौथी कक्षा में ही मिला था। मोटा चश्मा पहनने वाले नव का भी कक्षा के अन्य बच्चे मज़ाक़ बनाते थे। गले और स्वरतंत्र की किसी समस्या के कारण नव की आवाज़ स्पष्ट नहीं थी। नव जो बोलता था वह आसानी से समझ में नहीं आता था और इसलिए बच्चे तो उसका मज़ाक़ उड़ाते ही थे, कई बार अध्यापक भी प्रत्यक्ष-परोक्ष-रूप से उसकी अक्षमता का उपहास करते थे। बच्चे तो ख़ैर बच्चे थे, हमारे अध्यापकों को भी नव का नाम ठीक से उच्चारित करना नहीं आता था। परिणामस्वरूप सभी उसे 'नेवा' कहकर पुकारते थे। चिढ़ाते समय बच्चे जिस तरह मुझे 'अबे ओ लँगड़े' कहकर बुलाते थे, उसी तरह बच्चे नव को 'अबे ओ गेंगले' कहकर पुकारते थे। 'गेंगला' शब्द का कोई अर्थ नहीं है, यह शब्द बच्चों ने नव की आवाज़ को कॉपी करने के लिए ईजाद किया था।

हमारे स्कूल में बच्चों की वह दुनिया पूरी तरह से निरंकुश थी, और उस दुनिया में सामान्य से ज़रा भी अलग होने की बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ती थी। यह कीमत मैंने और नव ने चुकाई। नव की विकलांगता तो फिर भी तब तक छुपी रहती थी, जब तक उसे बोलने की ज़रूरत न पड़े। उसे गली-मोहल्ले-बाज़ार-सड़क इत्यादि पर आने-जाने में कोई परेशानी नहीं होती थी, लेकिन मुझे अपने असामान्य होने की कीमत हर जगह चुकानी पड़ती थी। मैं कहीं छुप नहीं सकता था। मैं हर जगह घूरती निगाहों और उपहास का निशाना बनता था।

मैं असामान्य था...और मुझे असाधारण बनना था। असामान्य से असाधारण की राह अविश्वसनीय रूप से कठिन होती है। मेरे लिए न केवल राह कठिन थी, बल्कि एक समस्या यह भी थी कि समाज ने 'असामान्य' को तो बहुत आसान तरीके से परिभाषित किया हुआ था : "जो सामान्य न हो वो असामान्य है..." लेकिन 'असाधारण' की कोई तय परिभाषा नहीं है। सो,

न केवल मेरी राह मुश्किल थी, बल्कि मेरी मंज़िल का भी कोई अता-पता नहीं था।

मैंने अपने मन में बस इतना संकल्प ले लिया था कि एक दिन समाज में बराबरी हासिल करके दिखानी है। जो बच्चे मेरा मज़ाक़ उड़ाते थे, मुझे एक दिन वहाँ पहुँच जाना है जहाँ वे मेरा मज़ाक़ न बना सकें। मेरे लिए असाधारण की यही परिभाषा थी।

यह एक ऐसे संकल्प की शुरुआत थी जिसे मैंने अपने जीवन में रोज़ मंत्र की तरह उच्चारित किया...एक मंत्र— जो मेरा जीवन, मेरा लक्ष्य और मेरे अस्तित्व का उद्देश्य बन गया।

मैं असामान्य था...और मुझे असाधारण बनना था।

आहत मन, विकृत शरीर, अस्तित्व बना है वेदना

फिर भी जीत मैं जाऊँगा, विश्व तुम बस देखना

उपहास मेरा तुम क्यों करते हो, ज़रा तो सोचो

देह प्रकृति की देन, मैंने लिखा विधि का लेख ना

—ललित कुमार

## सब चिड़ियाघर गए...बस मैं नहीं

एक दिन स्कूल में घोषणा हुई कि अगले हफ़्ते सब बच्चों को बस में बिठाकर लालकिला, चिड़ियाघर और राजघाट घुमाने ले जाया जाएगा। स्कूलों में मेरी पढ़ाई के बारह वर्षों में यही एक मौक़ा था जब स्कूल की ओर से बच्चों को बाहर घुमाने ले जाया गया था, लेकिन मैं इस इकलौते अवसर पर भी बाहर घूमने नहीं जा सका।

घोषणा होते ही बच्चे खुश हो गए और बेसब्री से उस दिन का इंतज़ार करने लगे, जब वे बस में बैठकर घूमने के लिए जाने वाले थे। मेरे मन में भी आशा की एक हल्की-सी किरण थी कि मैं भी चिड़ियाघर देखने जाऊँगा, लेकिन मन के किसी न किसी कोने में यह अंदेशा भी था कि मास्टरजी मुझे साथ नहीं ले जाएँगे। मेरे साथ पढ़ने वाले बच्चों ने भी मुझे कह दिया कि मुझे चिड़ियाघर नहीं ले जाया जाएगा।

मुझे ले जाएँगे या नहीं, इस बारे में मैंने किसी भी मास्टरजी से सीधे कुछ नहीं पूछा और न ही किसी सहपाठी से इस बारे में बात की। जब अन्य बच्चे इस भावी यात्रा के बारे में बात कर रहे होते थे, तब मैं उनके साथ बातचीत में ज़रूर जुड़ जाता था। मैं स्वयं को उतना ही खुश और



उत्साहित दिखाता था जितना कि अन्य बच्चे थे, लेकिन मन ही मन मैं मास्टरजी के उस उत्तर को टालने की कोशिश कर रहा था जो मुझे आखिरकार मिलना ही था। मुझे पता था कि मुझे साथ नहीं ले जाया जाएगा, लेकिन मैं यह नहीं चाहता था कि कोई भी इस बात पर मुहर लगाए। बाहर घूमने जाना मेरे लिए एक सुंदर सपना था और मैं उस सपने का आनंद तब तक लेना चाहता था जब तक वह चूर न हो जाए।

जिस दिन घूमने जाना था उस दिन सब बच्चों को समय पर स्कूल पहुँचने के लिए कहा गया। नौ बजे स्कूल के बाहर एक बस को आना था और उसी में सब बच्चे और अध्यापकगण बैठकर घूमने जाने वाले थे। मैं रोज़ाना की तरह समय पर स्कूल में चौथी 'बी' के कमरे में पहुँच गया था। प्रार्थना के बाद अन्य सभी बच्चे और मास्टरजी भी कक्षा में आ गए।

"हम आज तुम सबको लालकिला, चिड़ियाघर और राजघाट घुमाने ले जा रहे हैं। स्कूल के बाहर एक बस खड़ी है उसी में बैठकर हम सब घूमने जाएँगे। सब बच्चों को हर जगह लाइन बनाकर चलना है और कोई शोर नहीं करेगा। राजघाट गाँधीजी की समाधि है...", मास्टरजी इस तरह बच्चों को यात्रा के बारे में बताने लगे और यह समझाने लगे कि क्या करना है और क्या नहीं करना है।

"चलो, अब सब लाइन बनाकर नीचे जाओ और बस के पास पहुँचो। सब लाइन में रहना। कोई इधर-उधर नहीं भागेगा, समझे?" मास्टरजी ने हिदायत दी।

सब बच्चे उठकर जाने लगे, लेकिन मैं नहीं उठा। हालाँकि मास्टरजी ने मुझसे अभी तक कुछ कहा नहीं था, लेकिन जाने क्यों मुझे एहसास था कि नीचे जाकर बस में बैठने के लिए मुझे नहीं कहा गया था। जब तक्ररीबन सभी बच्चे कक्षा से निकल गए और मास्टरजी भी कमरे से बाहर निकलने को हुए तो आखिरकार मैंने निर्णय लिया कि अपनी किस्मत आजमाकर देखी जाए। हो सकता है मास्टरजी मुझे भी जाने दें। मैंने अपनी बैसाखियों को दीवार के साथ टिकाकर उठने की कोशिश की कि तभी मास्टरजी की आवाज़ आई।

"तुम नहीं, तुम रहने दो। तुम चल तो पाओगे नहीं। तुम रहने दो", मास्टरजी ने कहा।

मेरा दिल धक्क से रह गया। मैं हफ़्ते भर से जिस बात को न सुनने की प्रार्थना और आशा कर रहा था, वही बात मैं सुन रहा था।

"ठीक है मास्टरजी", मैंने धीमी-सी आवाज़ में कहा और दीवार के सहारे बैठ गया। मास्टरजी ने और कुछ नहीं कहा। मेरी ओर देखा भी नहीं और वह कमरे से बाहर निकलकर नीचे बस की ओर चले गए। मैं कमरे में अकेला रह गया था।

उस दिन सब लोग मुझे अकेला छोड़कर घूमने-फिरने चले गए थे...उस दिन मैं स्कूल में रोया...खूब रोया। मन के दर्द से तड़पकर रोना मेरे जीवन का अंग बन चुका था।

मैं ठीक से चल नहीं सकता था, इसलिए मुझे पीछे छोड़ दिया गया था। तब मैंने भी अपने मन में ठान लिया कि एक दिन मैं इतनी दुनिया देखूँगा जितनी हमारे उस पूरे स्कूल में किसी ने नहीं देखी होगी। न किसी छात्र ने, न किसी अध्यापक ने और न ही प्रिंसिपल महोदय ने...

मैंने ठान लिया कि मेरी बैसाखियाँ वहाँ तक जाएँगी, जहाँ तक मेरे सहपाठियों के स्वस्थ पैर भी उन्हें नहीं ले जा सकेंगे।

मुश्किल लक्ष्यों को ठान लेना भी मेरे जीवन का अंग बन चुका था। मैं नहीं जानता था कि ये लक्ष्य मैं कैसे पूरे करूँगा। कौन-सी राह मेरे द्वारा तय की गई मंज़िलों तक पहुँचती थी, इसका मुझे ज़रा-सा भी अंदाज़ नहीं था।

मैं बिना किसी हथियार के युद्ध पर निकल पड़ा था।

## रोल मॉडल

मुझे महान लोगों के जीवन के बारे में जानने की उत्सुकता रहती थी। वे कैसे जिए, उन्होंने क्या-क्या किया, कौन-सी कठिनाइयाँ उनके सामने आईं...मैं यह सब जानना चाहता था। चौथी कक्षा की हिंदी की किताब में मैडम क्यूरी के बारे में एक पाठ था। इस पाठ में लिखी एक पंक्ति मुझे अभी भी याद है : नन्ही बच्ची मारिया अपने पिता की अलमारी में रखी रसायनों की बोतलों और अन्य उपकरणों को एक तिपाई पर चढ़कर उत्सुकता से देख रही थी। यही छोटी-सी बच्ची मारिया आगे चलकर मैडम क्यूरी के नाम से प्रसिद्ध हुई। वह पहली महिला थीं जिन्हें नोबेल पुरस्कार मिला और वो भी दो बार! मैडम क्यूरी अभी तक एकमात्र महिला हैं जिन्हें दो बार नोबेल मिला और वह अभी तक एकमात्र व्यक्ति हैं जिन्हें विज्ञान के दो अलग-अलग क्षेत्रों में नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसी तरह एक अन्य पाठ थॉमस एडिसन के बारे में भी था कि किस तरह उन्होंने बिजली के बल्ब का आविष्कार किया। एक पाठ जगदीश चंद्र बोस के बारे में था जिन्होंने रेडियो का आविष्कार किया और यह बताया कि पौधे किस तरह प्रतिक्रिया करते हैं। मैंने प्रोफ़ेसर सी.वी. रमन के बारे में भी पढ़ा।

ये सभी वैज्ञानिक और आविष्कारक मेरे पहले रोल मॉडल थे। इन्हीं व्यक्तियों के बारे में पढ़कर न केवल विज्ञान के विषय में मेरी रुचि जागी, बल्कि स्वयं भी एक वैज्ञानिक बनने की तीव्र इच्छा ने मन में जन्म लिया। वैज्ञानिक होने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि आप प्रयोगशालाओं में सफ़ेद कोट पहनकर काम करें। वैज्ञानिक कोई पद या उपाधि नहीं, बल्कि एक सोच होती है। यदि आपकी सोच वैज्ञानिक है— तर्क, शोध और सुबूत पर आधारित है तो आप भी वैज्ञानिक हैं।

## टेलीविज़न दर्शन

वर्ष 1984 की शुरुआत में हमारे घर पहली बार टी.वी. आया। इससे पहले हम बच्चे कभी-कभार पड़ोसियों के घर जाकर टी.वी. देख लिया करते थे। माँ-पापा को लगा कि एक टी.वी. ले ही लेना चाहिए ताकि बच्चों को इधर-उधर न जाना पड़े। इसलिए टी.वी. खरीद लिया गया।

टेक्स्ला कंपनी का यह ब्लैक एंड व्हाइट टी.वी लकड़ी के एक बॉक्स में बंद रहता था। शटर की तरह दो हिस्सों में खुलने वाले इस बॉक्स के दरवाजों पर सनमाइका लगा था। खोलने पर ये दरवाजे बॉक्स में पीछे की ओर रोल हो जाते थे और टी.वी. स्क्रीन सामने आ जाती थी। टी.वी. पर एक नॉब चैनल बदलने के लिए, एक बटन स्विच ऑन और स्विच ऑफ़ करने के लिए तथा एक बटन आवाज़ को नियंत्रित करने के लिए लगा था। टी.वी. के साथ एक एंटीना भी आया था जिसे घर की छत पर किसी ऐसी जगह लगाया जाता था, जहाँ से वह ठीक से सिग्नल पकड़ सके। एंटीना, नीचे कमरे में रखे टी.वी. सेट से एक चपटी तार के ज़रिए जुड़ता था। मुझे याद है कि एंटीना को कभी तेज़ हवा घुमा देती थी और कभी बंदर उसे मोड़ देते थे। इसलिए बार-बार छत पर जाकर एंटीना को सही दिशा में घुमाकर सेट करना टी.वी. देखने के शौक का एक अहम हिस्सा था। सिग्नल ठीक न मिलने पर सफ़ेद और काले हज़ारों बिंदु (जिन्हें हम 'झिलमिल' कहते थे) सर्र-सर्र-सर्र की आवाज़ के साथ स्क्रीन पर नाचने लगते थे और तस्वीर दिखाई नहीं देती थी।

शुरुआत के दिनों में चैनल बदलने वाली नॉब आराम के अलावा और कुछ नहीं करती थी, क्योंकि उस समय केवल दूरदर्शन ही एकमात्र चैनल उपलब्ध था। सो, चैनल बदलने का कोई प्रश्न ही नहीं था। शाम पौने छह बजे से शुरू हो जाने वाली लंबी बीप और ठीक छह बजे दूरदर्शन की कुछ उदासी भरी ट्यून का शुरू होना, आज यह सब कहीं खो गया-सा लगता है। दूरदर्शन के प्रतीक-चिह्न का धीरे-धीरे घूमते चक्रवात से निर्मित होना और फिर उसके नीचे 'सत्यम शिवम सुंदरम' का प्रकट होना, साप्ताहिकी, कृषि दर्शन, चित्रहार और इतवार की सुबह नाटकों व शाम को फ़िल्म का इंतज़ार...हर कार्यक्रम में एक खिंचाव-सा था, टी.वी. देखने की एक ललक थी। हर कार्यक्रम को देखना त्यौहार मनाने जैसा लगता था। इतवार की शाम फ़िल्म आने से पहले ही घर के सारे काम निपटा लिए जाते थे।

रामानंद सागर द्वारा निर्मित धारावाहिक 'रामायण' के प्रसारण के दौरान पूरा भारत ठप्प पड़ जाता था। हर चीज़ रुक जाती थी। इस धारावाहिक का लोगों पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि बहुत से लोग बाक्रायदा नहा-धोकर ही इस धारावाहिक को पूरे भक्ति-भाव से देखते थे। बिजली विभाग के कर्मचारियों की हिम्मत नहीं होती थी कि रामायण के प्रसारण के दौरान बिजली काट लें। यह धारावाहिक सुनहले पर्दे पर आया पहला धार्मिक सीरियल था और रामानंद सागर ने इसे बनाया भी बहुत खूब था। आस्था के देश भारत को इस धारावाहिक ने कुछ ऐसे प्रभावित किया जैसे आज तक कोई अन्य फ़िल्म या टी.वी. कार्यक्रम नहीं कर पाया है। किसी गाँव या मोहल्ले में यदि एक ही घर में टी.वी. होता था तो रामायण के समय उस घर के दरवाजे जनता के लिए खोल दिए जाते थे, और सैकड़ों की संख्या में लोग एक ही स्क्रीन पर रामायण

देखते थे। इस धारावाहिक में राम का अभिनय करने वाले अरुण गोविल, सीता बनी दीपिका चिखलिया, लक्ष्मण बने सुनील लाहिरी और हनुमान बने दारा सिंह लोगों के लिए आम इंसान नहीं बल्कि भगवान के समान हो गए थे। लोग उनकी तस्वीरों की पूजा करने लगे थे। ऐसा माना जाता है कि उस समय रामायण धारावाहिक को करीब दस करोड़ लोग देखते थे।

बच्चों का एक धारावाहिक 'स्टोन बॉय' भी दूरदर्शन पर आता था। मॉरीशस से जुड़ी इस कहानी में एक बच्चा था जो परियों के श्राप से पत्थर बन गया था। धारावाहिक को देखते-देखते मुझे लगने लगा कि हो सकता है 'स्टोन बॉय' वास्तव में हो! मैं स्टोन बॉय से 'मिलना' चाहता था। मन करता था कि काश मैं कभी स्टोन बॉय को वास्तव में देख सकूँ। हालाँकि उस समय मेरे लिए यह सोचना भी असंभव था कि मैं मॉरीशस जा सकता हूँ। लेकिन कोशिशें रंग लाती हैं... भविष्य में एक दिन ऐसा भी आया जब मैं मॉरीशस पहुँचा और मैंने पहाड़ी पर रखे स्टोन बॉय नामक उस पत्थर को देखा। जब मैं स्टोन बॉय की तस्वीरें अपने कैमरे से खींच रहा था तो मेरे लिए वह एक भावुक क्षण था।

इनके अलावा भी दूरदर्शन के दिनों में बहुत-से यादगार कार्यक्रम प्रसारित हुए : 'हम लोग', 'बुनियाद', 'गुल-गुलशन-गुलाफ़ाम', 'सांझा चूल्हा', 'स्पेस सिटी सिग्मा', 'महाभारत', 'द ग्रेट मराठा', 'कच्ची धूप', 'फुलवंती', 'बाबाजी का बाइस्कोप', 'भारत : एक खोज', 'चुनौती', 'उड़ान', 'दाने अनार के', 'नुक्कड़', 'मिट्टी के रंग', 'देख भाई देख', 'फ्लॉप शो', 'फ़ौजी', 'मिस्टर योगी', 'करमचंद', 'कथा सागर', 'मालगुडी डेज़', 'क़ानून', 'शांति', 'मेरी आवाज़ सुनो', 'नींव', 'मुल्ला नसरुद्दीन', 'रजनी', 'सुरभि', 'श्रीमान श्रीमती', 'सिंहासन बत्तीसी', 'विक्रम और बैताल', 'परख', 'पलाश के फूल', 'वागले की दुनिया', 'ये जो है ज़िन्दगी'...सूची बहुत लंबी है। ये तमाम धारावाहिक आज भी यादों में बसे हैं!

केवल धारावाहिक ही नहीं, दूरदर्शन की और भी बहुत-सी बातें मन में छपी हुई हैं। समाचार वाचक सलमा सुल्तान, शम्मी नारंग, मीनू तलवार, वेद प्रकाश, सरला माहेश्वरी आदि उस समय फ़िल्मी सितारों से कम नहीं थे। दूरदर्शन पर आने वाले विज्ञापनों की पंक्तियाँ हम आज तक दोहराते हैं : 'लेकिन एक नहीं छह, पूरे घर के बदल डालूँगा', 'खाओ गगन, रहो मगन', 'जो ओके साबुन से नहाए, कमल-सा खिल जाए', 'सबकी पसंद निरमा', 'हॉकिन्स की सीटी बजी', 'राजू तुम्हारे दाँत तो मोतियों जैसे चमक रहे हैं', 'पामोलिव दा जवाब नहीं', 'जब मैं छोटा लड़का था', 'हाजमोला सर!', 'चल मेरी लूना', 'स्वाद भरे शक्ति भरे पारले जी', 'डीकरा भूलतों नई ईसीई बल्ब लाव्जो'...और इनके अलावा 'मिले सुर मेरा तुम्हारा', 'गूँजे बनकर देशराग', 'एक चिड़िया अनेक चिड़िया'...जैसे गीत व लघु फ़िल्में फिर दोबारा नहीं बन पाईं!

दूरदर्शन पर आने वाले सप्ताह के कार्यक्रमों का विवरण देने वाले कार्यक्रम का नाम था 'साप्ताहिकी'। यह शायद गुरुवार को आता था। 'साप्ताहिकी' देखते हुए लोग कॉपी पर कार्यक्रम नोट करते जाते थे और कार्यक्रम के अंत में इतवार को आने वाली फ़िल्म के नाम की घोषणा सुनने के लिए तो घर के सारे सदस्य टी.वी. के सामने आ जाते थे।

## “तुम्हें अंग्रेज़ी नहीं आती, तुम तो गँवार हो”

हमारे घर से कुछ दूरी पर दूसरे मोहल्ले में एक समृद्ध परिवार रहता था। आस-पास के अधिकांश लोगों के मुक़ाबिले यह परिवार आर्थिक और सामाजिक रूप से कहीं अधिक सक्षम था। परिवार के लोग काफ़ी पढ़े-लिखे थे। इसी परिवार में मेरी ही उम्र का एक लड़का भी था।

उस दिन शाम के वक्त मैं घर के दरवाज़े पर बैठा बाहर गली में भागते-दौड़ते-खेलते बच्चों को देखकर खुश हो रहा था। तभी ये सब बच्चे खेल-खेल में दूर चले गए और मेरी नज़र से ओझल हो गए। उन्हें खेलते देखने की चाह को मैं दबा नहीं सका और उसी दिशा में चारों हाथ-पैरों पर चल पड़ा जिधर वे बच्चे गए थे। कुछ दूर मुझे बच्चे खेलते दिख गए और मैं वहीं सड़क पर बैठा उन्हें देखने लगा। वहाँ कुछ और बच्चे भी खेल रहे थे जो हमारे घर से थोड़ी दूरी पर बने घरों से थे। उन्हीं बच्चों में वह लड़का भी था जिसका मैंने ऊपर जिक्र किया। मैं देख रहा था कि वह लड़का अन्यो के मुक़ाबले दबंग था। वह जिन बच्चों के साथ खेल रहा था, उन्हें वह धक्का दे-देकर गिरा रहा था। इस तरह के बर्ताव के कारण वह मुझे अच्छा नहीं लग रहा था।

अचानक वह लड़का खेलते-खेलते मेरे पास आकर बैठ गया और उसने पूछा, “व्हाट इज़ युअर नेम?”

मुझे उस समय अँग्रेज़ी का क-ख-ग भी नहीं आता था। मुझे यह भी नहीं पता था कि अँग्रेज़ी में क-ख-ग की जगह ए-बी-सी होती है।

“क्या?” उसकी बात न समझ पाने के कारण मैंने पूछा।

यह सुनकर उस लड़के के चेहरे पर शैतानी भरी मुस्कान आ गई और उसने ज़ोर से अपना प्रश्न दोहराया, “व्हाट इज़ युअर नेम?”

मैं दुविधा के भाव लिए चुप बैठा रहा। उस लड़के ने अपना प्रश्न फिर दोहराया।

“तुम तो गँवार हो, हिंदी स्कूल में पढ़ते हो। तुम्हें कहाँ से इंग्लिश आएगी!” मेरी ओर से जवाब न पाकर उस लड़के ने ताना मारा।

यह कटाक्ष मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा, लेकिन मैं कुछ नहीं कर सकता था। यह सच था कि मुझे अँग्रेज़ी नहीं आती थी। हमारे परिवार के शैक्षणिक इतिहास और हमारे मित्र-रिश्तेदारों-पड़ोसियों व जान-पहचान के लोगों के शैक्षिक स्तर को देखते हुए इस बात की संभावना भी न के बराबर ही लगती थी कि जीवन में मैं कभी अँग्रेज़ी सीख पाऊँगा।

जब अँधेरा होने लगा तो मैं सबकी नज़रों से बचते-बचाते वापस घर की ओर बढ़ने लगा। घर की ओर घिसटते समय मैंने मन में ठाना कि चाहे जो हो, लेकिन एक दिन ऐसा ज़रूर आएगा जब मेरी अँग्रेज़ी पढ़ने-लिखने-बोलने की योग्यता उस लड़के से बेहतर होगी।

इस संकल्प को पूरा करने में मुझे बरसों लग गए, लेकिन मैंने इस बात को लगातार याद रखा कि मुझे अँग्रेज़ी सीखनी ही है।

## अजय : रेगिस्तान में ठंडे पानी का स्रोत

प्राइमरी स्कूल में पहला ऐसा सहपाठी जिसे मैं मित्र मानता था, मुझे चौथी कक्षा में मिला। उसका नाम अजय था। बिल्कुल दुबला-पतला और छोटे क़द का अजय मेरे साथ बैठता था और हम खाना भी साथ खाते थे। अपने परिवारजनों के अलावा, अजय मेरे पूरे जीवन में पहला इंसान था जिससे मैं भावनाओं के स्तर पर जुड़ा था। आज मुझे अधिक याद नहीं है कि हम आपस में क्या बातें करते थे, लेकिन मुझे यह बखूबी याद है कि मैं अजय के प्रति कितना अपनापन महसूस करने लगा था। उसके स्कूल में होने से मेरे मन को बहुत ताक़त मिलती थी। मेरा अब स्कूल जाने का मन भी करने लगा, क्योंकि वहाँ मैं अजय से मिल सकता था। अजय ने कभी मेरा मज़ाक़ नहीं उड़ाया। मैं आपको बता नहीं सकता कि मेरे लिए स्कूल जाना कितना अधिक डरावना काम था। मुझे हर ओर से उपहास झेलना होता था। ऐसे में अजय का होना मेरे मन के लिए एक सहारा था, एक संबल था।

अजय पढ़ने-लिखने में भी अच्छा था। वह स्टार ट्रेक के मिस्टर स्पॉक की तरह अपने हाथ की चार उँगलियों को दो-दो के समूह में बाँटकर 'वी' चिह्न बना सकता था। कक्षा में बाक़ी किसी से भी यह नहीं होता था और इसके लिए अजय को 'हीरो' माना जाता था। अजय अपने माता-पिता के साथ महरौली में ही किराए के घर में रहता था। उसके पिता किसी सरकारी महक़मे में काम करते थे। उसके घर की माली हालत अच्छी नहीं थी, लेकिन उस लड़के में पढ़ने की ललक थी। आज मुझे अजय की शक्ल बहुत अच्छी तरह से तो याद नहीं है, लेकिन उसकी शक्ल 'तारे ज़मीं पर' फ़िल्म के दर्शील सफ़ारी से मिलती-जुलती थी।

अजय और मेरा साथ अधिक समय तक नहीं रहा। कुछ ही दिनों में उसके पिता का तबादला हो गया। एक दिन अजय अपने पिता के साथ स्कूल आया और उसका नाम स्कूल के रजिस्टर से काट दिया गया। उस दिन मैं अजय से आख़िरी बार मिला था। वह रुआँसा होकर मुझे देख रहा था, लेकिन वह अपने पिता के पास ही खड़ा रहा...और फिर अजय स्कूल से चला गया।

उस दिन जब मैं स्कूल से वापस आया तो ऐसा लग रहा था जैसे सीने पर कोई बहुत भारी बोझ रखा हो, रौने का मन कर रहा था। उस समय मेरे जीवन की कठिनाइयों और जीवन में अजय के महत्त्व का अंदाज़ इसी बात से लगता है कि अजय के बिना स्कूल जाने की कल्पना ने मुझे पूरी तरह हताश कर दिया था। अजय को अच्छे चित्र बनाने आते थे। एक दिन उसने कक्षा में बैठे-बैठे गुलाब के फूल की एक तस्वीर बनाई थी। तस्वीर अच्छी बन पड़ी थी...अगले दिन अजय उसमें रंग भर लाया और उसने छोटे-से काग़ज़ पर बनी यह तस्वीर मुझे दे दी।

मुझे और किशोर को स्कूल के लिए कभी-कभार जो पैसे मिलते थे उनमें से अधिकतर हम गुल्लक में जोड़ लिया करते थे। हमारी गुल्लक अम्मा थीं। हम अम्मा को पैसे दे देते थे और

अम्मा उन्हें सँभालकर अपनी संदूक में रख लेती थीं। मेरे द्वारा जोड़े गए पैसों को अम्मा एक पॉलीथीन की थैली में रखती थीं। मैंने अजय द्वारा दी गई गुलाब की वह तस्वीर उसी पॉलीथीन की थैली में रख दी। अम्मा की संदूक में रखी पॉलीथीन की यह थैली वर्ष में केवल दो-तीन बार खोली जाती थी। रक्षाबंधन पर इसे ज़रूर खोला जाता था, क्योंकि इसी में से पैसे निकालकर मैं राखी बाँधने वाली अपनी बहनों को उपहार में दिया करता था। जब भी यह थैली खुलती, तब मैं उस गुलाब को देर तक देखता था। उस गुलाब और मेरी उस पॉलीथीन की गुल्लक को अम्मा ने जीवनपर्यंत सँभालकर रखा।

मुझे कभी पता नहीं चला कि वह लड़का कहाँ गया, लेकिन मैं अजय से आज तक दोबारा नहीं मिला हूँ।

काश...ज़िन्दगी एक बार फिर अजय से मिलाए। अब तो वह मेरी ही तरह बड़ा हो गया होगा। कहीं सामने आ भी जाए पहचानूँगा कैसे?

## बाबा की संसार से विदाई

बाबा कुछ दिन से बीमार चल रहे थे और 26 जनवरी 1985 के दिन वह अचानक हमें छोड़कर चले गए। 26 जनवरी, भारत का गणतंत्र दिवस...इस दिन सभी के मन में दिल्ली के राजपथ पर होने वाली सैन्य व सांस्कृतिक परेड देखने की इच्छा होती है। कुछ लोग परेड देखने राजपथ जाते हैं, लेकिन अधिकांश लोग इस भव्य समारोह को टी.वी. पर ही देखते हैं। सुबह करीब नौ बजे शुरू होने वाली इस परेड का इंतज़ार सभी को रहता है, उस रोज़ हमें भी था। लेकिन सुबह करीब आठ बजे बाबा ने अंतिम साँस ली।

मृत्यु को इतने करीब से देखने का यह मेरा पहला अनुभव था। मैं केवल इतना समझ पा रहा था कि 'बाबा मर गए' और यह कि 'बाबा अब कभी नहीं बोलेंगे'...बाबा और मेरे बीच में गहरा प्रेम था, उनका जाना मेरे लिए बहुत बड़ी हानि थी। स्कूल से पहले जब मैं घर में ही पढ़ता था, तब बाबा मुझे गिनती और पहाड़े सिखाते थे। वह बड़े अनुशासन से मुझे सिखाते थे और मुझे भी पढ़ाई के प्रति उतने ही अनुशासन में रखते थे।

मुझे पोलियो होने के बाद बाबा ने मेरे इलाज के लिए बहुत मेहनत की। वह मुझे स्कूल में एक-एक कक्षा आगे बढ़ते देखकर फूले नहीं समाते थे...काश वह मेरे जीवन को और अधिक देख पाते...काश वह देख पाते कि मैं हारा नहीं!

## मेरा जीवन विशेष है

चौथी कक्षा में शायद पहली बार मुझे एहसास हुआ कि समाज की मेरे प्रति उदासीनता से लड़ने में शिक्षा मेरे लिए एक महत्वपूर्ण ज़रिया साबित होगी। मेरे मन में एक संतुलन बनने की शुरुआत हो चुकी थी। मैं अपने आस-पास के लोगों के व्यवहार से इतना अधिक टूट चुका था कि एक नई शुरुआत तो होनी ही थी। दावानल चाहे पूरे जंगल को फूँक दे, लेकिन एक समय आता है जब नई कोंपलें राख से दोबारा फूटती हैं। मेरे आस-पास का समाज, उसका व्यवहार और उसकी मेरे प्रति उदासीनता में कोई बदलाव नहीं आया था...लेकिन मैंने अब यह मानना शुरू कर दिया था कि यह स्थिति कभी नहीं बदलने वाली, और मुझे इन्हीं परिस्थितियों में रहकर आगे बढ़ना होगा।

लोग मेरा उपहास अब भी करते थे, मेरी उपेक्षा अब भी की जाती थी, लेकिन मैंने अपने मन के दो भाग कर लिए। एक भाग इस उपेक्षा को सहता था और इस पीड़ा से रोता भी था, लेकिन दूसरा भाग इस सबसे विचलित हुए बिना अपने लक्ष्य पर नज़रें जमाए रहता था।

इसी चौथी कक्षा में मैंने यह मान लिया कि मैं इस धरती पर किसी विशेष प्रयोजन से आया हूँ। आज मैं यह जानता हूँ कि हर व्यक्ति इस धरा पर किसी विशेष प्रयोजन से ही आया है, लेकिन महत्व इस बात का है कि हम में से कितने उस प्रयोजन को समझने और पूरा करने का प्रयास करते हैं। मैंने अपनी ओर से इस बात का पूरा प्रयास किया है कि मैं स्वयं के प्रयोजन को समझने की कोशिश करूँ और उसे लक्ष्य मानकर उसकी साधना करूँ।

चौथी कक्षा की परीक्षाएँ हुई...मैं पास हो गया...

मुझे कितने अंक हासिल हुए, इसका मुझे ज्ञान नहीं है, न ही अब इसका मेरे पास कोई रिकॉर्ड है...लेकिन अंकों से मुझे कभी कोई फ़र्क नहीं पड़ा, मेरा संघर्ष और गरिमापूर्वक जीने की ललक मेरे लिए स्कूल की परीक्षाओं में प्राप्त अंकों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे।

मेरे लिए महत्वपूर्ण यह था कि मैं जीवन-संघर्ष की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो रहा था... इस सदन में मैं अकेला ही दिया हूँ, मत बुझाओ!

जब मिलेगी, रोशनी मुझसे मिलेगी!

पाँव तो मेरे थकन ने छील डाले

अब विचारों के सहारे चल रहा हूँ

आँसुओं से जन्म दे-देकर हँसी को

एक मंदिर के दिए-सा जल रहा हूँ,



मैं जहाँ धर दूँ क़दम वह राजपथ है, मत मिटाओ!  
पाँव मेरे, देखकर दुनिया चलेगी!  
जब मिलेगी, रोशनी मुझसे मिलेगी!  
—रामावतार त्यागी

## प्राइमरी स्कूल में सुविधाओं का अभाव

पाँचवी कक्षा में आते-आते, पोलियो के मेरे शरीर पर प्रभाव, उसके कारण मेरी राह में आने वाली चुनौतियों और समाज के मेरे प्रति नज़रिए का मैं आदी हो चुका था। मैं रोज़ सुबह बैसाखियों पर झूलते हुए किशोर के साथ स्कूल जाता था और उसी के साथ दोपहर को वापस घर लौट आता था। सुबह स्कूल पहुँचकर जब मैं पहली मंज़िल की ओर जाने वाली सीढ़ियाँ बैठ-बैठकर चढ़ता था तब किशोर मेरी बैसाखियों को लेकर मेरे पीछे-पीछे आता था। अब किशोर तीसरी कक्षा में हो गया था और उसकी पढ़ाई भी पहली मंज़िल पर ही होती थी। एक बार ऊपर पहुँचकर मैं अधिकतर स्कूल की छुट्टी के बाद ही नीचे आता था, लेकिन कभी-कभार जब किशोर साथ होता था तो आधी छुट्टी में भी मैं खेल के मैदान में आकर बच्चों को खेलते हुए देखता था।

इसी दौरान मेरी छोटी बहन पूजा का जन्म हुआ। घर में नन्ही पूजा का आना अपने-आप में महत्त्वपूर्ण था। अब मुझे घर में खेलने के लिए किशोर के अलावा एक छोटी गुड़िया भी मिल गई थी।

जिस चार फुट चौड़ी गली में हमारा स्कूल था, उसी गली में स्कूल के ठीक सामने दो-तीन घर थे जिनमें रहने वाले लोग भैंस पालते थे। इन घरों में कुल मिलाकर करीब दस भैंसे थीं। पशुओं के तबले से उठने वाली गोबर और पेशाब की दुर्गंध हमारे स्कूल में भरी रहती थी। वैसे तो हमें इस दुर्गंध की आदत पड़ चुकी थी, लेकिन कभी-कभी दुर्गंध इतनी तेज़ हुआ करती थी कि उबकाई आने लगे। स्कूल की गली और खेल के मैदान में भी गोबर का वर्चस्व कायम रहता था।

स्कूल के भीतर सुविधाओं के नाम पर कुछ भी नहीं था। मेरी कक्षा के ठीक बराबर में शौचालय था जिसके भीतर गंदगी भरी होती थी। इसकी सफ़ाई शायद कई महीनों (या साल) में एक बार होती थी। स्कूल प्रशासन यदि उदासीन था तो बच्चे भी कम नहीं थे। शौचालय के सामने खुले में ही शौचालय बन गया था और सारे बच्चे वहीं खुले में पेशाब करते थे। मेरी कक्षा में एक ओर से भैंसों के तबले की दुर्गंध आती थी और दूसरी ओर से शौचालय की दुर्गंध आती थी। तबेला मेरी कक्षा से कोई बीस फुट दूर था और शौचालय कोई पाँच-छह फुट दूर। शौचालय

के सामने काफ़ी दूरी में पेशाब फैला रहता था और वहीं से शिक्षक भी आया-जाया करते थे, लेकिन कभी किसी ने व्यवस्था को सुधारने की कोशिश नहीं की। शिक्षकों का रवैया भी 'सब चलता है' वाला था।

पीने के पानी की व्यवस्था केवल ग्राउंड फ़्लोर पर थी। प्रिंसिपल के कमरे के सामने कंक्रीट की एक टंकी बनी थी जिसमें लगे नल पर हमेशा काई की एक मोटी परत जमी रहती थी। सभी बच्चे इसी टंकी से पानी पीते थे। मैं इस टंकी से पानी नहीं पीता था, क्योंकि प्यास लगने पर पानी पीने जैसी छोटी बात के लिए मैं पहली मंज़िल से नीचे ग्राउंड फ़्लोर पर नहीं आ सकता था। कभी-कभार किसी काम से नीचे आना ही पड़े तो प्यास न होने पर भी थोड़ा पानी पीकर ही ऊपर जाता था ताकि स्कूल की छुट्टी तक रुक सकूँ।

मैंने कभी भी उस टंकी पर जी भरकर पानी नहीं पिया, क्योंकि उस टंकी के आस-पास ज़मीन पर पानी गिरा होने और काई लगी होने के कारण मुझे चलने में बहुत मुश्किल होती थी। फिसलने का ख़तरा रहता था। टंकी में लगा नल बहुत नीचा था और मैं अन्य बच्चों की तरह पाँव मोड़कर झुक नहीं सकता था। इसलिए मैं खड़े-खड़े ही अंजुली में थोड़ा-थोड़ा पानी लेकर पी लेता था।

हमारी कक्षा में पंखा भी नहीं था। हालाँकि उस छोटे-से कमरे में छह दरवाज़े और एक खिड़की थी जिनसे कमरे में हवा आती रहती थी, लेकिन फिर भी दिल्ली की गर्मियों में चलने वाली लू और पंखे की अनुपस्थिति के कारण पसीना आ ही जाता था। कक्षा में झाड़ू लगाने का काम भी छात्रों को करना पड़ता था। हर कक्षा की अपनी एक अलग झाड़ू हुआ करती थी और मास्टरजी सब बच्चों को बारी-बारी से झाड़ू लगाने की ड्यूटी पर लगाते थे।

## काश मैं गिरने का स्थान चुन सकता!

स्कूल पहुँचने के लिए मुझे महरौली बाज़ार के बीच से होकर निकलना होता था। महरौली का बाज़ार बहुत बड़ा है जिसमें सभी कुछ मिलता है। इसमें सब्ज़ी मंडी है, कपड़ों की दुकानें हैं, सुनार हैं, हलवाई हैं, फल वाले हैं, केमिस्ट हैं, बर्तन वाले हैं, किराने की दुकानें हैं...इसके अलावा भी तमाम तरह की चीज़ें यहाँ मिलती हैं। महरौली में कई सरकारी स्कूल हैं। इनमें से कुछ केवल लड़कों के और कुछ केवल लड़कियों के लिए हैं। सारे स्कूल बाज़ार के आस-पास स्थित हैं, बस एक स्कूल क़रीब डेढ़ किलोमीटर दूर कुतुब मीनार के पास है।

स्कूल आते-जाते समय रास्ते में गिर जाना मेरे लिए रोज़ की बात थी। बैसाखियों पर चलना काफ़ी हुनर का काम है। यह हुनर मैंने सीख लिया था, लेकिन पोलियो के कारण मेरे शरीर में संतुलन और ताक़त की इतनी कमी थी कि मैं सभी सावधानियों के बावजूद गिर ही जाता था।

स्कूल आते-जाते समय मैं नालियों में गिरा, कूड़े में गिरा, भरे बाज़ार के बीच गिरा, सीढ़ियों से गिरा, चलते वाहनों के सामने गिरा, पशुओं की गंदगी में गिरा...इंसानों की गंदगी में गिरा...

कई बार लगता था कि काश मैं अपने गिरने का स्थान चुन सकता!

गिरने पर मुझे काफ़ी चोट लगती थी, लेकिन चूँकि मैं तक्ररीबन रोज़ ही गिरता था तो मैं धीरे-धीरे इसका भी आदी हो गया। बहुत ज़ोर से गिरने पर भी मैं चोट के दर्द को सह जाता और मेरी कोशिश यही होती थी कि जितना जल्दी हो सके उठकर आगे बढ़ जाऊँ।

मुझे गिरा देखकर लोग मुझे उठाने आते थे तो मेरी मुश्किल और अधिक बढ़ जाती थी। ज़मीन पर से खड़े होने का मेरा एक विशेष तरीका है, मुझे अपने घुटने पर वज़न लेने के लिए उसे एक खास तरह से खोलना होता है। यह बात मैं अच्छी तरह से शब्दों में बयान नहीं कर सकता। इसलिए कुल मिलाकर यही कहूँगा कि ज़मीन से उठने का मेरा अपना एक तरीका है और खड़े होने के लिए मेरे पास वही एकमात्र रास्ता है। जब लोग सहायता करते हुए मुझे खड़ा करने की कोशिश करते थे तो मैं खड़ा नहीं हो पाता था। मैं सबसे कहता रहता था कि आप मुझे छोड़ दीजिए मैं खुद ही खड़ा हो जाऊँगा। लोगों को यह समझाने में कि उनकी मदद दरअसल मेरे लिए मुश्किल का कारण बन रही है, मुझे काफ़ी समय लग जाता था...और इस बीच मैं भरे बाज़ार में एक तमाशा बन चुका होता था।

सबसे बुरी शारीरिक चोट मुझे तब लगती थी जब गिरती हुई बैसाखी के नीचे मेरी उंगलियाँ आ जाए और मेरा शरीर बैसाखी के ऊपर आ गिरे। इससे मेरी उंगलियाँ बैसाखी और ज़मीन के बीच में दब जाती थीं और नीली पड़ जाती थीं। कभी किसी नुकीले पत्थर या काँच के टुकड़े पर गिर जाता तो खून निकल आता। स्कूल की वर्दी और मेरे हाथ तो गिरने पर गंदे हो ही जाते थे। ऐसा बहुत बार हुआ कि गिर जाने के कारण मुझे गंदे कपड़ों में ही स्कूल पहुँचना पड़ा और पूरा दिन उन्हीं गंदे कपड़ों में बिताना पड़ा।

रोज़ रोज़ गिरकर भी मुक़म्मल खड़ा हूँ  
ज़िन्दगी देख, मैं तुझसे कितना बड़ा हूँ!

—अज्ञात

## संयुक्त राष्ट्र संघ का स्वप्न

पाँचवी कक्षा की हिंदी की किताब में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के बारे में भी एक पाठ था। इस पाठ को पढ़ते हुए संयुक्त राष्ट्र की वैश्विक छवि ने मुझे बेहद प्रभावित किया। मैं आरंभ से ही सभी को

साथ लेकर चलने की चाह रखता था, यह दूसरी बात है कि अन्य लोग मुझे अपने साथ नहीं रखना चाहते थे। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की अवधारणा मुझे बहुत भाती थी— नगर, प्रांत और देश की सीमाओं में बँधकर अकेले-अकेले जीना मुझे कुछ जँचता नहीं था। यही कारण था कि जब मैंने संयुक्त राष्ट्र के बारे में जाना कि यह संस्था पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व करती है, तो मेरे मन में अनायास ही एक इच्छा जागी कि मैं इस संस्था के साथ जुड़कर काम ज़रूर करूँगा।

उस समय पाँचवी कक्षा में मुझे यह भी नहीं पता था कि मेरा कोई भविष्य है भी या नहीं, लेकिन इच्छाशक्ति के बल पर इंसान बहुत कुछ कर सकता है। आज जब मैं यह लिख रहा हूँ तो मैं संयुक्त राष्ट्र के साथ जुड़कर काम करने के सपने को पूरा कर चुका हूँ। इसके बारे में और अधिक आगे बताऊँगा।

## बचपन का सहज मन

स्कूल के दिनों में बच्चों की एक अलग ही दुनिया होती है। बहुत से शौक, मान्यताएँ और कार्यकलाप ऐसे होते हैं जिन्हें हम बड़े होकर बिसरा देते हैं। ऐसी ही कुछ बातों में कॉपी-किताबों के पन्नों के बीच चिड़ियों के रंगीन पंख रखना भी शामिल था। जिन बच्चों के पास ये पंख होते थे, वे इन्हें खज़ाने की तरह सँभालते थे और अपनी इस पूंजी पर बहुत इतराते थे। बच्चे मानते थे कि इन रंगीन पंखों को कॉपी-किताब में रखने से विद्या की देवी सरस्वती प्रसन्न होती हैं और आशीर्वाद देती हैं। एक सदाबहार पौधे की पत्तियाँ भी बच्चे किताबों में रखते थे। हम इस पौधे को 'विद्या का पेड़' कहते थे। इसकी पत्तियों को भी माँ सरस्वती को प्रसन्न करने की कामना से किताबों में रखा जाता था।

एक और चीज़ जो बच्चों की कॉपियों में पाई जाती थी, वो थी देवी-देवताओं के चित्र। इन छोटे-छोटे चित्रों को भी कुछ बच्चे अपनी किताबों-कॉपियों में पूर्ण श्रद्धा के साथ रखते थे और प्रार्थना करते थे कि भगवान की कृपा उन पर बनी रहे। वास्तव में यह भक्ति केवल परीक्षा में पास होने के लिए ही की जाती थी!

बच्चों के बीच इन चित्रों का लेन-देन भी होता था। किसी को किसी का गणेश मन भा गया तो उस बच्चे को मनाकर अपने राम के बदले उसका गणेश ले लिया जाता था। कहीं शिव-परिवार का 'एक्सचेंज' शेरावाली माँ से होता था तो कहीं लक्ष्मी माँ के बदले राम-दरबार ले लिया जाता था...बच्चों की भक्ति अनूठी होती है!

कंचे खेलना भी बच्चों का प्रिय खेल था, हालाँकि वयस्क लोग इसे एक 'ऐब' मानते थे।

"क्या सारा दिन कंचे बजाता रहता है...न पढ़ना, न लिखना...फ़ेल हो गया तो फिर सारी उमर कंचे ही खेलता रहियो!" इस तरह की बातें बच्चों को खूब सुनने को मिलती थीं।

कंचों के भीतर बने डिज़ाइन को देखकर मैं अक्सर सोचता था कि यह डिज़ाइन ठोस कंचे के भीतर कैसे घुसाए गए होंगे!...यही बात मैं वर्षों बाद पेपरवेट के बारे में भी सोचता था और मैं इस पर तब तक विचार करता रहा जब तक कि एक दिन मुझे इसका उत्तर नहीं मिल गया।

स्कूल के पहले चार साल हमने तख्ती लिखी थी। बाज़ार से पाँच पैसे में स्याही की दो पुड़िया मिला करती थीं। इस स्याही को दवात में डालकर कुछ पानी मिलाया जाता था और फिर हम दवात को खूब ज़ोर-ज़ोर से हिलाते थे ताकि स्याही और पानी आपस में अच्छे से मिल जाएँ। दवात को हिलाते समय बच्चे अक्सर एक जाप-सा किया करते थे—“गीली-गीली आ जा, सूखी-सूखी चली जा।” ऐसा करते हुए बच्चे गीलेपन की किसी काल्पनिक देवी का आह्वान करते प्रतीत होते थे!

तख्ती को पोतने के लिए मुल्लानी मिट्टी भी बाज़ार से खरीदनी पड़ती थी। रोज़ स्कूल से आने के बाद हमारा करीब आधा घंटा लिखी हुई तख्ती को धोने और उस पर फिर से मुल्लानी मिट्टी लगाकर उसे पोतने में खर्च होता था। तख्ती को अच्छी तरह पोतने के बाद उसे सूखने के लिए रख दिया जाता था। जब कभी तख्ती पोतने का काम स्कूल जाने से ठीक पहले या स्कूल में ही करना पड़ता था तो पुती हुई तख्ती को जल्द सुखाने के लिए भी बच्चों के पास एक मंत्र था—“सूखी-सूखी आ जा, गीली-गीली चली जा!”...तख्ती सुखाते हुए बच्चे तख्ती को ज़ोर-ज़ोर से हवा में हिलाते और इस मंत्र का जाप करते थे। कहने की ज़रूरत नहीं कि तख्ती देवी अपना समय लेकर ही सूखती थीं।

ऐसा माना जाता था कि तख्ती पर लिखने से लिखाई सुंदर बनती है। तख्ती मैंने भी उतनी ही लिखी जितनी मेरी कक्षा के अन्य छात्रों ने लिखी, लेकिन मेरी लिखाई कभी भी सुंदर नहीं हो पाई। इसके पीछे वास्तव में क्या कारण था, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन पापा व अन्य लोग कहते थे कि बैसाखियों पर चलने के कारण मेरे हाथों और उँगलियों में वो लचीलापन नहीं रह गया था जिसकी सुंदर लिखाई के लिए बहुत ज़रूरत होती है। यह बात सही थी कि सहपाठियों की सुंदर उंगलियों की अपेक्षा मेरी उंगलियाँ मोटी और भद्दी हो गई थीं। बैसाखियों के साथ थोड़ी दूर चलने से भी मेरी उंगलियों और बाजूओं में एक कसाव-सा बन जाता था, जैसे कि मैंने अभी-अभी व्यायाम किया हो। फिर मैं ठीक से लिख नहीं पाता था। हो सकता है कि इसके कारण मेरी लिखाई पर बुरा असर पड़ा होगा।

## घर के माली हालात और हमारा संघर्ष

हमारे घर की माली हालत अच्छी नहीं थी, फिर मेरे और किशोर के स्कूल जाना आरंभ कर देने से घर की अर्थव्यवस्था पर और भी दबाव पड़ने लगा। हालाँकि सरकारी स्कूल होने के कारण

हमारे स्कूल की फ़ीस शायद पाँच रुपए सालाना थी... लेकिन वर्दी, कॉपी-किताबों इत्यादि का खर्च और मेरे इलाज से संबंधित खर्च ने और अधिक आर्थिक मुश्किलें पैदा करनी शुरू कर दी थीं।

उस समय की परिस्थितियों और भविष्य की चिंता के कारण हमारे परिवार ने अतिरिक्त कार्य करना आरंभ कर दिया। महरौली में सूखी स्याही का व्यापार करने वाला एक व्यक्ति रहता था। स्कूल में हम इसी स्याही को पानी में मिलाकर तख्ती पर लिखा करते थे। हमने उस व्यक्ति से स्याही की पुड़िया बनाने का काम ले लिया। उस व्यक्ति के घर से हम स्याही का कई किलो सूखा पाउडर ले आते थे। साथ में वह हमें गुलाबी रंग के लेबल भी देता था। घर पर हम स्याही को कागज़ में लपेट कर छोटी-छोटी पुड़िया बनाते थे। फिर लंबी-चौड़ी लेबल-शीट में से लेबलों को कैंची से काटते थे और हर पुड़िया पर गोंद से एक लेबल चिपका देते थे। एक किलो स्याही से करीब तीन सौ पुड़ियाएँ बनती थीं। मैं और किशोर भी स्कूल से आते ही इस काम में हाथ बँटाते थे। पूरा परिवार इस काम में सारा दिन लगा रहता था। ऐसी सौ पुड़िया बनाने पर हमें एक रुपया मिलता था। इस तरह हमें महीने में कुछ अतिरिक्त रुपए मिल जाते थे। महीने में सौ-दो सौ रुपए अतिरिक्त मिल जाने से घर की कमज़ोर आर्थिक स्थिति को बड़ा सहारा मिलता था।

कुछ समय तक स्याही की पुड़िया वाला काम करने के बाद हमने सिलाई का काम ले लिया। हमारे घर से कुछ दूरी पर बने एक घर से हमें यह काम मिलता था। माँ और अम्मा वहाँ से कपड़े के टुकड़े लाती थीं। हमें उन आड़े-तिरछे टुकड़ों को ठीक से काटकर आपस में सिलना होता था। हमारे पास हाथ से चलने वाली एक ही सिलाई मशीन थी। सारा दिन इसी सिलाई मशीन पर काम चलता रहता था। स्कूल से आकर मैं हाथ से सिलाई मशीन घुमाता था और माँ मशीन में लगे कपड़े की सिलाई नियंत्रित करती थीं। यही काम घर के बाक़ी लोग भी बारी-बारी से करते थे।

इस काम के बाद हमने एक अन्य काम शुरू किया। मेरे छोटे नानाजी की एक फ़ैक्ट्री हुआ करती थी जिसमें वह प्लास्टिक के खिलौने बनाते थे। पापा उस फ़ैक्ट्री से एक मशीन ले आए जो खिलौने में लगने वाले प्लास्टिक के नन्हे पहिए बनाती थी। दफ़्तर से पापा का साप्ताहिक अवकाश शुक्रवार के दिन होता था। हर शुक्रवार को पापा फ़ैक्ट्री जाते और वहाँ से बोरी भर प्लास्टिक का दाना ले आते। गेहूँ के आकार के ये दाने काले रंग के प्लास्टिक से बने होते थे। रोज़ दफ़्तर से आने के बाद पापा मशीन पर काम करना शुरू कर देते थे।

एक बार मैं आधी मुट्ठी प्लास्टिक का दाना मशीन में डाला जाता था। मशीन में लगा हीटर दानों को पिघला देता था। पापा इस मशीन में लगे एक बड़े पहिए को पूरी ताक़त से घुमाकर इस पिघले हुए प्लास्टिक को एक लोहे के एक साँचे में भर देते थे। इसके तुरंत बाद पापा साँचे को खोलते और उसमें से काले रंग के पाँच पहिए बाहर निकलते थे। ये पहिए आपस में ऐसे जुड़े होते थे जैसे उंगलियाँ हाथ से जुड़ी होती हैं। घर के अन्य सदस्य इन पहियों को तोड़कर अलग-अलग करते रहते थे। इस काम में भी मैं रोज़ जुटता था और हम एक दिन में कई सौ पहिए बना

देते थे। फिर अगली बार जब पापा दाना लेने के लिए दोबारा फ़ैक्ट्री जाते थे तो बने हुए पहिए साथ ले जाते थे। फ़ैक्ट्री में पहिए देकर, पापा मेहनताना और आगे के काम के लिए प्लास्टिक दाना लेकर लौट आते थे।

कई वर्ष यह काम करने के बाद जब फ़ैक्ट्री से कम दाना मिलने लगा तो पापा को यह कार्य भी बंद करना पड़ा और उन्होंने हमारे एक अन्य रिश्तेदार सीताराम चाचा की पास ही स्थित फ़र्नीचर की दुकान पर काम करना शुरू कर दिया। अब पापा दफ़्तर से आने के बाद चाय पीते ही सीताराम चाचा की दुकान पर चले जाते और रोज़ तीन-चार घंटे वहाँ फ़र्नीचर बनाने का काम करते।

अतिरिक्त आय के लिए इस तरह के छोटे-मोटे कार्य कई बरसों तक चलते रहे।

## भगवान, मुझे फ़र्स्ट नहीं आना है

आखिरकार पाँचवी कक्षा भी पूर्ण हो गई। परीक्षाओं में मुझे अच्छे अंक हासिल हुए लेकिन स्कूल में प्रथम, द्वितीय या तृतीय स्थान पर आने से मैं काफ़ी दूर था। मेरा स्थान अमूमन चौथा, पाँचवाँ या छठा रहता था। परीक्षाओं के नतीजे हमें खेल के मैदान में प्रार्थना-सभा के बाद सुनाए जाते थे। नतीजे के दिन बहुत-से बच्चों के बेचैन माता-पिता भी स्कूल आकर नतीजे सुनते थे। बच्चे भी बस इसी इंतज़ार में रहते थे कि कब प्रार्थना-सभा समाप्त हो और उनके पास-फ़ेल का निर्णय सुनाया जाए।

पाँचवी कक्षा में पहली बार मैं नतीजा सुनने खेल के मैदान में गया और प्रार्थना के समय पाँचवी 'बी' की पंक्ति में बड़ी मुश्किल से खड़ा रहा। "सदा ही प्रेम का रास्ता दिखाना तुम हमें भगवन, पिता-माता-गुरु-सेवा सिखाना तुम हमें भगवन", प्रार्थना के ये शब्द गाते हुए मैं अपने पैरों, हाथों और पीठ में हो रहे दर्द से किसी तरह अपना ध्यान दूर रखने की कोशिश कर रहा था।

बहरहाल, प्रार्थना की समाप्ति पर बच्चे वहीं मिट्टी में अपनी-अपनी जगह बैठ गए। यह पहली बार था कि मैं अपना नतीजा सुनने के लिए मैदान में मौजूद था। इसके पहले की कक्षाओं में मैं पहली मंज़िल पर अपनी कक्षा की एक खिड़की के पास बैठकर यह सब देखा करता था। वहाँ तक आवाज़ तो साफ़ नहीं पहुँचती थी, लेकिन दिखता सब कुछ था।

मैदान में हर कक्षा के मास्टरजी सामने खड़े थे और एक-एक करके नतीजे सुना रहे थे। जब प्रथम, द्वितीय और तृतीय आने वाले बच्चों के नाम पुकारे जाते थे तो उन बच्चों को खड़े होना होता था और उनके लिए तालियाँ बजती थीं। इसके बाद फ़ेल हुए बच्चों के नाम बताए जाते थे। अन्य सबके लिए एक ही वाक्य बोला जाता था— "बाक़ी सब पास"।

उधर नतीजे सुनाए जा रहे थे और इधर मन ही मन मेरी बातचीत भगवान से चल रही थी।

मैं भगवान जी से कह रहा था कि मुझे बस पास होना है। पहला, दूसरा या तीसरा स्थान नहीं चाहिए— वरना मुझे भी यहाँ भरे मैदान में खड़ा होना पड़ेगा और अगर खड़े होते समय मेरा संतुलन बिगड़ गया और मैं गिर गया तो बच्चे मेरा कितना मज़ाक़ उड़ाएँगे!

“भगवान, मुझे केवल पास ही होना है... फ़र्स्ट-सेकेंड नहीं आना है।”

भगवान ने मेरी सुन ली... मैं पास हो गया... लेकिन प्रथम, द्वितीय या तृतीय नहीं आया। वह हमारा प्राइमरी स्कूल में अंतिम दिन था।

अन्य बच्चों के लिए प्राइमरी स्कूल को पास करना कोई बड़ी बात नहीं थी, लेकिन मेरे लिए यह जीवन का एक संपूर्ण अध्याय था। प्राइमरी स्कूल के वर्षों में मैंने तानों को सुनना, छींटाकशी सहन करना, असीम कष्ट और निराशा में भी आगे बढ़ना... अपनी व्यथा किसी से न कहना... एक विकृत शरीर... एक असामान्य आकृति... और एक असंवेदनशील समाज के साथ रहना सीख लिया था।

कागज़ों के हिसाब से मैंने केवल पाँचवीं कक्षा पास की थी, लेकिन मेरे लिए यह जीवन की ग्रेजुएशन से कम नहीं था।



**भाग दो**

सँभलना

## प्राथमिक से माध्यमिक में

मैं किस कदर अपने जीवन से जूझ रहा था इसका एक उदाहरण यह है कि प्राइमरी स्कूल की इमारत से बमुश्किल पचास मीटर की दूरी पर बने मिडिल स्कूल को मैंने उस दिन पहली बार देखा था, जब पापा मुझे साइकिल पर बिठाकर छठी कक्षा में दाखिले के लिए वहाँ लेकर गए थे। मैं केवल घर के और प्राइमरी स्कूल दरवाज़े के बीच किसी तरह अपने आपको खींचता था। इस रास्ते से ज़रा भी इधर-उधर की दुनिया के बारे में मुझे न के बराबर जानकारी थी। मैं अक्सर सोचता था कि आगे वाले मोड़ के दूसरी ओर क्या है! लेकिन मैं बस सोच ही सकता था, जबकि मेरे सहपाठी पूरी महारौली और दिल्ली के भी बहुत-से हिस्सों से अच्छी तरह वाकिफ़ थे।

मिडिल स्कूल में आकर मुझे ऐसा लगा जैसे मैं एक बिल्कुल नए संसार में आ गया था। दोनों स्कूलों में बहुत सारे अंतर थे। प्राइमरी स्कूल की खाकी पैंट और आसमानी क़मीज़ की जगह मिडिल स्कूल में हमारी वर्दी खाकी पैंट और सफ़ेद क़मीज़ की हो गई। हमारा मिडिल स्कूल दोपहर की पारी में लगता था, इसलिए अब मेरे दिन का पूरा नज़्शा ही बदल गया।

जहाँ प्राइमरी स्कूल में हमें पूरे वर्ष एक ही अध्यापक सभी विषय पढ़ाते थे, वहाँ मिडिल स्कूल में हर विषय के अलग-अलग अध्यापक थे। प्राइमरी स्कूल में घंटी दिन में केवल चार बार बजती थी। एक बार प्रार्थना-सभा के लिए, एक बार आधी-छुटी की शुरुआत के लिए, फिर आधी-छुट्टी की समाप्ति के लिए और अंत में स्कूल से छुट्टी के लिए। यहाँ मिडिल स्कूल में आधे-आधे घंटे के आठ पीरियड लगते थे और पीरियड में बदलाव दर्शाने के लिए भी घंटी बजाई जाती थी।

प्राइमरी स्कूल में हम अपने अध्यापक को 'मास्टरजी' कहते थे, लेकिन यहाँ मिडिल स्कूल में अध्यापकों को 'सर जी' कहकर संबोधित किया जाता था। प्राइमरी स्कूल में एक भी महिला अध्यापक नहीं थीं, जबकि मिडिल में दो या शायद तीन महिला अध्यापिकाएँ थीं, जिन्हें हम 'मैडमजी' कहते थे।

मिडिल स्कूल की इमारत में काफ़ी बड़ा खेलने का मैदान था, पेड़-पौधे थे, ख़ूब खुली-खुली जगहें थीं। सब तरफ़ साफ़-सफ़ाई थी। कुल मिलाकर यह कि स्कूल के प्रांगण में मन प्रसन्न रहता था। नाम के लिए ही सही, लेकिन यहाँ पर एक लाइब्रेरी और एक विज्ञान प्रयोगशाला भी थी। प्राइमरी स्कूल में जहाँ हम धूल-मिट्टी में या बहुत हुआ तो फटी-पुरानी टाट-पट्टियों पर बैठते थे, वहीं मिडिल स्कूल की कक्षाओं में बैठने के लिए लकड़ी के डेस्क थे।

## अँग्रेज़ी विषय की पढ़ाई का आरंभ

प्राइमरी के मुक़ाबिले मिडिल स्कूल बहुत-सी बातों में अलग था, लेकिन सबसे बड़ा फ़र्क़ अँग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू होने से पड़ा। प्राइमरी स्कूल में हमें सभी विषय हिंदी में पढ़ाए जाते थे और अँग्रेज़ी का कहीं नामो-निशान भी नहीं था। मिडिल स्कूल में अँग्रेज़ी भाषा को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। अन्य सभी विषय हिंदी माध्यम में ही थे।

छठी कक्षा में जब मैंने अँग्रेज़ी के अक्षर सीखने शुरू किए तो ऐसा लगा, जैसे मैं उसी पहली कक्षा में वापस पहुँच गया हूँ जहाँ मैं हिंदी के अक्षरों से कुश्ती लड़ता था। पहली कक्षा में कुश्ती का मैदान तख़्ती होती थी, अब छठी कक्षा में अँग्रेज़ी लिखना सीखने के लिए एक अलग क्रिस्म की कॉपी प्रयोग में लाई जा रही थी। इस कॉपी में हर पन्ने पर चार-चार समांतर पंक्तियों के समूह होते थे। इस कॉपी का कोई नाम नहीं था, बस हम दुकानदार को 'इंग्लिश वाली कॉपी' कह देते थे और दुकानदार समझ जाता था कि हमें क्या चाहिए।

मिडिल स्कूल की कक्षाओं में हम सब छात्रों के लिए अँग्रेज़ी सबसे बड़ा सिरदर्द बनी रही। अन्य कई छात्रों की तरह मैं सातवीं कक्षा में ही अँग्रेज़ी अक्षर बनाना सीख पाया, इससे पहले तो मैं पेंसिल से 'इंग्लिश वाली कॉपी' में जो लिखता था, वह ऐसा लगता था जैसे कॉपी पर बहुत से मक्खी-मच्छर बैठे हों।

## कमज़ोर आँखें और ब्लैक-बोर्ड रहित पढ़ाई

छठी कक्षा तक आते-आते मुझे यह महसूस होने लगा था कि मैं ठीक से देख नहीं पा रहा था। मेरी आँखें कमज़ोर हो चली थीं। पिछले कई वर्षों से पोलियो के लिए जो गर्म दवाएँ मुझे बड़ी मात्रा में खानी पड़ रही थीं, यह उसी का असर था कि मेरी आँखें काफ़ी कमज़ोर हो गईं।

छठी कक्षा में मैंने पाया कि ब्लैक-बोर्ड का महत्त्व अचानक बहुत बढ़ गया था। प्राइमरी स्कूल में तो हमारे इकलौते मास्टरजी कभी-कभार ही ब्लैक-बोर्ड पर कुछ लिखते थे, अधिकांश बातें वह बोलकर ही बताते थे। लेकिन यहाँ मिडिल स्कूल में एक तो अध्यापक ही पाँच-सात हो गए थे, ऊपर से अपने पीरियड में आते ही वह ब्लैक-बोर्ड पर लिखना शुरू कर देते थे। यदि मैं सबसे आगे वाली डेस्क पर भी बैठ जाता, तब भी मुझे ब्लैक-बोर्ड पर कुछ दिखाई नहीं देता था।

मैंने अपनी आँखों के बारे में किसी को नहीं बताया। यह सच है कि एक बहुत बड़ी समस्या होने के बावजूद मैंने कमज़ोर दृष्टि को उस समय समस्या नहीं माना।

मेरे मन और जीवन में केवल एक ही चीज़ लगातार चलती रहती थी, मैं बस यह चाहता था कि मैं किसी से कम न माना जाऊँ। हर वो बात जो मुझे दूसरों बच्चों से कम करके दिखाती हो, वो मेरे लिए काँटे के समान थी जिसे मैं निकाल फेंकना चाहता था। पोलियो, मुड़े-तुड़े शरीर, बैसाखियों और बेढंगी चाल के कई काँटे वैसे ही मेरे मन में धँसे हुए थे। इन्हें तो मैं निकालकर फेंक भी नहीं सकता था। चश्मा लगाने के बारे में मैंने कभी इसलिए नहीं सोचा, क्योंकि मैं एक और 'असामान्यता' स्वयं के साथ नहीं जोड़ना चाहता था। बच्चे जिस तरह नव कुमार के मोटे चश्मे का मज़ाक़ उड़ाते थे, उस बात ने भी मुझे चश्मा लगाने से रोके रखा। मैं अपने सहपाठियों को बैसाखियों के अतिरिक्त चश्मे का भी मज़ाक़ उड़ाने का मौक़ा नहीं देना चाहता था।

छठी से लेकर दसवीं तक की पढ़ाई मैंने बिना ब्लैक-बोर्ड देखे ही पूरी की। मैं केवल अध्यापक के बोले गए शब्दों को ध्यान से सुनता था और उसी के आधार पर पूरी बात को समझने की कोशिश करता था।

## मेरी पहली 'किताब'

हमारे घर उन दिनों 'पंजाब केसरी' अख़बार आता था। 'पंजाब केसरी' में कोई बहुत विश्लेषणात्मक लेख या बौद्धिक बातें नहीं छपती थीं। ख़बरों से इतर सामग्री के संदर्भ में इस अख़बार का लक्ष्य ऐसी रोचक जानकारी प्रस्तुत करना था जो आम आदमी के भीतर उत्सुकता जगा सके। 'पंजाब केसरी' अख़बार में अक्सर अजीबो-ग़रीब और हैरतअंगेज़ बातें छपा करती थीं (जैसे कि 'एक किसान ने उगाई 26 किलो की लौकी!') ...जब इस तरह की बातें तस्वीरों के साथ छपती थीं तो मैं उनकी कतरने सँजो लिया करता था और उन्हें संलग्न जानकारी के साथ एक रजिस्टर में पेस्ट कर देता था। यह मेरे द्वारा तैयार की गई पहली 'किताब' थी जो काफ़ी हद तक रॉबर्ट रिप्ले की 'बिलीव इट ऑर नॉट' से मिलती-जुलती थी। मेरे पास सैकड़ों की संख्या में इस तरह की रोचक-अविश्वसनीय जानकारी के टुकड़े इकट्ठा हो गए थे और इनमें से अधिकतर का स्रोत 'पंजाब केसरी' था।

मेरा यह रजिस्टर उन बहुत-सी बातों में से एक था जो मुझे अपने सहपाठियों से अलग बनाती थीं। चीज़ों को जानना, समझना, सँजोना और उनका विश्लेषण करना बचपन से ही मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। इसके लिए मुझे किसी से सहायता या प्रेरणा नहीं मिलती थी। ये ऐसे काम भी नहीं थे जो अध्यापकों द्वारा होमवर्क के तौर पर दिए जाते हों। यह सब मैं अपने मन से करता था। यह सब करना मेरे लिए बहुत स्वाभाविक था।

## मिडिल स्कूल में मित्र

हमारी कक्षाओं में ऐसे डेस्क थे जिनमें से हरेक पर दो बच्चे बैठ सकते थे। छठी कक्षा से ही छात्रों ने अपनी-अपनी जोड़ियाँ बना ली थीं। इनमें से कई जोड़ियाँ पूरे मिडिल स्कूल के दौरान एक-साथ बनी रहीं। शुरुआत में काफ़ी समय तक मेरी जोड़ी किसी के साथ नहीं बन पाई। मुझे जहाँ जगह मिलती थी मैं वहीं बैठ जाता था। कक्षा में कुछ छात्र ऐसे भी थे जो मुझे अपने साथ बैठाना पसंद नहीं करते थे। कई बार ऐसा भी हुआ जब मुझे बैठने को कोई जगह नहीं मिली और अध्यापकों ने ऐसे किसी छात्र के साथ बिठा दिया जो मेरे साथ बैठना पसंद नहीं करता था। ऐसे में उस पीरियड को निकालना मुश्किल हो जाता था। पीरियड पूरा होते ही मैं अपनी जगह बदल लेता था। सबसे आगे वाली पंक्ति पर पहले से ही कुछ छात्रों का क़ब्ज़ा था और मेरे लिए सबसे आगे बैठना अति-आवश्यक था, क्योंकि मुझे दूर से ब्लैक-बोर्ड देखने में बहुत परेशानी होती थी। हालाँकि मुझे सबसे आगे की पंक्ति में बैठकर भी यह साफ़ नहीं दिखता था कि ब्लैक-बोर्ड पर क्या लिखा गया है, लेकिन सबसे आगे बैठकर मैं ब्लैक-बोर्ड पर लिखी गई बातों का कुछ-कुछ अंदाज़ लगा पाता था।

मिडिल स्कूल में मिले कई अच्छे मित्रों में सबसे पहले मैं चरण सिंह का ज़िक्र करना चाहूँगा। चरण सिंह मेरे जीवन में आया दूसरा मित्र था। प्राइमरी स्कूल में मिले और वहीं बिछड़ गए अजय के बारे में मैं पहले ही लिख चुका हूँ। चरण का घर स्कूल के बिल्कुल करीब था और पास ही उनकी पुश्तैनी दुकान भी थी। इस दुकान से उसका परिवार टेंट-हाउस का बिज़नेस चलाता था।

मिडिल स्कूल के तीन साल मेरी स्कूली पढ़ाई का स्वर्णिम समय था। स्कूल की पढ़ाई के दौरान अन्य छात्रों की ओर से जो भेदभाव और असंवेदनशीलता मैंने सही थी, वह मिडिल स्कूल में अपने निम्नतम स्तर पर रही। स्कूल के दौरान मुझे जो मित्र मिले वे इन्हीं तीन वर्षों के दौरान मिले। मिडिल स्कूल से पहले के प्राथमिक और मिडिल स्कूल के बाद के सेकेंडरी व सीनियर सेकेंडरी स्कूलों में मेरे अधिकतर सहपाठियों ने मुझे कभी अपने साथ नहीं रखा।

चरण उसी प्राइमरी स्कूल में पढ़ा था जिसमें मैं पढ़ा था। लेकिन जहाँ तक मुझे याद है मैं प्राइमरी स्कूल के दौरान उससे कभी नहीं मिला। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि वह 'ए' सेक्शन में पढ़ता था और मैं 'बी' सेक्शन में। हालाँकि दोनों सेक्शन की कक्षाएँ कुछ ही फुट की दूरी पर लगती थीं, लेकिन मेरा चरण से पहले कभी न मिलना एक और उदाहरण है कि मेरा चलना-फिरना और छात्रों का मुझसे मेल-जोल कितना सीमित था।

चरण और मेरा दाखिला कक्षा छठी 'ए' में हुआ। हमारी मित्रता की शुरुआत भी अनापेक्षित ढंग से हुई थी। एक दिन चरण ने मुझे कक्षा में सबके सामने 'लँगडा' कहकर चिढ़ाया और उस दिन बात इतनी बढ़ी कि मैं रोने लगा। तभी हमारे क्लास-टीचर वहाँ आ गए और उन्होंने

चरण सिंह को अलग कमरे में ले जाकर समझाया। फिर उन्होंने चरण को और मुझे एक ही डेस्क पर सबसे आगे की पंक्ति में बैठने के लिए कहा। हालाँकि मुझे अच्छा नहीं लग रहा था कि जिसने अभी सबके सामने मेरा मज़ाक़ किया था उसी के साथ बैठने के लिए मुझे बाध्य किया जा रहा है। लेकिन मैं चरण के साथ बैठ गया और फिर उसके बाद जब तक हम मिडिल स्कूल में रहे हम एक साथ ही बैठे। चरण ने उसके बाद फिर कभी मेरा मज़ाक़ नहीं उड़ाया और हम अच्छे मित्र बन गए।

उन दिनों मैं चलने के लिए एक बैसाखी का प्रयोग करता था। उस समय एक बैसाखी से चलना मेरे लिए अधिक आसान साबित हो रहा था। मैं अपनी बाईं बग़ल में बैसाखी लगाता था और दाएँ हाथ से दाएँ पैर के घुटने को दबाकर चलता था। कैलिपर बाँधना अब मैंने काफ़ी कम कर दिया था, क्योंकि मेरा शरीर तेज़ी से बिगड़ता जा रहा था। मेरी रीढ़ की हड्डी में मोड़ आना शुरू हो चुका था, इसलिए कैलिपर बाँधकर चलना मेरे लिए बहुत अधिक मुश्किल हो रहा था।

उन दिनों मैं स्कूल में इधर से उधर जाने के लिए अपने दाएँ हाथ से अक्सर चरण के कंधे का सहारा लिया करता था। इससे मुझे चलने में बहुत आसानी हो जाती थी। चरण ने भी मुझे कभी महसूस नहीं होने दिया कि ऐसा करके वह मुझ पर कोई एहसान कर रहा है। हमारा साथ इतना सरल था कि मुझे बहुत समय तक यह अनुभव ही नहीं हुआ कि मैं स्कूल में इधर से उधर जाने के लिये चरण पर कितना निर्भर हो गया था। ऐसा नहीं था कि मैं चरण के सहारे के बिना चल नहीं सकता था, लेकिन उसके सहारे मेरा चलना कहीं अधिक आसान हो जाता था, दर्द कम होता था और मेरी बहुत ऊर्जा बच जाती थी।

मैं और चरण स्कूल में साथ ही रहते थे जहाँ वह जाता वहाँ मैं भी जाता। जहाँ उसे नहीं भी जाना होता था, वहाँ जाने के लिए भी मैं उसे कह देता था और वह अपने कंधे का सहारा देते हुए मेरे साथ जाता था। ऐसा काफ़ी दिन तक चलता रहा।

एक दिन शाम को स्कूल से घर जाते समय जब मैं चरण के कंधे का सहारा लेकर स्कूल से निकल रहा था तो चरण ने बताया कि घर में उससे किसी ने पूछा कि उसकी क़मीज़ का बायाँ कंधा बाक़ी क़मीज़ से अधिक गंदा क्यों हो जाता है। अब मुझे ठीक से याद नहीं है कि उस समय चरण के शब्द क्या थे, लेकिन उसने मुझे कंधे पर हाथ रखने से मना नहीं किया। फिर भी उसके शब्दों में कहीं एक संकेत अवश्य था जिसे मैंने तुरंत पढ़ लिया और उसी क्षण से उसका कंधा छोड़ दिया। चरण का घर मेरे घर के रास्ते में पड़ता था, सो मैं चरण के घर तक उसके कंधे का सहारा लेकर आता था और आगे का रास्ता अपने आप तय करता था।

उस दिन के बाद भी हम स्कूल से साथ ही वापस आते थे, लेकिन अब मैं उसके कंधे पर हाथ नहीं रखता था...

## एक खास दिन

सुबह के करीब दस बजे थे। उस दिन स्कूल की छुट्टी थी, शायद रविवार था। पापा भी घर पर थे। हमारे घर का एक कमरा, जिसे हम कोठार कहते थे, ड्रॉइंग-रूम का काम करता था। इसी कोठार के लाल सीमेंट से बने फ़र्श पर बैठकर मैं स्कूल का होमवर्क कर रहा था और पापा बाहर से आए दो लोगों के साथ चाय पीने व बातचीत करने में मशगूल थे। अचानक उनकी बातचीत मेरी ओर मुड़ गई और मैं सारी बातें ध्यान से सुनने लगा :

“भाई परमा, इस बच्चे के साथ तो बहुत बुरा हुआ। चच्छू, सब भगवान की मर्ज़ी है।” रटे-रटाए ‘सामाजिक’ लहज़े और शब्दों का प्रयोग करते हुए बाहर से आए एक सज्जन ने कहा।

“हाँ भाई, क्या कर सकते हैं”, पापा ने भी अपने तयशुदा शब्दों का प्रयोग किया। जैसा कि मैं पहले भी बता चुका हूँ, पापा मेरे बारे में ‘दयापूर्ण’ बातों से बच निकलने की हमेशा कोशिश करते थे। शायद उन्हें मेरी विकलांगता पर समाज के ‘दयाभाव’ से दुःख होता था। मैं इस बात के लिए पापा का हमेशा शुक्रगुज़ार रहा हूँ कि उन्होंने इस तरह की दयापूर्ण बातों से हमेशा ही किनारा किया है।

“देखो, कितना सुंदर बच्चा है पर होनी को कौन टाल सकता है भाई”, अब दूसरे व्यक्ति ने कहा।

“लड़के की ज़िन्दगी तो ख़राब हो ही गई है, परमा भाई, अब इसे किसी काम-धंधे पर लगाने की सोचो”, पापा को सलाह दी गई।

“इसे तीन पहिए की एक साइकिल दिला दो। अपाहिजों के कैंप लगते हैं, वहाँ मुफ़्त में मिल जाएगी। मैंने कई अपाहिजों को वहाँ से साइकिल लेते हुए देखा है। वो साइकिल हाथ से चलती है।”

“इसका अपाहिज वाला सर्टिफ़िकेट भी बनवा ले परमा भाई। ऐसे लोगों को तो कोटे में सरकारी नौकरी मिल ही जाती है। ज़िन्दगी आराम से कट जाएगी।”

अपने स्कूल के काम को भूल मैं यह सब बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। उन सज्जनों का बार-बार मुझे अपाहिज कहना और यह दर्शाना कि मैं एक बोझ की तरह हूँ मुझे बेहद अखर रहा था। ये तमाम बातें मेरे लिए असहनीय हो चली थीं। जब बाहर के लोग मौजूद हों तो मैं घर में उनके सामने चारों हाथ-पैरों पर नहीं चलता था। जैसे-जैसे मेरी आयु बढ़ रही थी मैं अपनी गरिमा के प्रति अधिकाधिक सतर्क होता जा रहा था। अपने परिवार के सदस्यों के बीच मैं वैसे ही चारों-हाथ पैरों पर चलता था (क्योंकि मेरे लिए यही सबसे सरल था) लेकिन बाहर के लोगों के सामने मैं इस तरह चलने से जहाँ तक हो सके बचता था। लेकिन कोठार में हो रही ‘दया’ की बारिश मेरे मन पर अंगारों की तरह बरस रही थी। मुझसे रहा नहीं गया और मैं अपने को फ़र्श पर घसीटता हुआ कमरे से निकल आया।



वह दिन मेरे जीवन में एक बहुत महत्वपूर्ण दिन था। उस दिन मैंने कई ऐसे निर्णय लिए जिनके कारण मेरे जीवन की दिशा तय हुई।

मैंने तय किया कि मैं किसी साइकिल या व्हीलचेयर का सहारा नहीं लूँगा और अपने बल पर बैसाखियों के सहारे चलूँगा। व्हीलचेयर पर मैं तभी बैठूँगा जब शरीर का दर्द और थकान इतना अधिक हो जाएगा कि चलना संभव ही न रहे।

मैंने यह भी तय किया कि मैं कभी विकलांगता कोटे वाली नौकरी नहीं करूँगा। इस बात का एहसास मुझे हो गया था कि चाहे मैं अपनी योग्यता के बल पर ही कोई सरकारी नौकरी क्यों न हासिल करूँ, लेकिन यह समाज मुझे हमेशा ही 'विकलांगता कोटे' का व्यक्ति मानेगा। मैंने तय किया कि जहाँ तक संभव होगा मैं विकलांगता कोटे का प्रयोग नहीं करूँगा और किसी सरकार, संस्था या व्यक्ति से इस आधार पर मदद नहीं लूँगा कि मैं विकलांग हूँ।

वह दिन इस कारण से भी महत्वपूर्ण था क्योंकि उस दिन से समाज के साथ मेरा कभी न खत्म होने वाला एक संघर्ष शुरू हो गया था। विकलांगता के प्रति समाज के रवैए से मैं पहले ही बहुत आहत था, लेकिन उस दिन के बाद से मैंने इस सामाजिक रवैए के खिलाफ संघर्ष करने का पक्का मन बना लिया। अब मेरा लक्ष्य समाज को हर वह चीज़ हासिल करके दिखाना था जिसके क्राबिल समाज ने मुझे कभी माना ही नहीं।

मुझे इस बात का बहुत दुख था कि हमारा समाज और व्यवस्था इतनी आसानी से, बिना कुछ सोचे-समझे, विकलांग व्यक्तियों को दरकिनार कर देती है। समाज को लगता है कि विकलांग व्यक्तियों के बिना भी दुनिया आराम से चल रही है, सब काम हो रहे हैं, इसलिए ऐसे व्यक्तियों को सक्षम बनाने की कोई ज़रूरत ही नहीं है।

मैं इस समाज को स्वस्थ और प्रगतिशील मानता यदि एक अर्थहीन जीवन बिताने का सुझाव देने के बजाय मुझे हिम्मत व प्रेरणा दी जाती कि ललित तुम आगे बढ़ो, प्रकृति ने तुमसे बहुत कुछ छीन लिया है... लेकिन अभी भी तुममें बहुत योग्यताएँ हैं। अपनी क्षमताओं को निखारो और खुद के लिए व अन्य लोगों के लिए एक अर्थपूर्ण जीवन जिओ।

अभी कुछ दिन पहले एक रोचक घटना हुई। मेरे वर्तमान दफ़्तर में काम करने वाला एक व्यक्ति किसी कारणवश पूरे स्टाफ़ से एक कागज़ पर दस्तखत करवा रहा था। कागज़ पर सभी कर्मचारियों के नाम और पद छपे हुए थे। चूँकि मैं दफ़्तर में नया था, वह व्यक्ति मेरा नाम और पद नहीं जानता था। वह मेरे पास आया और 'साइन कर दो' कहते हुए, उसने मुझे वह कागज़ थमा दिया जिस पर सबके नाम छपे थे। कागज़ हाथ में लेकर मैं अपना नाम सूची में खोजने लगा।

"एल.डी.सी. में देखो", मुझे नाम खोजते देखकर उसने सहायता के लहज़े में सुझाव दिया (एल.डी.सी. का अर्थ होता है लोअर डिविज़नल क्लर्क।)

मैंने कहा, "मैं एल.डी.सी. नहीं हूँ।"

उसने जवाब में कहा, "तो यू.डी.सी. में देख लो।" (यू.डी.सी. अर्थात् अपर डिविज़नल

क्लर्क।)

मैंने कहा, “मैं यू.डी.सी. भी नहीं हूँ।”

“तो क्या हो?” उसने पूछा

...तभी मुझे अपना नाम दिख गया और मैंने चुपचाप हस्ताक्षर कर दिए...हस्ताक्षर लेने के बाद वह व्यक्ति चला गया। उसके जाने के बाद मैंने सोचा कि उसने क्यों अपने-आप यह मान लिया कि मैं एल.डी.सी. हूँ और बहुत हुआ तो यू.डी.सी. हूँ? पास में रखी बैसाखियों ने मुझे इसका जवाब दे दिया और मुझे वही दिन याद आ गया जब मुझे सुझाव दिया गया था कि टाइपिंग सीख लो और विकलांगता कोटे के ज़रिए किसी सरकारी दफ़्तर में क्लर्क बन जाओ। ज़िन्दगी आराम से कट जाएगी। हस्ताक्षर लेने आए व्यक्ति ने भी शायद मेरी बैसाखियों को देखकर यही सोचा कि मैं क्लर्क होऊँगा। क्लर्क होना बुरा नहीं है, लेकिन एक विकलांग व्यक्ति केवल क्लर्क ही हो सकता है, आम लोगों का यह विश्वास मुझे कष्ट देता है।

मुझे बार-बार यह एहसास दिलाने के बजाय कि मैं अपाहिज हूँ, यदि यह समाज मुझे उत्साह के साथ जीने और समस्याओं से संघर्ष करने के लिए प्रोत्साहित करता तो यह समाज कहीं अधिक सुंदर, सभ्य व प्रगतिशील लगता।

मेरे वजूद का रिश्ता ही आसमान से है  
न जाने क्यों उन्हें शिकवा मेरी उड़ान से है  
मुझे ये ग़म नहीं शीशा हूँ हथ्र क्या होगा  
मेरी तो जंग-ए-अना ही किसी चट्टान से है  
—अज़ीज़ आज़ाद

## अलग-थलग कर दिया जाना

किसी शादी का आयोजन है। परिवार के अन्य सदस्यों के साथ मैं भी वहाँ पहुँचा हूँ। ख़ूब सारे लोग वहाँ जुटे हैं और हर कोई व्यस्त है। लोग एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं, सब तरफ़ खुशी का माहौल है। मैं एक कमरे में बैठा हूँ जहाँ और भी बहुत-से पुरुष बैठे हैं व आपस में बातचीत में मशगूल हैं। तभी बाहर से फ़रमान आता है कि स्त्रियों को इस कमरे की आवश्यकता है, इसलिए सभी पुरुष दूसरे कमरे में चले जाएँ। अन्य सब लोगों के साथ मैं भी उठने लगता हूँ।

“अरे तू यहीं बैठा रह भाई। कहाँ हमारे साथ चलेगा! गिर-गिरा पड़ेगा”, मुझे खड़ा होता

देख कई लोग एक साथ बोल पड़ते हैं।

“नहीं, मैं चल लूँगा... मुझे भी आपके साथ बाहर जाना है”, मैं उत्तर देता हूँ।

“ना ना, यहीं आराम से बैठ।”

इतने बड़े व आदरणीय लोगों के बीच मेरी आवाज़ को दबा दिया जाता है। सभी लोग मुझे कमरे में अकेला छोड़कर बाहर कहीं चले जाते हैं, और कुछ ही पलों में पूरा कमरा स्त्रियों से भर जाता है। स्त्रियाँ कमरे में मेरी उपस्थिति के प्रति बिल्कुल सहज नहीं हैं और मेरी हालत तो पूछिए ही मत। ऐसा लग रहा है कि शर्मिंदगी के मारे फ़ना हो जाऊँ।

यह दृश्य मेरे साथ जाने कितनी बार घटित हुआ है। समाज सबको साथ लेकर चलना नहीं चाहता। यहाँ जो भी सामान्य से थोड़ा अलग है, उसे साइड में हटा दिया जाता है। लोग केवल अपने जैसों के बीच रहना चाहते हैं। धर्म, जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र, रंग इत्यादि जाने कितनी ही कैंचियों से कटा यह समाज मेल-जोल को बढ़ावा नहीं देता। विकलांगता और बीमारी भी ऐसी ही कैंची है। समाज विकलांगों और बीमारों को अपने जैसा नहीं मानता और उन्हें अपने साथ नहीं रखना चाहता।

जिस दृश्य की मैंने ऊपर बात की... उसमें समाज को चाहिए कि इस बात का भी ध्यान रखे कि मैं कहाँ और कैसे सहज रहूँगा। यदि आप इस बात का ध्यान नहीं रखना चाहते तो कम-से-कम मुझे तो मत बाँधिए... अगर मुझे गिरना होगा तो वह मेरी समस्या है। मैं कहाँ जा सकता हूँ और कहाँ नहीं... क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं... क्या कोई अन्य व्यक्ति इस बात को मुझसे बेहतर समझ सकता है? इस तरह की स्थितियों में मैंने हमेशा चाहा कि काश मुझसे मेरी मर्ज़ी भी पूछी जाए।

आदर्श स्थिति तो यह होगी कि समाज खुद ही एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करे जिसमें सब लोग सक्षम हों। आदर्श स्थिति तो यह हो कि ऐसी व्यवस्था की जाए जिसमें विकलांग व्यक्ति भी सबके साथ रह सकें... और कोई भी पीछे छूटा हुआ महसूस न करे।

## किताबें पढ़ने का शौक़

मिडिल स्कूल के दौरान पुस्तकें पढ़ने में मेरी रुचि जागी। मैंने हर विषय की पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दिया। उस समय मेरे सबसे प्रिय विषय हिंदी कॉमिक्स, विज्ञान और वैज्ञानिक हुआ करते थे। हिंदी कॉमिक्सों ने मेरे पढ़ने की आदत को पोषित किया।

चरण सिंह के घर में उसके पापा व अन्य लोग कॉमिक्स खूब पढ़ा करते थे। उनकी टेंट-हाउस की दुकान से सामने ही एक दुकान थी जहाँ से कॉमिक्स उन्हें मिल जाया करती थी। वह दुकान मेरे रास्ते में भी पड़ती थी, सो मैं भी वहाँ से कॉमिक्स किराए पर लेकर पढ़ता था। एक

कॉमिक्स को एक दिन अपने पास रखने का किराया शुरू में पच्चीस पैसे था, बाद के वर्षों में यह पचास पैसे से होता हुआ एक रुपए तक जा पहुँचा। हम बच्चों के पास इतने पैसे होते नहीं थे कि हम ख़ूब सारी कॉमिक्स किराए पर ले सकें, ऐसे में घर के बड़ों का कॉमिक्स पढ़ने का शौक हमारे काम आता था। चरण सिंह के पापा और एक अन्य सहपाठी दीपक के भाईसाहब बाज़ार से ख़ूब कॉमिक्स ख़रीदते थे। मुझे भी ये कॉमिक्स चरण और दीपक के ज़रिए पढ़ने को मिल जाती थीं।

मेरी ही तरह चरण, दीपक और अन्य कुछ सहपाठियों को कॉमिक्स पढ़ने का बेहद शौक था। हम आपस में कॉमिक्स बाँटकर पढ़ते थे। बाद में धीरे-धीरे मेरे पापा, चाचा और किशोर को भी कॉमिक्स पढ़ना अच्छा लगने लगा तो कभी-कभी हमें भी घर से कॉमिक्स किराए पर लाने के लिए पैसे मिलने लगे। मेरे पास हालाँकि इतने पैसे नहीं होते थे कि मैं कोई कॉमिक्स आसानी से ख़रीद सकूँ। एक कॉमिक्स पाँच रुपए की आती थी। इतने रुपए एक कॉमिक्स पर खर्च करने के बजाय मैं दस कॉमिक्स किराए पर लेकर पढ़ लेता था।

वैसे तो हम कॉमिक्स वर्ष भर पढ़ा करते थे, लेकिन स्कूल के काम के साथ-साथ कॉमिक्स पढ़ पाना काफ़ी मुश्किल होता था। इसलिए हम बेचैनी से गर्मियों की छुट्टियों का इंतज़ार करते थे। दो महीने की इन छुट्टियों से महीना भर पहले ही हम कॉमिक्स जुटाने और छुट्टियों में कुछ नया करने की योजनाएँ बनाने में जुट जाते थे। गर्मियों की छुट्टियों के पहले ही दिन हम पचास-पचास कॉमिक्स लेकर बैठ जाते और कुछ ही दिन में सब पढ़ डालते।

कॉमिक्सों के अलावा बच्चों की हिंदी पत्रिकाओं को भी मैं ख़ूब पढ़ता था। मैंने अख़बार वाले से हर महीने 'नंदन' और 'चंपक' पत्रिकाएँ देने को कहा हुआ था। 'चंदामामा', 'सुमन सौरभ', 'लोटपोट', 'पराग' इत्यादि पत्रिकाएँ भी ख़ूब पढ़ीं। बाद के वर्षों में 'सरिता', 'कादंबिनी' आदि पत्रिकाएँ भी पढ़ीं। पढ़ने का इतना शौक था कि जो भी अख़बार/किताब/पत्रिका/कॉमिक्स हाथ लग जाए, उसे मैं पढ़ डालता था। शर्त केवल यह थी कि सामग्री हिंदी में होनी चाहिए। उस समय मुझे ज़रा भी अँग्रेज़ी नहीं आती थी।

## रचनात्मक कोशिशें

नई रचना करना और पहले से उपलब्ध चीज़ों को बेहतर बनाने की कोशिश मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्कूल की छुट्टियों के दौरान मैं कुछ न कुछ नया, रचनात्मक और 'बड़ा' काम करने की कोशिश करता था।

मनोज कॉमिक्स के किरदार क्रुकबॉन्ड की सुपर कार से मैं बहुत प्रभावित हुआ। यह एक ऐसी कार थी जो दौड़ने के साथ-साथ तैर और उड़ भी सकती थी। मैंने ऐसी ही एक कार बनाने

की कल्पना की। कई दिन तक मैं इस उधेड़बुन में लगा रहा कि कार कैसे बनाई जाए। धीरे-धीरे जब उपलब्ध संसाधनों का ध्यान आया तो मालूम हुआ कि ऐसी कार बनाना मेरे लिए संभव नहीं था। सो, मैंने क्रुकबॉन्ड की कार जैसी ही दिखने वाली एक खिलौना कार बनाने की सोच ली। मैंने काफ़ी मोटे गत्ते से क्रुकबॉन्ड की कार का एक मॉडल तैयार किया जो करीब 11-12 इंच लंबा और करीब 5 इंच चौड़ा था। इस मॉडल में किसी कबाड़ी से लेकर पहिए लगाए। कार पर काला पेंट किया। फिर एक सहपाठी से बड़ी मिन्नतें करके एक छोटी-सी मोटर हासिल की। मोटर में एक गिरारी फ़िट की... दूसरी गिरारी कार के पिछले पहियों की शॉफ़्ट में लगाई और मोटर को ऐसे बिठाया कि दोनों गिरारियाँ आपस में जुड़ जाएँ। फिर मोटर के साथ दो बैटरी सेल लगाए और मोटर को चलाया। कार चली तो सही, लेकिन वैसे नहीं जैसे मैंने सोचा था। मोटर और गत्ते के वज़न के कारण कार का वज़न मोटर की ताक़त के मुक़ाबिले ज़्यादा था। जब मैं कार के वज़न को कम करने की तरकीबें सोचने में लगा हुआ था तो छुट्टियाँ समाप्त हो गई और स्कूल शुरू होते ही कार पर काम बंद करके उसे शोकेस में सजा दिया गया।

एक बार मैंने और चरण सिंह ने मिलकर पेरिस के एफ़िल टॉवर का मॉडल बनाया। चरण और मैं अपने-अपने घर पर दो अलग-अलग मॉडल बना रहे थे। मेरा मॉडल पतले गत्ते से बना था। मॉडल की ऊँचाई साढ़े-तीन फ़ुट और इसका आधार दो वर्ग फ़ीट का था। मॉडल बनाने के लिए मैंने एफ़िल टॉवर के एक फलक की ड्रॉइंग चार्टपेपर पर बनाई। इस ड्रॉइंग में एफ़िल टॉवर की जालियाँ भी साफ़-साफ़ बनाई गई थीं। ड्रॉइंग पूरी होने के बाद चार्टपेपर में से इसे काट लिया और जालियाँ भी शेविंग ब्लेड से काट-काटकर निकाल ली गईं। अब मेरे पास एफ़िल टॉवर के एक फलक का साँचा (स्टेन्सिल) मौजूद था। इस साँचे के मदद से पतले गत्ते की शीट से टॉवर के एकदम समान चार फलक बनाए और उन्हें आपस में जोड़कर टॉवर बना दिया। गत्ते की शीट में जालियाँ काटने में मुझे दसियों दिन लग गए। इसके लिए भी मैंने पापा की शेविंग किट में पड़ी इस्तेमाल की जा चुकी ब्लेडों का प्रयोग किया। ब्लेड से जालियाँ काटते-काटते मेरी सारी उँगलियाँ बुरी तरह से कट-फट गईं, लेकिन जुनून ऐसा था कि उँगलियों पर कपड़ा बाँधकर भी मैंने जालियों की कटाई जारी रखी।

गत्ते के चार फलकों को जोड़कर टॉवर बना लेने के बाद टॉवर का ऊपरी हिस्सा अलग से बनाकर टॉवर से जोड़ दिया। इसके बाद मैंने इस टॉवर पर सिल्वर पेंट किया। यह मॉडल कई बरसों तक हमारे घर में रखा रहा। घर में आने वाले हर व्यक्ति को पापा यह मॉडल दिखाते थे।

ऐसी ही किन्हीं गर्मी की छुट्टियों के दौरान मैंने मिट्टी से भी कुछ बनाने की कोशिश की। मैंने विज्ञान की किताब में ग्रीन हाउस प्रभाव के बारे में पढ़ा था, सो मैंने एक गमले में छोटा-सा ग्रीन हाउस भी बनाने की कोशिश की, इसमें हालाँकि धनियाँ और पालक के अलावा कुछ नहीं था।

आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते मैंने स्कूल के लिए मिलने वाले पैसे जोड़कर बाज़ार से किताबें लेकर पढ़ना शुरू कर दिया था। मैं कबाड़ी से पुरानी किताबें भी खरीदता था, क्योंकि

उससे किताबें सस्ती मिल जाती थीं। कुछ पुरानी किताबें भी खरीदी थीं और इन सबको मैं जिगर के टुकड़े की तरह सँभालकर रखता था।

गर्मियों की छुट्टियों में मैंने अपनी तीस-चालीस किताबों की लाइब्रेरी बना ली। हर किताब को एक नंबर दिया। उसमें एक कार्ड रखा। मोहल्ले के बच्चों और स्कूल के सहपाठियों को मैं अपनी किताबें बिल्कुल एक लाइब्रेरी व्यवस्था के तहत देता था। जो मुझसे पढ़ने के लिए किताब लेना चाहे उसे मैं एक कार्ड बनाकर देता था और उस कार्ड से ही उसे किताब मिलती थी। अपनी लाइब्रेरी का नाम मैंने 'स्टार लाइब्रेरी' रखा था। चूँकि सुपर कमांडो ध्रुव मेरा चहेता सुपर हीरो था, इसलिए मैं अक्सर उसके नाम और चिह्न का प्रयोग किसी न किसी रूप में करता ही रहता था।

## स्कूल में गालियाँ

मैं एक और मामले में अपने अधिकतर सहपाठियों से अलग था। मैं स्कूल में उन गिने-चुने छात्रों में से था जो गाली नहीं देते थे। हालाँकि जो प्राइमरी स्कूल में गाली नहीं देते थे, उनमें से कई छात्रों ने भी बाद की कक्षाओं में गाली देना शुरू कर दिया...लेकिन मैंने कभी गाली नहीं दी। घर में माँ-पापा, अम्मा-बाबा ने जो सिखाया और जिस तरह से अनुशासित रखा, उसका नतीजा था कि मैंने कभी गाली नहीं दी। एक बार जब यह समझ आ गया कि गाली देना बुरी बात है, उसके बाद तो किसी अनुशासन की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। मेरी कोशिश रही कि मैं अपने भीतर केवल अच्छे गुणों को विकसित करूँ।

गाली देने के यूँ तो बहुत-से नुकसान हो सकते हैं, लेकिन सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि इससे आपकी भाषा और आपका व्यक्तित्व नहीं निखर पाता। जब किसी के मुँह से गालियाँ निकलती हैं तो सुनने वाले उससे किनारा कर लेते हैं। सामाजिक शिष्टाचार के चलते चाहे कोई ऐसे लोगों से बातचीत बंद न भी करे, लेकिन कोई भी व्यक्ति गाली देने वाले लोगों का साथ पसंद नहीं करता। आपका शारीरिक व्यक्तित्व चाहे कितना भी शानदार क्यों न हो, लेकिन यदि आप गाली देंगे तो आपकी चमक तुरंत गायब हो जाएगी।

मैं जिन स्कूलों में पढ़ा उनमें अधिकांश बच्चे गाली देते थे, बात-बात पर गाली उनके मुँह से बेसावधानी निकलती थीं। उनके पास परंपरागत और नई खोजी गई गालियों का भंडार था जिसे वे खुले दिल से लुटाते थे। हिंदी में ऐसी कोई गाली नहीं थी जिसे प्राइमरी स्कूल के बच्चे प्रयोग न करते हों। ऐसा नहीं कि ये बच्चे केवल गुस्सा होने पर गालियाँ देते थे, गाली देना दरअसल उनकी सामान्य बोलचाल का हिस्सा था।

ये बच्चे जैसे-जैसे बड़े होते हैं, गाली देना उनकी आदत बन जाती है और यह आदत उनके व्यक्तित्व की परिभाषा में शामिल हो जाती है। मेरे ख्याल में किसी भी व्यक्ति की भाषा उसके

व्यक्तित्व का सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण अंग होती है। खराब भाषा किसी के भी विकास में बाधा डाल सकती है।

आज भी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि स्थिति पहले के मुकाबिले बदतर हुई है। स्कूल के विद्यार्थियों के बीच गालियों के आदान-प्रदान का चलन बहुत चिंताजनक है और समाज को इसे गंभीरता से लेना चाहिए। माता-पिता को अपने बच्चों की भाषा पर पूरा ध्यान देना चाहिए और शिक्षकों को भी विद्यार्थियों की भाषा के प्रति सचेत रहना चाहिए। कारण-अकारण भद्दी गाली देने वाले लोग जीवन के कुछ पैमानों पर भले ही सफल हो जाएँ, लेकिन वे अच्छे इंसान नहीं बन सकते।

## सबके साथ जुड़ने की इच्छा

सातवीं और आठवीं कक्षा के दौरान मैं और चरण सिंह स्कूल के समाचार बोर्ड पर प्रतिदिन मुख्य समाचार लिखते थे। चरण की लिखाई बहुत सुंदर थी— सो, अधिकांशतः लिखाई का काम वही करता था। कभी-कभी मैं भी समाचार लिख दिया करता था। वैसे मेरा काम समाचार ढूँढ़ना, चुनाव करना और चरण को लिखने में मदद देना होता था। समाचार लिखने का काम हम प्रार्थना-सभा के दौरान किया करते थे। जब प्रार्थना-सभा चल रही होती थी, उस समय हम चॉक से लिखे पिछले दिन के समाचारों को बोर्ड से मिटाकर नए समाचार लिख देते थे।

लिखाई सुंदर होने के कारण यह काम अध्यापकों ने वैसे तो चरण को ही सौंपा था। स्कूल में मुझे कभी किसी काम के लायक नहीं माना गया। चूँकि मैं वैसे भी प्रार्थना-सभा में नहीं जाता था, इसलिए मैं खुद ही चरण की मदद करने लगा। फिर जब वह कुछ दिन स्कूल नहीं आया तो समाचार मैंने ही लिख दिए। इस तरह मैं इस काम से जुड़ गया।

मैं खुद को स्कूल, अध्यापकों व अपने सहपाठियों से जुड़ा हुआ महसूस करना चाहता था। मैं चाहता था कि मैं हर काम में हाथ बटाऊँ, लेकिन अध्यापकों का मेरे प्रति रवैया बस यही रहा कि यह कुछ नहीं कर सकता। समाचार लिखते समय चरण के पास खड़े होकर उसे मदद देते हुए मुझे हमेशा डर लगा रहता था कि अभी कोई अध्यापक आकर कह देंगे कि :

“अरे, तू क्यों ये कर रहा है, जाकर बैठ जा।”

“भगवान ने पहले ही तुझे अपाहिज बनाया है, ये सब क्यों कर रहा है। चल जा क्लास में बैठ।”

“अरे तू रहने दे, चरण सिंह कर लेगा।”

“तुम यहाँ क्यों खड़े हो? गिर जाओगे।”

कई बार विभिन्न अध्यापकों ने ये बातें मुझसे कहीं। इस तरह की बातें अध्यापकों के मुँह से

सुनना मेरे लिए आम बात थी। वे किसी भी काम के लिए मुझे उपयुक्त नहीं मानते थे। कभी उन्होंने मुझे कुछ भी करने की हिम्मत नहीं दी।

अध्यापकों की नज़र से देखें तो मैं बस एक बेचारा बच्चा था जिसके व्यक्तित्व और भविष्य को सँवारना उनके कर्तव्य की परिधि से बाहर की चीज़ें थीं। यह सच है कि मैं बहुत से काम नहीं कर सकता था, पर जो काम मैं कर सकता था उन कार्यों से तो मुझे जोड़ा जा ही सकता था।

...समाज विकलांग लोगों को हर तरह से विकलांग मान लेता है...पूरी तरह से अनुपयोगी!

## मिडिल स्कूल के बारे में कुछ और बातें

यूँ तो हमारा मिडिल स्कूल अच्छा-खासा और साफ़-सुथरा था, लेकिन पीने का पानी इस स्कूल में भी ठीक से उपलब्ध नहीं था। मुझे आश्चर्य होता है कि स्कूल-प्रशासन पीने के पानी जैसी मूलभूत आवश्यकता को कैसे नज़रअंदाज़ कर दिया करता था। पीने के पानी के लिए स्कूल के एक कमरे में सीमेंट की बड़ी-सी गोल टंकी रखी थी। टंकी तो थी, लेकिन उसमें से अक्सर पानी नदारद रहता था; और जब पानी होता था तो भी उसमें लगे नल से बहुत धीमे-धीमे निकलता था। टंकी में नल इतना नीचे लगा था कि पानी पीने के लिए बैठना पड़ता था। मेरे लिए यही समस्या प्राइमरी स्कूल में भी होती थी। अन्य बच्चे तो बैठकर पानी पी लेते थे, पर मैं बैठ नहीं पाता था। झुककर किसी तरह नल से दो घूँट पानी पीने के चक्कर में कितनी ही बार मेरी कमर की माँसपेशियों में खिंचाव आया था। गर्मियों में जब बच्चों से प्यास बर्दाश्त नहीं होती थी तो हम स्कूल के पास बने बिजली दफ़्तर में जाकर पानी पीते थे। वहाँ बिजली दफ़्तर के लोग स्कूल के बच्चों को अपनी टंकी से पानी पीने की इजाज़त दे दिया करते थे।

मिडिल स्कूल में एक नया विषय 'समाजोपयोगी उत्पादक कार्य' (एस. यू.पी.डब्ल्यू.) के पीरियड के रूप में हमारे सामने आया। एस.यू.पी.डब्ल्यू. को हम 'सूपा' कहा करते थे। इस विषय को स्कूलों में लाने के पीछे की मंशा यह थी कि बच्चों में मिल-जुलकर काम करने की भावना और समाज के लिए कुछ करने की इच्छा जागे। पूरे हफ़्ते में सूपा का बस एक पीरियड होता था, हमें कभी भी सूपा के बारे में कुछ नहीं बताया गया। जो हम करते थे वह करने के लिए हमें कभी प्रेरित नहीं किया गया। बहुत-से स्कूली प्रयासों की तरह सूपा भी एक अच्छा, लेकिन खराब तरह से अपनाया गया प्रयास था। मिडिल स्कूल के तीन वर्षों के दौरान सूपा के हर पीरियड में बच्चों को केवल पौधों को पानी देने, खरपतवार निकालने और पौधों के आस-पास की मिट्टी को हल्का-हल्का खोदने का काम दिया जाता। पौधों से संबंधित यह काम भी केवल वही मुट्ठी भर बच्चे करते थे जो सूपा अध्यापक की पकड़ में आ जाते थे। अधिकांश बच्चों के लिए यह आराम का पीरियड होता था। मैं इस पीरियड के दौरान कुछ करना चाहता था, लेकिन



‘तुम गिर जाओगे’ के चलते मुझे अलग-थलग रखा जाता। मैंने कई बार अध्यापकों से कहा भी कि आप मुझे कोई ऐसा काम दे दीजिए जो मैं बैठकर कर सकूँ, लेकिन अध्यापकों ने इस बारे में कुछ सोचने के बजाय मुझे अलग-थलग रखना ही बेहतर समझा।

फिर भी मिडिल स्कूल के अध्यापकों का व्यवहार प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों से बेहतर था। उन दिनों टी.वी. पर बी.आर. चोपड़ा निर्मित ‘महाभारत’ और रामानंद सागर निर्मित ‘रामायण’ धारावाहिक आया करते थे। हमारे गणित के अध्यापक हर एपिसोड से पहले ‘महाभारत’ और ‘रामायण’ की कहानी सुनाया करते थे। हमारी सारी पढ़ाई किताबी थी और उसका उद्देश्य केवल परीक्षा में अंक हासिल करना होता था, इसलिए स्कूल में नाम के लिए बनी छोटी-सी प्रयोगशाला और लाइब्रेरी का हमें कभी प्रयोग नहीं करने दिया गया।

मिडिल स्कूल के दिनों में मुझे पच्चीस पैसे जेब-खर्च के लिए मिलते थे। हमारे स्कूल के ठीक सामने एक बेकरी थी, जहाँ से मैं आधी छुट्टी के दौरान सौंफ-रस्क खरीदकर खा लेता था। पच्चीस पैसे में दो रस्क आते थे। इन सूखे रस्कों को चबा-चबाकर खाने में काफ़ी समय लगता था, लेकिन मुझे वे सूखे रस्क भी खूब अच्छे लगते थे। कभी-कभी ज़्यादा भूख लगने पर मैं रस्क की जगह बेकरी से ‘फैन’ का चूरा ले लेता था। चूरा कोई खरीदता नहीं था, इसलिए बेकरीवाला पच्चीस पैसे में कुछ अधिक चूरा दे देता था।

आठवीं कक्षा में मैंने ‘रामचरितमानस’ पूरा पढ़ लिया था। मेरे पास ‘रामचरितमानस’ की एक ऐसी कॉपी थी जिसमें मूल अवधी के साथ-साथ हिंदी अनुवाद भी दिया गया था। मैं अवधी पढ़कर हिंदी अनुवाद पढ़ता था ताकि बात को समझ सकूँ। ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ का हिंदी अनुवाद भी मैंने पढ़ा। स्कूल में सहपाठी कहते थे कि तू क्या बुढ़ों वाली किताबें पढ़ता रहता है। इसके जवाब में मैं कहता था कि इन किताबों में जीवन जीना सिखाया गया है, पूरा जीवन गुज़र जाने के बाद बुढ़ापे में इन्हें पढ़ने से क्या लाभ? पढ़ना है तो तब पढ़ो जबकि पूरा जीवन सामने हो!

जब मैं आठवीं कक्षा में पहुँचा तो किशोर का दाखिला भी उसी स्कूल की छठी कक्षा में करा दिया गया। पहले मैं अकेले स्कूल आता-जाता था, लेकिन आठवीं कक्षा में किशोर के साथ आ जाने से राहत मिली।

## मिडिल स्कूल की समाप्ति

मिडिल स्कूल के तीन वर्ष कैसे बीत गए कुछ पता ही नहीं चला। उस स्कूल में बिताए वे तीन वर्ष मेरी शिक्षा के दौरान सबसे अच्छा समय रहा। बचपन को पीछे छोड़ किशोरावस्था में क़दम रखते हुए, मैं अपनी विकलांगता के साथ सहज होने की कोशिशें करता रहा। मेरी ओर से पूरी कोशिश

रही कि मैं विकलांगता को भुलाकर जीवन-पथ पर जितना संभव हो उतना सामान्य तरीके से आगे बढ़ता रहूँ, लेकिन समाज की सोच में कोई बदलाव नहीं आया। ऐसा कुछ-न-कुछ रोज़ हो ही जाता था जो मेरे मन को तोड़ देता। मैं रोज़ रात को स्वयं का पुनर्निर्माण करता था ताकि अगले दिन अपने परिवार, आस-पड़ोस, गली-बाज़ार में चलते लोगों, दुकानदारों, रिश्तेदारों, सहपाठियों, अध्यापकों इत्यादि का सामना फिर से कर सकूँ।

आठवीं कक्षा के नतीजे आ गए और मैं कक्षा में तीसरे या चौथे स्थान पर आया। मिडिल स्कूल के दौरान हर कक्षा में चरण सिंह प्रथम आता रहा। उसके अंक मुझसे इतने अधिक होते थे कि मैं तो उसके अंकों के आस-पास आने के बारे में भी नहीं सोच सकता था।

...लेकिन भविष्य में एक दिन ऐसा भी आया जब चरण को पीछे छोड़ने का असंभव कार्य मैंने संभव कर दिखाया!

## कुतुब स्कूल में दाखिला

आठवीं कक्षा से आगे की पढ़ाई के लिए हमारे घर के आस-पास कोई स्कूल नहीं था। सबसे नज़दीकी स्कूल हमारे घर से करीब डेढ़ किलोमीटर दूर कुतुब मीनार के ठीक सामने बना हुआ था। उस स्कूल में अन्य कक्षाओं के अलावा नौवीं से लेकर बारहवीं तक की कक्षाएँ भी लगती थीं। हालाँकि स्कूल डेढ़ किलोमीटर दूर था, लेकिन यदि मुझे आगे पढ़ना था तो मेरे पास और कोई विकल्प नहीं था। इसलिए मैंने दिल्ली नगर निगम के इस स्कूल में दाखिला ले लिया।

इस स्कूल की इमारत बिल्कुल उसी तरह की थी जैसी मिडिल स्कूल की थी, लेकिन यह उतना साफ़-सुथरा नहीं था। यहाँ महरौली के अलावा आस-पास के अन्य गाँवों के छात्र भी पढ़ने आते थे। यह स्कूल केवल छात्रों के लिए था और सुबह की शिफ्ट में लगता था, इसलिए समय पर स्कूल पहुँचने के लिए मुझे घर से करीब साढ़े छह बजे निकलना होता था।

## रोज़ाना तीन किलोमीटर पैदल आना-जाना

रोज़ाना करीब तीन किलोमीटर पैदल चलना मेरे लिए एक भयानक चुनौती थी। उस समय मैं दो बैसाखियों से और बिना कैलिपर के चला करता था। अपनी बारह वर्ष की स्कूली पढ़ाई के दौरान मैंने बैसाखियों और कैलिपर के साथ कई बार बदलाव किए। कभी एक बैसाखी प्रयोग की और

कभी दो... कभी कैलिपर प्रयोग किया और कभी नहीं। यह सब इस बात पर निर्भर करता था कि किस अवस्था में मैं कितना आराम से चल पाता था।

महरौली से कुतुब स्कूल जाने वाले अधिकांश छात्र भूल-भुलैया के पास से बस ले लिया करते थे। इससे उन्हें क़रीब आधा रास्ता पैदल तय नहीं करना पड़ता था, लेकिन मेरे लिए इन बसों में चढ़ पाना न केवल बहुत मुश्किल बल्कि काफ़ी खतरनाक भी था। इसलिए मैं पैदल जाने का विकल्प ही चुनता था।

रोज़ाना तीन किलोमीटर का रास्ता तय करना मेरे शरीर पर भारी पड़ता था। सुबह स्कूल पहुँचते-पहुँचते और दोपहर को घर आते-आते मैं इतना अधिक थक जाता था कि कई बार तो स्कूल के गेट और घर की दहलीज़ पर ही थकान के मारे गिर जाता था। दोपहर में माँ मेरे लिए एक जग रूह-अफ़जा शर्बत पहले से ही तैयार रखती थी। यह जग बर्फ़ से लबालब भरा होता था और घर के भीतर आते ही मैं पूरा जग शर्बत पी जाता था। चलते समय खर्च होने वाली ऊर्जा और इससे निकलते पसीने के कारण घर पहुँचते-पहुँचते मेरा शरीर बुरी तरह से डिहाइड्रेट हो चुका होता था। ऐसी स्थिति में बर्फीले पानी की पहली घूँट की ठंडक मेरे दिमाग़ को करंट की तरह लगती थी। माँ कहती थी कि मैं थोड़ा रुककर, पसीना सुखाकर पानी पिऊँ— लेकिन उस समय मेरे शरीर को पानी की सख़्त आवश्यकता होती थी, इसलिए मैं रुक नहीं पाता था।

यह सब इसके बावजूद था कि स्कूल से घर आते समय मैं रास्ते में पड़ने वाले प्याऊ से ख़ूब पेट भर कर पानी पी लेता था। रास्ते में अगर ये प्याऊ न होते तो जाने मेरा क्या हाल होता। स्कूल से घर तक का रास्ता मैं कई चरणों में तय करता था। चेहरे से पसीना पोंछने, थककर दर्द करने लगी माँसपेशियों को आराम देने और उखड़ चुकी साँस को कुछ सामान्य करने के लिए मैं बीच-बीच में ठहर जाता था। मन करता था कि जहाँ रुक गया वहाँ से आगे न बढ़ूँ, बस वहीं पर गिर जाऊँ...लेकिन मैं अधिक देर नहीं रुक सकता था, क्योंकि इससे माँसपेशियाँ शिथिल हो जाती थीं और उन्हें दोबारा चलाने में अतिरिक्त मशक्कत करनी पड़ती थी। इसलिए जैसे ही मेरी साँस सामान्य होती थी, मैं फिर से चल पड़ता था।

दोपहर को स्कूल से चलने के बाद मेरा पहला लक्ष्य कुतुब परिसर की दीवार के पास बने एक पुराने-सूखे कुएँ तक पहुँचना होता था। इस कुएँ कि मुँडेर पर कुछ पल सुस्ताने के बाद मैं योगमाया मंदिर के अगले पड़ाव की ओर चल पड़ता। सूखे कुएँ और योगमाया मंदिर के बीच का रास्ता काफ़ी सँकरा था और इस पर बसों दोनों दिशाओं में चलती थीं। जब कोई बस आती तो रास्ता सँकरा होना के कारण, बस बिल्कुल मेरे क़रीब से निकलती थी। तेज़ी से निकलती बस के झोंके में बैसाखियों पर अपने संतुलन को बनाए रखना मेरे लिए एक चुनौती थी। यहाँ संतुलन बिगड़ने का अर्थ था बस के नीचे आ जाना या फिर गंभीर रूप से घायल हो जाना। इसलिए मैं रास्ते के इस हिस्से को बिना रुके जितना जल्दी हो सके पूरा करने की कोशिश करता था।

हमारे घर से ठीक पहले एक चढ़ाई है...जब मैं इस चढ़ाई पर चढ़ता था तो मेरी थकान चरम पर और धैर्य अपने सबसे निचले स्तर पर पहुँच चुका होता था। बैसाखियों पर थोड़ा

झुककर चलने के कारण हर क़दम के साथ मेरे माथे से पसीने की एक बूँद ज़मीन पर गिरती थी। थकान से अपना ध्यान हटाने के लिए मैं रोज़ाना इन बूँदों को गिना करता था...थकान के कारण थोड़ी देर बाद गिनती भूल जाता था...और फिर से गिनती शुरू कर देता था। मैं सीधी रेखा में नहीं चल पाता था— माँसपेशियाँ अकड़ जाती थीं। सब कुछ घूमता हुआ लगता था। गली, सड़क, घर, दुकानें, लोग...सब तरल से दिखने लगते और ऐसा लगता जैसे सारी चीज़ें मेरे चारों ओर धीरे-धीरे चक्कर काट रही हैं। आवाज़ें बहुत दूर से आती हुई लगती थीं। चेहरे से पसीना बह रहा होता, लेकिन मुँह और गला सूखकर बुरी तरह चिपक चुके होते थे।

आखिरकार घर की दहलीज़ छूते ही मुझे ऐसा लगता था कि जैसे कि मैंने ओलंपिक का गोल्ड मेडल जीत लिया हो। हर रोज़ मेरे लिए यह दूरी तय करना एवरेस्ट फ़तह करने जैसी एक चुनौती थी।

चूँकि मैं आठवीं पास तो हो ही चुका था, इसलिए मैं चाहता तो इतना कष्ट सहने से इंकार कर आरक्षण के ज़रिए कोई छोटी-मोटी सरकारी नौकरी कर सकता था, और फिर समाज की अपेक्षा भी मुझसे इतनी ही कि मैं क्लर्क या स्टेनो बनूँगा— सो मुझे कोई ये भी नहीं कहता कि मैं हार गया।

लेकिन मैं स्वयं के लिए नित नए, और अधिक ऊँचे लक्ष्य बनाता था...1964 में बनी फ़िल्म 'हक्रीक़त' में सेना के अफ़सर का रोल अदा करते हुए बलराज साहनी ने हौसला खो चुके अपने जवानों से जो कहा था, वह मेरे मन में अक्सर गूँजता था—“जिस्म जवाब दे नहीं सकता, जब तक अंदर हिम्मत की चिंगारी है।”

घर पहुँचने के आखिरी सौ मीटर मैं तक्ररीबन उसी तरह तय करता था जिस तरह 1984 में गैब्रिएला एंडरसन ने ओलंपिक मैराथन का आखिरी चरण पूरा किया था। अमेरिका के लॉस एन्जेलिस में हुए 1984 के ओलंपिक खेलों में गैब्रिएला ने अपनी मैराथन दौड़ 2 घंटे 48 मिनट और 42 सेकेंड में पूरी की और वे 37वें स्थान पर रहीं। हालाँकि गैब्रिएला 37वें स्थान पर रहीं, लेकिन फिर भी यह रेस उन्हीं के साहस भरे प्रयास के लिए जानी जाती है। रेस के अंतिम चरण में जब गैब्रिएला दर्शकों से भरे स्टेडियम में पहुँची तो वह इतना अधिक थक चुकी थीं कि उनके शरीर में बल पड़ गए थे, उनके हाथ बेजान-से लटके हुए थे। गैब्रिएला सीधी चल भी नहीं पा रही थीं और वह ट्रैक के बीच लड़खड़ाती हुई समाप्ति रेखा की ओर बढ़ रही थीं। उन्हें देखकर दर्शक भय से काँप उठे। लोगों को लगा कि गैब्रिएला एक क़दम और चलीं तो मर जाएँगी।

लड़खड़ाती गैब्रिएला को देख कुछ पल तो दर्शक स्तब्ध रह गए, लेकिन फिर पूरे स्टेडियम ने उठकर उनका अभिवादन किया और लगातार तालियाँ बजाकर उन्हें हिम्मत दी। उनकी हालत देखकर डॉक्टरों ने उनकी मदद करने की कोशिश की, लेकिन गैब्रिएला ने डॉक्टरों को दूर रहने का इशारा कर दिया, क्योंकि वह जानती थीं कि यदि डॉक्टरों ने उन्हें छू लिया तो उनकी दौड़ अमान्य हो जाएगी। वह जानती थीं कि वह रेस हार चुकी हैं, लेकिन इससे उनके इरादे पस्त नहीं हुए। गैब्रिएला इस बात का उदाहरण बन गईं कि हार-जीत तो लगी रहती है— अधिक महत्वपूर्ण

यह है कि आपने पूरी कोशिश की या नहीं।

अपार थकान सहते हुए गैब्रिएला ने आखिरकार समाप्ति रेखा छू ली और वह गिर पड़ी। पूरा स्टेडियम और दुनिया भर में करोड़ों टी.वी. दर्शक दृढ़ इच्छाशक्ति का यह उदाहरण देखकर हैरान थे।

अगले दिन 'न्यूयॉर्क पोस्ट' में डिक यंग ने लिखा था कि ओलंपिक अधिकारियों ने गैब्रिएला का स्वर्ण पदक जोआन बेनुआ को, गैब्रिएला का ही रजत पदक ग्रेटी वेट्ज़ को और गैब्रिएला का ही कांस्य पदक रोसा मोटा को दे दिया। अधिकारियों को तो ओलंपिक मशाल के बराबर में गैब्रिएला की एक प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए।

गैब्रिएला एंडरसन के इस हिमालयी प्रयास का वीडियो आपको यू-ट्यूब पर मिल जाएगा, उसे अवश्य देखें। मैं जब भी गैब्रिएला के वीडियो को देखता हूँ तो पाता हूँ कि समाप्ति रेखा की ओर बढ़ती गैब्रिएला की और स्कूल से घर लौटते समय मेरी हालत बिल्कुल एक जैसी ही होती थी।

फ़र्क़ बस यह था कि इस तरह की परिस्थिति का सामना मुझे रोज़ाना करना पड़ता था...

## कुछ रिश्तों को नाम की ज़रूरत नहीं होती

उसकी उम्र कोई 45 या 50 साल के आस-पास होगी, लेकिन देखने में वह व्यक्ति कहीं अधिक उम्रदराज़ लगता था। आज उसके बारे में सोचते समय ज़ेहन में सबसे पहले उसका गहरा रंग, बड़ा-सा गोल चेहरा और मोटी-सी नाक ही आती है। चौड़े पाएँचो का पायजामा और क़मीज़, मैंने हमेशा उसे बस यही कपड़े पहने देखा था। क़मीज़ अक्सर धारीदार होती थी और उसके ऊपर के दो बटन खुले होते थे जिससे उसकी गहरे रंग की छाती पर उगे सफ़ेद बाल झाँका करते थे। पैरों में रिलेक्सो की घिसी हुई चप्पलें पहने वह सड़क पर झाड़ू लगाया करता था। बाज़ार में कहीं किसी सड़क के किनारे वह कभी-कभार मुझे मिल जाता था, या यूँ कहिए कि मैं उसे मिल जाता था।

नगर निगम का वह कर्मचारी सड़क साफ़ किया करता था। जब कभी मैं उस व्यक्ति को सड़क पर दिखाई दे जाता तो वह झाड़ू लगाना भूलकर मेरे पास आ जाता। मुझे सड़क पर चलते हुए इस तरह लोगों के ध्यान में आना बड़ा अटपटा लगता था। मैं चाहता था कि कोई भी मुझे न देख सके।

अपनी लंबी-सी झाड़ू को सड़क पर घसीटते हुए वह व्यक्ति मेरे पास आता...और आते ही एक ही सवाल किया करता :

“कौन-सी क्लास में हो गए हो बेटा?”

मुझे कई बार यह याद होता था कि उस व्यक्ति ने यही सवाल अभी कुछ ही महीने पहले पूछा था। शर्मिंदगी और झेंप तो होती ही थी और इस कारण मेरे मन में आता था कि कह दूँ :

“अभी कुछ ही दिन पहले तो बताया था।”

लेकिन जाने क्यों मैं अपनी झेंप को गुस्से में परिवर्तित नहीं होने देता था और समुचित जवाब देता था :

“छठी क्लास में।”

जवाब सुनते ही उस व्यक्ति का चेहरा खिल उठता और वह हाथ में पकड़ी झाड़ू के लंबे-से डंडे को अपने कंधे पर टिका लेता। फिर दोनों हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में उठाकर कहता :

“खूब जियो बेटा, खूब पढ़ो-लिखो, खूब पढ़ो-लिखो।”

यह कहते हुए उसके चेहरे पर बड़े गहरे संतोष के भाव होते थे। बस इतना कहकर वह वापस जाता और फिर से सड़क से कूड़ा इकट्ठा करने लगता। इसी तरह साल-दर-साल बीतते गए। इस प्रकरण में कुछ भी नहीं बदला, सिवाए मेरे जवाब के :

“सातवीं क्लास में।”

“आठवीं क्लास में।”

“नवीं क्लास में।”

हर बार मेरा जवाब उसके चेहरे पर गहरे संतोष की झलक ले आता था। पहले तो मैं चाहता था कि वह व्यक्ति मेरे पास न आए...और आ ही जाए तो जितना जल्दी हो वापस चला जाए। लेकिन जैसे-जैसे मैं बड़ा हुआ तो मुझे उस व्यक्ति से एक अपनापन-सा महसूस होने लगा। मैं अब समझने लगा था कि उस व्यक्ति के मुँह से निकले शब्द दिल की गहराइयों से निकले आशीर्वचन थे।

हमारी दो मुलाकातों के बीच कई-कई महीने बीत जाते थे, आज मुझे याद भी नहीं है कि आखिरी बार मैं कब उस व्यक्ति से मिला था... लेकिन इतना तो ज़रूर है कि मिले हुए एक ज़माना हो गया है। अब शायद वह व्यक्ति जीवित भी न हो, लेकिन आज भी मेरे ज़ेहन में जब वह गहरे रंग का गोल चेहरा आता है तो उसके साथ ही याद आते हैं उस व्यक्ति के द्वारा कहे गए केवल दो वाक्य :

“कौन-सी क्लास में हो गए हो बेटा?”

“खूब जियो बेटा, खूब पढ़ो लिखो, खूब पढ़ो लिखो।”

इन्हीं दो वाक्यों को वह व्यक्ति साल-दर-साल दोहराता रहा और मेरे द्वारा विकलांगता का सामना किए जाने को सराहता रहा। मुझे आशीर्वाद देता रहा।

मैंने कभी उसका नाम नहीं पूछा और उस व्यक्ति को भी मेरा नाम नहीं पता था।

जीवन में कई संबंध ऐसे होते हैं जिनमें न तो नाम की ज़रूरत होती है और न ही कुछ कहे जाने की। शायद ऐसे संबंध के लिए ही कहा जाता है कि मन से मन को राह होती है।

उस व्यक्ति से दो वाक्यों की बात करके मुझे हमेशा लगा कि वह उस समाज का हिस्सा

नहीं था जो मुझे हतोत्साहित करता था, बल्कि वह उन विरले लोगों में से था जो मुझे अपनी सीमाओं से आगे बढ़ने के लिए कहते थे।

यहाँ मैं स्पष्ट कर दूँ कि मेरी प्रगति देखकर समाज में कोई दुखी नहीं था, लेकिन समाज का अधिकतर हिस्सा मुझे पोलियो द्वारा तय की गई सीमाओं को तोड़ने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता था। अधिकांश लोग पोलियो से समझौता कर लेने की राह दिखाते थे। बड़े काम करने में कष्ट होता है और लोगों का मानना है कि विकलांग व्यक्ति को कष्ट नहीं उठाना चाहिए, बल्कि उसे साधारण काम करते हुए एक साधारण जीवन बिताना चाहिए।

## तुझे तो भगवान ने पहले ही सज़ा दे रखी है

दोपहर में स्कूल से वापस आने के मुकाबिले, सुबह स्कूल जाना मेरे लिए थोड़ा-सा आसान होता था क्योंकि सुबह तापमान कम रहता था। सर्दियों में जब दिल्ली का तापमान एक या दो डिग्री सेल्सियस तक भी पहुँच जाता था, तब भी मैं स्कूल जाते समय स्वेटर या जर्सी नहीं पहनता था, क्योंकि मुझे इनके बिना चलते हुए भी थकान के कारण पसीना आ जाता था।

मैं स्वेटर/जर्सी को अपने बैग में डालकर स्कूल ले जाता था और स्कूल पहुँचने और पसीना सुखाने के बाद उसे पहनता था। रास्ते में मिलने वाले अनजान लोग कई बार मुझसे पूछ भी लेते थे कि क्या मेरे पास स्वेटर नहीं है? उन्हें लगता था कि मेरे पास स्वेटर खरीदने के पैसे नहीं हैं, इसलिए मैं इतनी ठंड में भी बिना स्वेटर के चल रहा हूँ। एक बार एक सज्जन ने मुझे रोक कर कहा कि यदि मेरे पास स्वेटर नहीं है तो वह मुझे एक स्वेटर दिला सकते हैं। जब मैंने उन्हें बताया कि स्वेटर पीठ पर लदे मेरे बैग में है और मैं उसे इसलिए नहीं पहन रहा हूँ, क्योंकि मैं वैसे ही पसीने में लथपथ हूँ। यह सुनकर उन सज्जन को बड़ा अचरज हुआ।

कुतुब स्कूल में भी मैं प्रार्थना-सभा में नहीं जाता था, क्योंकि अध्यापक मुझे देखते ही वापस कक्षा में जाकर बैठने को कह देते थे। मैं कई बार सोचता था कि क्या मुझे बैठकर प्रार्थना करने की अनुमति नहीं मिल सकती थी? क्या पंक्ति में खड़े होकर की गई प्रार्थना ही ईश्वर को मान्य थी? मैं देर तक खड़ा नहीं हो सकता था, इसलिए बैठने का स्थान देने के बजाय मुझे कक्षा में ही रहने के लिए कहा जाता था और इसके लिए मेरे सहपाठी मुझे ताना देते थे।

एक बार की बात है कि मैं स्कूल पहुँचने में दस मिनट लेट हो गया। जब मैं स्कूल पहुँचा तो प्रार्थना-सभा आरंभ हो चुकी थी। एक अध्यापक प्रार्थना-सभा आरंभ होते ही स्कूल के गेट पर खड़े हो जाते थे और देर से आने वाले छात्रों को सज़ा के तौर पर कई डंडे मारने के बाद ही अंदर जाने देते थे। उस दिन जब मैं गेट पर पहुँचा तो देर से आए एक छात्र की पिटाई चल रही थी और दूसरा पिटने के इंतज़ार में खड़ा था। मैं भी पंक्ति में लग गया। दोनों छात्रों के हाथों पर कई डंडे

ज़ोर से मारने के बाद जब अध्यापक ने उन्हें अंदर जाने दिया तो मैं भी आगे बढ़ा और मैंने भी अपनी हथेली अध्यापक के सामने कर दी।

“अरे तू...तू रहने दे, तुझे तो भगवान ने पहले ही सज़ा दे रखी है”, अध्यापक ने जाने-पहचाने दयापूर्ण लहज़े में कहा।

“नहीं सर जी, मुझे भगवान ने कोई सज़ा नहीं दी है। सज़ा उन्हें मिलती है जो ग़लती करते हैं। मैंने कोई ग़लती नहीं की...मुझे पोलियो हुआ है और यह किसी को भी हो सकता है”, मैंने तल्ख़ी से जवाब दिया और अपनी हथेली सज़ा के लिए फैलाए रखी।

“अच्छा चल चल, ज़्यादा मत बोल...अंदर जा।”

“नहीं सर जी, मैं देर से आया हूँ, पोलियो मेरी ग़लती से नहीं हुआ, लेकिन देर से आना मेरी ग़लती है। मुझे भी वही सज़ा दीजिए जो उन लड़कों को दी है, मैं मार झेल सकता हूँ”, मेरे स्वर में दृढ़ता बढ़ती जा रही थी।

वह अध्यापक ऐसे थे कि उनसे (या यूँ कहिए कि उनकी मार से) स्कूल के सारे छात्र डरते थे। उनके सामने कोई नहीं आना चाहता था, लेकिन मैं उनके सामने बिना डरे तर्क कर रहा था और उनके व्यवहार को ग़लत बता रहा था। मेरे मन के भीतर एक क्षीण-सी आवाज़ चेता रही थी कि ये तू क्या कर रहा है बेवकूफ़, जानता है ये कौन-से अध्यापक हैं? लेकिन स्वयं को बराबर साबित करने की इच्छा के घोर तूफ़ान में मुझे यह क्षीण आवाज़ न के बराबर सुनाई दे रही थी।

“चल, अंदर चल”, अध्यापक ने कठोर और कुछ धमकी भरे अंदाज़ में झुंझलाते हुए कहा।

“नहीं सर, आप मुझे भी डंडे मारिए”, मेरी हथेली अब भी फैली हुई थी।

आखिरकार, अध्यापक ने मेरी हथेली पर दो डंडे मार दिए। इस मार की तीक्ष्णता हालाँकि उतनी नहीं थी जितनी पहले मार खा चुके छात्रों को झेलनी पड़ी थी, लेकिन मेरा मक़सद पूरा हो गया था। मैं विजेता की तरह सिर उठाए स्कूल में दाखिल हो गया।

## आई.ए.एस. बनने का स्वप्न

अब मैंने गर्मियों की छुट्टियों के दौरान कुछ दिन बादशाहपुर में बिताने शुरू कर दिए थे। हरियाणा के बादशाहपुर गाँव में मेरी बुआ श्रीमती निर्मला देवी और श्रीमती शोभा देवी रहती हैं। निर्मला बुआ के पति श्री किशनलाल शर्मा भारत सरकार के एक मंत्रालय में काम करते थे। किशनलाल अंकल को अँग्रेज़ी भाषा आती है, सो मैं कुछ दिन उनके साथ रहकर अँग्रेज़ी सीखने की कोशिश करता था।

कभी-कभी कैलाश चाचा मुझे साइकिल पर बिठाकर किशनलाल अंकल के ऑफ़िस भी ले जाते थे। वहाँ जाना मुझे बहुत अच्छा लगता था। अंकल की मेज़ फ़ाइलों से भरी होती और



उस पर टेलीफ़ोन, टाइपराइटर, कंप्यूटर, फ़ैक्स इत्यादि सब कुछ रहता था। उनकी ऊँची-सी कुर्सी देखकर मैं सोचता था कि एक दिन मैं भी ऐसे ही किसी ऑफ़िस में काम करूँगा।

उन दिनों मैं किताबें, कॉमिक्स और पत्रिकाएँ तो ख़ूब पढ़ा ही करता था, ऐसे ही एक दिन मुझे कहीं से 'प्रतियोगिता दर्पण' की एक पुरानी कॉपी मिल गई। पत्रिका में उस वर्ष आई.ए.एस. परीक्षा में सर्वोच्च स्थान हासिल करने वाले व्यक्ति का इंटरव्यू छपा था। वहीं से मुझे आई.ए.एस. के बारे में पता चला। उस समय प्रमुख रूप से मुझे यह समझ आया कि आई.ए.एस. की परीक्षा बहुत कठिन होती है...आई.ए.एस. होना बहुत बड़ी बात होती है, आई.ए.एस. लोगों का बहुत सम्मान होता है...और उन्हें कार व ड्राइवर भी मिलता है! अचानक मुझे लगने लगा कि समाज में बराबरी पाने के लिए मेरा आई.ए.एस. बनना ज़रूरी है। यह इसलिए भी ज़रूरी लगने लगा, क्योंकि आई.ए.एस. को कार और ड्राइवर भी मिलता है, इससे मैं जहाँ मन करेगा, वहाँ जा पाऊँगा!

मैंने कबाड़ी से 'प्रतियोगिता दर्पण' के और अंक ख़रीदे और इनसे आई.ए.एस. परीक्षा के बारे में और जानकारी हासिल करने लगा। धीरे-धीरे मेरे मन में आई.ए.एस. बनने की इच्छा एक सपना बन गई जिसके लिए मैंने मेहनत भी शुरू कर दी। अपने सामान्य ज्ञान को और अधिक अच्छा करने के लिए मैं और अधिक विषयों पर और अधिक किताबें व पत्रिकाएँ पढ़ने लगा। ये सब किताबें-पत्रिकाएँ मैं अक्सर कबाड़ी से ही ख़रीदता था। मैं दिन-रात आई.ए.एस. बनने के बारे में सोचने लगा। इसी तरह करीब डेढ़-दो वर्ष गुज़र गए।

एक दिन कैलाश चाचा मुझे किशनलाल अंकल के दफ़्तर लेकर गए। उस दिन अंकल के केबिन में और कई कर्मचारी भी बैठे थे और चाय पी जा रही थी। अंकल के दफ़्तर के कई कर्मचारी मुझे पहचानते थे।

"और भई ललित, कैसा है?" एक कर्मचारी ने पूछा।

"मैं ठीक हूँ, आप कैसे हैं?"

"बस भई, कट रही है...और पढ़ाई-वढ़ाई कैसी चल रही है?"

"अच्छी चल रही है। आजकल मैं आई.ए.एस. के लिए भी पढ़ाई कर रहा हूँ। मैं आई.ए.एस. बनूँगा", मैंने कुछ गर्व के साथ सूचित किया।

"अच्छी बात है भई। अरे शर्मा जी, हैंडीकैप लोग आई.ए.एस. बन सकते हैं क्या?" उस व्यक्ति ने अंकल से पूछा। यह प्रश्न सुनते ही मेरा दिल बैठ गया।

"मुझे पक्का पता नहीं, लेकिन कोई प्रॉब्लम तो नहीं होनी चाहिए", अंकल ने कहा।

"ऐसा तो सरकारी गज़ट में लिखा है। ऐसा नियम है कि नहीं बन सकते। अभी कुछ दिन पहले ऑफ़िस में एक और आदमी इसी बारे में बात कर रहा था।" उस कर्मचारी की बात ने मेरे मन को बींध दिया।

"अरे, तो इसमें क्या मुश्किल है, गज़ट में देख लो, पता चला जाएगा", एक अन्य कर्मचारी ने सुझाया।

तब अंकल ने मेज़ की दराज़ से एक बिना जिल्द की किताब निकाली जिस पर लिखा था 'भारत का राजपत्र'। अंकल उस किताब के पन्ने पलटते हुए सूचना खोजने लगे। कुछ ही देर में उन्हें सूचना मिल गई।

गज़ट देखकर मुझे बताया गया कि जिन विकलांग लोगों को चलने में दिक्कत है, उन्हें सिविल सेवा में नहीं लिया जाता था। वे परीक्षाओं में तो बैठ सकते हैं, लेकिन परीक्षाएँ पास कर लेने के बाद भी उनको सिविल सेवा में स्वीकार नहीं किया जाएगा। सो, परीक्षा में बैठने का कोई फ़ायदा नहीं था।

“कोई बात नहीं। आई.ए.एस. न सही, मैं और किसी चीज़ की पढ़ाई कर लूँगा”, मैंने मुस्कुराते हुए कहा। मैंने अपनी भावनाओं को चेहरे पर नहीं आने दिया, लेकिन मेरा दिल टूट गया था।

अचानक ऐसा लगा जैसे मेरी एकमात्र आशा की किरण ओझल हो गई थी। अब मैं क्या करूँगा? मैं सम्मानित कैसे बनूँगा? आखिरकार क्या मैं टाइपिस्ट ही बनूँगा?...ये सब प्रश्न मन में घूमने लगे। मैं अंकल के ऑफ़िस में तब तक बैठा रहा, जब तक कैलाश चाचा मुझे लेने नहीं आए। इस बीच मैं वहाँ मौजूद लोगों से किसी तरह वार्तालाप करता रहा, लेकिन मन ही मन मैं चाह रहा था कि कैलाश चाचा जल्द-से-जल्द मुझे लेने आ जाएँ।

चाचा जब तक आए तब तक शाम हो चुकी थी। जब मैं साइकिल पर घर लौट रहा था तो पश्चिम में डूबते सूरज में मुझे अपने डूबते मन की छवि दिखाई दे रही थी। आई.ए.एस. के रूप में मुझे एक सहारा दिखाई दिया था और उसे मैंने अपना लक्ष्य, अपना सपना बना लिया था... लेकिन मालूम हुआ कि समाज मुझे यह सपना देखने के लायक ही नहीं मानता। मैं समझ नहीं पा रहा था कि आखिर किसी विकलांग व्यक्ति के आई.ए.एस. बनने में क्या बाधा थी। मैं बहुत दुखी था। बहरहाल, मैंने बहुत कोशिशों के ज़रिए आई.ए.एस. को अपने मन से हटा दिया और उसके बाद फिर कभी आई.ए.एस. बनने के बारे में नहीं सोचा। बाद में नियमों में परिवर्तन हुए और विकलांग व्यक्तियों को भी सिविल सेवाओं में लिया जाने लगा, लेकिन किशनलाल अंकल के ऑफ़िस वाली घटना से मैं इतना आहत था कि उसी दिन से मैंने सिविल सेवाओं के बारे में सोचना पूरी तरह छोड़ दिया था।

## नवीं कक्षा की बात

नवीं कक्षा की पढ़ाई के लिए मैंने रोज़ सुबह अकेले स्कूल जाना शुरू कर दिया। किशोर अभी सातवीं कक्षा में था और मिडिल स्कूल में ही पढ़ता था। उसे दोपहर को स्कूल जाना होता। मैं सुबह करीब छह बजे घर से निकलता और डेढ़ किलोमीटर की दूरी पैदल तय कर स्कूल

पहुँचता।

नवीं कक्षा बड़ी कठिन थी। मेरे ख्याल में स्कूल की बारह कक्षाओं में शायद सबसे अधिक कठिन नवीं ही थी। आठवीं के बाद नवीं कक्षा का सिलेबस अचानक खूब लंबा-चौड़ा हो गया। सभी विषयों की पुस्तकें अचानक मोटी और जटिल हो गईं। ऐसा लगा जैसे नवीं की पुस्तकों के सामने आठवीं की पुस्तकें बच्चों के कायदे जैसी थीं।

नवीं कक्षा में स्कूल के लिए मुझे रोज़ एक रुपया मिलने लगा। इस एक रुपए से मैं कभी-कभार ही बाहर से कुछ खरीदकर खाता था। अधिकांशतः मैं इस रुपए को गुल्लक में जोड़ लेता था और जोड़े हुए पैसों से पुस्तकें खरीदता था। स्कूल की किताबों के अलावा अन्य पुस्तकें भी पढ़ने की मेरी इच्छा लगातार बढ़ती जा रही थी। साथ ही मैं रक्षाबंधन पर पूजा व अन्य बहनों को इन्हीं वर्ष भर जोड़े गए रुपयों से उपहार भी देता था।

कुतुब स्कूल की नवीं कक्षा में अधिकांश छात्रों का व्यवहार मेरे साथ वैसा ही था जैसा प्राइमरी स्कूल में था। यहाँ नवीं कक्षा में भी दो-तीन 'जगन' सरीखे छात्र थे जिन्होंने मुझे बहुत तंग किया। वे मुझे नाम से तो कम ही बुलाते थे। मुझे 'लँगड़दीन' कहकर पुकारना उन्हें बहुत अच्छा लगता था, और जगन की ही तरह मेरी बैसाखियाँ छीन लेना भी उनका रोज़ का काम था।

"भगवान ने मुझे ऐसा क्यों बनाया? मैं सबसे अलग क्यों हूँ?"...ये प्रश्न मेरे मन में घूमा करते थे। यह कितनी अजीब बात है न कि स्वस्थ लोग तमाम क्रिस्म के फैशन करके बाक़ी सबसे अलग दिखना चाहते हैं। लेकिन स्थायी रूप से 'अलग' बन जाने का दर्द वही समझ सकता है जो किसी भी तरह की स्थायी विकलांगता से जूझ रहा हो।

आठवीं कक्षा के मेरे कई सहपाठी यहाँ नवीं में भी मेरे साथ पढ़ते थे। इनमें कई मेरे अच्छे दोस्त भी थे, लेकिन नवीं कक्षा में ऐसा लगने लगा कि उनके जीवन की गति कहीं अधिक तेज़ हो गई है। हम सभी उस समय करीब पंद्रह वर्ष के नौजवान बच्चे थे। अब इन बच्चों ने आज़ादी अनुभव करनी शुरू कर दी थी। स्कूल का घर से दूर होना और रोज़ाना बस से आना-जाना कुछ ऐसे कारण थे जिनकी वजह से आठवीं कक्षा में सकुचाए-से रहने वाले बालकों में अब आत्मविश्वास और स्वतंत्रता के साथ-साथ स्वच्छंदता भी बढ़ने लगी थी।

नवीं कक्षा में मुझे पहली बार यह एहसास हुआ कि जीवन बहुत बड़ा और जटिल है। जिन कुछेक सहपाठियों को मैं अपने जीवन का अंग मानने लगा था, या सच कहूँ तो जिन पर मैं शारीरिक व मानसिक रूप से कुछ हद तक निर्भर था, अब मुझे एहसास होने लगा था कि वे मुझसे दूर होने लगे हैं। ये सभी छात्र उन पंछियों की तरह थे जिनके पंखों में अब उड़ान की ताक़त आ रही थी...वे स्वतंत्रता अनुभव करने को आतुर थे। मेरा साथ उनके लिए एक बंधन की तरह हो चला था, क्योंकि मैं एक ऐसा पक्षी था जिसके पंख कटे हुए थे। मैं उड़ान में उनका साथ नहीं दे पा रहा था...सो, मैं अपने साथियों पर एक अनचाहा बोझ बनने लगा था।

...मेरी उड़ान अभी दूर थी।

छात्रों को अब स्कूल की दीवारों के अंदर का जीवन नहीं भाता था। वे स्कूल के मैदान को

छोड़कर खेलने भी दूर के किसी मैदान में जाते थे। सिनेमा देखने जाना, साइकिल पर चढ़कर सैर करने निकल जाना, बस में बैठ जहाँ-तहाँ घूमना...अब ये बच्चे बड़े हो रहे थे!

लेकिन मेरे लिए जीवन बिल्कुल नहीं बदला था। मैं बस में चढ़ नहीं पाता था...साइकिल, स्कूटर, बाइक इत्यादि चलाना मेरे बस में नहीं था...दूर-दूर तक चलकर जाना संभव नहीं था...क्रिकेट खेलना संभव नहीं था...दौड़ना संभव नहीं था। सिनेमा देखने का मेरा कोई मन नहीं था, लेकिन दुनिया देखने की ललक ज़रूर थी। मेरा दायरा बहुत छोटा था और मैं सोचा करता था कि उस दायरे से बाहर की दुनिया कैसी होती होगी। लेकिन यह सब जानने के लिए अभी मेरा समय नहीं आया था...मेरा समय, परिश्रम और संघर्ष की एक विशाल नदी के पार खड़ा था।

सहपाठियों और मेरे बीच की दूरी धीरे-धीरे इसलिए बढ़ने लगी, क्योंकि मैं उनका साथ नहीं दे पाता था। दोपहर में वे सब बस में बैठकर घर जाते थे और मुझे पैदल चलकर जाना होता था। सुबह स्कूल आते समय भी यही हाल था। इसलिए मैं उनके समूह में स्थान ही नहीं बना पाया।

इसी तरह धीरे-धीरे नवीं कक्षा का वर्ष गुज़र गया...और फिर प्रस्तुत हुई स्कूल जीवन की पहली बड़ी परीक्षा...

## दसवीं कक्षा का बोर्ड

हमारे स्कूल में बोर्ड की परीक्षाएँ केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सी.बी.एस.ई.) के ज़रिए होती थी। दसवीं और बारहवीं के विद्यार्थियों को बोर्ड की परीक्षाओं में बैठना होता था। सभी स्कूलों के लिए यह मान-सम्मान का विषय होता था कि बोर्ड में उनका रिज़ल्ट कैसा आएगा। बोर्ड के विद्यार्थियों को स्कूल में एक अलग ही सम्मानित स्थान मिलता था, अध्यापक भी उन पर अधिक ध्यान देते थे।

उस समय कोचिंग सेंटर्स का चलन नहीं था। बोर्ड के विद्यार्थी आस-पास ही स्कूल के अध्यापकों या सीनियर छात्रों से ट्यूशन लिया करते थे। मैंने भी अपने स्कूल के एक अध्यापक से परीक्षाओं की तैयारी हेतु कुछ ट्यूशन लीं। मेरे कुछ सहपाठी तो छठी कक्षा से ही ट्यूशन लेते आ रहे थे, लेकिन मैंने ऐसा पहली बार दसवीं कक्षा में किया। दसवीं के बोर्ड की तैयारी मैंने ऐसे की जैसे कि कोई योद्धा किसी युद्ध की तैयारी करता है। जितना हो सका मैंने उतनी मेहनत की।

मेरा परीक्षा केंद्र आर.के.पुरम नामक जगह पर एक स्कूल में था। मार्च 1992 में मुझे दसवीं कक्षा में विभिन्न विषयों की पाँच परीक्षाएँ देनी थीं। परीक्षा के दिन कैलाश चाचा मुझे साइकिल पर बैठा कर परीक्षा-केंद्र ले जाते थे। दो या तीन मंज़िल के उस स्कूल में मुझे मेरी सीट हमेशा पहली मंज़िल पर मिली। परीक्षा शुरू होने से केवल पंद्रह-बीस मिनट पहले ही बच्चों को स्कूल में प्रवेश की इजाज़त मिलती थी। जैसे ही स्कूल का गेट खुलता, सारे बच्चे भागकर उस

नोटिस बोर्ड के सामने पहुँच जाते जहाँ यह लिखा होता था कि किसे कहाँ बैठना है।

अलग-अलग स्कूलों से आए सैकड़ों छात्रों के इस समूह से मैं भाग-दौड़ में प्रतियोगिता नहीं कर पाता था। अन्य छात्रों के जाने के बाद जब गेट खाली हो चुका होता था, तभी मैं स्कूल के अंदर जा पाता था। फिर गेट से चलकर इमारत तक पहुँचने में मुझे कई मिनट लग जाते थे। इसके बाद मैं एक कोने में खड़े होकर नोटिस बोर्ड के पास से छात्रों की भीड़ छँटने का इंतज़ार करता। जब अधिकांश बच्चे सीट नंबर देखकर अपनी-अपनी कक्षाओं में जाकर बैठ चुके होते तब कहीं मैं नोटिस बोर्ड तक पहुँच पाता। अपना सीट नंबर नोट करने के बाद मैं धीरे-धीरे पहली मंज़िल की सीढ़ियाँ चढ़ता और अपनी कक्षा तक पहुँचता। जब तक मैं अपनी सीट पर बैठता तब तक अन्य बच्चे अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं पर अपना ब्यौरा लिख चुके होते थे, पेन-पेंसिल अपनी डेस्क पर सजा चुके होते थे और परीक्षा से पहले की अपनी घबराहट को नियंत्रित करने की कोशिश शुरू कर चुके होते थे। इतना चलने और सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद मुझे कुछ मिनट तो अपनी साँस को सामान्य करने व पसीना सुखाने में ही लग जाते थे, इसके बाद ही मैं उत्तर-पुस्तिका पर अपना ब्यौरा लिखना शुरू कर पाता था।

जब तक मेरी परीक्षा चलती रहती, कैलाश चाचा स्कूल के बाहर मेरा इंतज़ार करते रहते और परीक्षा समाप्त होने के बाद मुझे साइकिल पर बैठा कर घर ले आते।

इसी तरह एक-एक कर सभी परीक्षाएँ समाप्त हो गईं और गर्मियों की छुट्टियाँ शुरू हो गईं। वे छुट्टियाँ परीक्षा के नतीजों के इंतज़ार में बीतीं। आखिरकार नतीजा आया...और मैं प्रथम श्रेणी में पास हुआ!

मेरे लिए यह बहुत-बहुत खुशी का दिन था...मैं मैट्रिक-पास हो गया था! समाज ने हालाँकि मुझसे यह अपेक्षा नहीं की थी कि मैं मैट्रिक तक जा सकूँगा। मैं खुद भी आठवीं कक्षा के बाद अपनी बीमारी के आगे थकने लगा था, लेकिन एक-एक दिन मेहनत करते हुए मैट्रिक का यह मुक़ाम भी आखिर पार हो ही गया था।

## भारत दर्शन यात्रा

हमारे परिवार और रिश्तेदारी के लोग ऐसे नहीं हैं जिन्हें यात्राएँ करने और विश्व को देखने, जानने, समझने में रुचि हो। पर्यटन के नाम पर हम हरिद्वार, ऋषिकेश, वैष्णो देवी, चार धाम जैसे तीर्थस्थानों की यात्राएँ और बातें करते हैं। आजकल, यानी मेरी पीढ़ी के कमान सँभाल लेने के बाद, स्थिति थोड़ी-बहुत सुधरी है और लोग तीर्थस्थलों के अलावा अन्य जगहों पर भी कभी-कभार जाने लगे हैं। लेकिन इसके बाद भी हमारे पर्यटन स्थलों की सूची में मात्र कश्मीर, मसूरी और गोवा जैसी जगहें ही जुड़ पाई हैं। यह भी अब हुआ है...जब मैं दसवीं कक्षा में था उस समय

तो हमारे घर से पर्यटन के लिए कोई बाहर निकलता ही नहीं था। बाहर की दुनिया को देखने-समझने की न तो जिज्ञासा थी और न ही यह ज़हमत उठाने की ज़रूरत महसूस की जाती थी। हाँ, यह भी सच है कि आर्थिक तंगी के कारण भी घूमने-फिरने को फिजूल का खर्च माना जाता था।

ऐसे में एक बहुत बड़ी और हैरतअंगेज़ घटना हमारे परिवार के इतिहास में तब हुई जब पापा ने अपने ऑफ़िस से लीव ट्रेवल कंसेशन (एल.टी.सी.) लेकर परिवार सहित यात्रा पर जाने का मन बना लिया...और यात्रा भी कोई छोटी-मोटी नहीं, बल्कि लगभग पूरे भारत की यात्रा! यह मेरे लिए आज भी एक अनसुलझा-अनजाना अचरज है कि आखिर पापा ने क्या सोचकर यह योजना बनाई और इस पर अमल किया।

इस 'भारत दर्शन यात्रा' के दौरान मैंने एक डायरी में यात्रा से संबंधित बहुत-सी बातें लिखी थीं। यह डायरी आज भी मेरे पास है। यात्रा से वापस लौटने के बाद मैंने इस डायरी में आंकड़ों व तथ्यों पर आधारित कुछ परिशिष्ट भी लिखे। आज मैं इन परिशिष्टों को पढ़कर स्वयं हैरान हो जाता हूँ कि उस समय मैंने कितनी छोटी-छोटी बातें भी इस डायरी में नोट की थीं। उस समय मेरा लेखन बिल्कुल कामचलाऊ तरीके का था, लेकिन जो चीज़ आज मुझे अच्छी लगती है, वह यही है कि मैंने सूक्ष्म बातों को भी कलमबद्ध किया। इसी डायरी में लिखा एक परिशिष्ट अक्षरशः इस तरह से है :

## “बात बस की

हमारी बस अमित ट्रांसपोर्ट कॉर्पोरेशन की थी तथा हम गुजरात टूरिज़्म की ओर से यात्रा पर गए। बस का नंबर DLIP-1579 था। बस में नौ सीट दो-दो व्यक्तियों की, नौ सीट तीन-तीन व्यक्तियों की, एक सीट छह व्यक्तियों की थी। बस में ग्यारह परिवारों के तिरपन व्यक्ति यात्रा कर रहे थे। बस में दो ड्राइवर, जयपाल सिंह और बलवान सिंह थे। इनके अलावा एक हेल्पर राजेश कुमार भी था। बस के इंचार्ज का नाम श्री कटोच था। बस की छत में दोनों तरफ़ रैक थे जिन पर छोटा सामान रखा जा सकता था। भारी व बड़े सामान के लिए डिक्की और छत पर रेलिंग की व्यवस्था थी। हमें एक सीट ड्राइवर के केबिन में व तीन व्यक्तियों की एक सीट लाइन की सातवीं सीट के रूप में मिली। खिड़कियों में हल्के लाल रंग के शीशे चढ़े थे। बस में चार दरवाज़े—इमरजेंसी डोर, आउटडोर, इंडोर और ड्राइवर डोर थे। बस का रंग चॉकलेटी और सुनहरी था। बस में टेप से फ़िल्मी गीत सुनाने की व्यवस्था भी थी। बस में लाइट के लिए सोलह बल्ब थे। बस में लाइट सिग्नल और अन्य लाइट्स भी थी। ड्राइवर केबिन में कुल छह व्यक्ति बैठते थे। हमारी बस ने कुल 12,500 किलोमीटर तय किए। बस एक विदेश, नेपाल, में गई व भारत के ग्यारह राज्यों उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, गोवा, महाराष्ट्र, राजस्थान और मध्य प्रदेश में प्रवेश किया। उत्तर प्रदेश में बस दो बार गई। हमारे कार्यक्रम में

पच्चीस जगहें थीं : लखनऊ, अयोध्या, जनकपुर, गोरखपुर, सनोली, काठमांडू, गया जी, बौद्ध गया, जगन्नाथपुरी, कोणार्क, भुवनेश्वर, तिरुपति बाला जी, त्रिचूर, रामेश्वरम, कन्याकुमारी, त्रिवेंद्रम, मुदरै, मैसूर, बंगलौर, गोवा, बंबई, इंदौर, नासिक, शिवपुरी और आगरा। इनमें से छह जगह हम नहीं जा सके। ये थीं सनोली, जनकपुर, भुवनेश्वर, त्रिचूर, इंदौर और शिवपुरी। यात्रा में हम नौ जगह ठहरे..."

आज जब भी मैं इस डायरी को पढ़ता हूँ तो 'बस में लाइट के लिए सोलह बल्ब थे' जैसे वाक्यों को देखकर हैरान हो जाता हूँ। सोचता हूँ कि आखिर बल्ब गिनने की मुझे क्या ज़रूरत थी? इससे यह तो पता चलता ही है कि मैं चीज़ों का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर सूचनाएँ जुटाता था। अपने आस-पास के वातावरण के बारे में सूचनाएँ मेरे जीवन के सुचारु-रूप से चलने के लिए आवश्यक थीं।

एक बड़े समूह के साथ यात्रा करना मुझे पसंद नहीं है। आज भी मेरे लिए आदर्श स्थिति यही होती है कि किसी भी यात्रा में मेरे साथ एक या दो करीबी मित्र हों। ऐसे मित्र जिनसे विचार मिलते हों और जो यात्रा के बारे में समान दृष्टिकोण रखते हों। यात्रा करने का मेरा उद्देश्य मात्र आकर्षक इमारतों और प्राकृतिक स्थलों पर फ़ोटो खिंचवाना नहीं होता। मैं जहाँ भी जाता हूँ, मैं उस जगह के लोगों, वहाँ की संस्कृति, रहन-सहन इत्यादि को समझने में अधिक रुचि लेता हूँ।

'भारत दर्शन यात्रा' के अनुभवों के बारे में तो बहरहाल एक अलग पुस्तक लिखी जा सकती है। इसलिए फ़िलहाल मैं संक्षेप में यही कहूँगा कि इस यात्रा से मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला। हालाँकि जितना मैं सीख सकता था उसका एक बहुत छोटा अंश ही सीख पाया। कारण वही कि अपना शरीर सँभालने में ही मेरी सारी ऊर्जा और ध्यान खर्च हो जाता था।

जब हम भारत-दर्शन से लौटकर वापस घर आए तो दो-तीन दिन के आराम के बाद मैं फिर से स्कूल गया।

ग्यारहवीं में दाखिला बहुत रोचक था...और यह मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ भी था...

## ग्यारहवीं कक्षा में विज्ञान विषय लेना

स्कूल में मेरा सबसे प्रिय विषय विज्ञान था और नियति का खेल कुछ ऐसा था कि उसने मुझे विज्ञान का ही विद्यार्थी बना दिया। जब मैं ग्यारहवीं कक्षा में दाखिले के लिए स्कूल पहुँचा तो अध्यापक ने मुझसे एक अजीब प्रश्न किया :

"तुम्हें आर्ट्स चाहिए या साइंस चाहिए?"

"सर जी, क्या पूछा आपने?" मुझे लगा कि शायद मैंने अध्यापक के सवाल को ठीक से सुना नहीं।

“अरे भई ये बताओ कि तुम्हें किस सब्जेक्ट में दाखिला चाहिए?” अध्यापक ने कहा।

“मुझे ग्यारहवीं में दाखिला चाहिए।” मैंने स्पष्ट किया।

“वो तो पता है मुझे, लेकिन ग्यारहवीं में आर्ट्स पढ़ोगे या साइंस, ये बताओ?” अध्यापक ने पूछा।

अब से पहले इस तरह का प्रश्न मुझसे किसी ने नहीं पूछा था। मुझे लगा कि जैसे पास हो जाने पर सातवीं से आठवीं और आठवीं से नवीं कक्षा में दाखिला हो जाता है, वैसे ही दसवीं से ग्यारहवीं में भी होता है। मुझे इस बात का ज्ञान नहीं था कि ग्यारहवीं कक्षा में विषय चुनना पड़ता है। (इसी से आप मेरे आस-पास के माहौल में शिक्षा के स्तर का अंदाज़ लगा सकते हैं!)

अब चूँकि मुझे विज्ञान विषय पसंद था तो मैंने तुरंत ‘साइंस’ कह दिया।

“बायोलॉजी चाहिए या मैकेनिकल ड्रॉइंग?” अध्यापक ने फिर पूछा।

“इनमें क्या फ़र्क है? मेरी ड्रॉइंग तो अच्छी नहीं है।” मेरा भ्रम बढ़ता जा रहा था।

अध्यापक ने जीव-विज्ञान और मैकेनिकल ड्रॉइंग विषयों में अंतर के बारे में बताया। उन्हीं अध्यापक से मुझे मालूम हुआ कि मैकेनिकल ड्रॉइंग के विषय को पढ़ने के लिए चित्रकला का अच्छा होना ज़रूरी नहीं था। अध्यापक से यह भी बताया कि मैकेनिकल ड्रॉइंग पढ़ने के लिए एक बड़े-से ड्रॉइंग-बोर्ड के अलावा और भी कई चीज़ें को उठाकर इधर-उधर जाना पड़ेगा। यह सुनते ही मैंने जीव-विज्ञान के लिए हाँ कर दी, लेकिन जब यह पता चला कि जीव-विज्ञान के विद्यार्थियों को चूहे-मेंढक इत्यादि काटने पड़ेंगे तो मैंने पूछा :

“बायोलॉजी और मैकेनिकल ड्रॉइंग के अलावा और कोई विषय नहीं है? क्या मैं केवल केमेस्ट्री नहीं पढ़ सकता?”

और कोई विकल्प नहीं था। मैं किसी जीव को काटने-चीरने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था, लेकिन विज्ञान पढ़ने का यह एकमात्र रास्ता था। मैं ड्रॉइंग-बोर्ड को नहीं उठा सकता था...सो, हारकर मैंने बायोलॉजी को चुन लिया।

हमारे स्कूल में दसवीं के बाद केवल आर्ट्स की पढ़ाई होती थी। वहाँ विज्ञान और कॉमर्स का विकल्प नहीं था। ये विषय पढ़ने के लिए काफ़ी दूर के स्कूल में जाना होता था। मेरे लिए यह संभव नहीं था कि मैं दूर के किसी अन्य स्कूल में जाऊँ। लेकिन सौभाग्य से जिस वर्ष मैं ग्यारहवीं में पहुँचा, ठीक उसी वर्ष हमारे स्कूल में विज्ञान विषय की पढ़ाई पहली बार शुरू हुई थी। यह एक बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण संयोग था!

दाखिला लेकर मैं घर वापस आ गया। शाम को पापा दफ़्तर से वापस आए तो मैंने बताया कि मैंने विज्ञान में दाखिला लिया है। पापा हैरान हो गए।

“कुछ पता भी है विज्ञान की पढ़ाई कितनी मुश्किल होती है? तुझसे नहीं हो पाएगी। आर्ट्स में दाखिला ले ले।” पापा ने मुझे समझाया।

“लेकिन मुझे तो विज्ञान सबसे आसान लगता है और मेरे सबसे ज़्यादा नंबर भी विज्ञान में ही आते हैं।”



“हाँ, लेकिन ये वाली पढ़ाई मुश्किल होगी।”

“कोई बात नहीं, अब दाखिला ले ही लिया है तो देख लूँगा।” मैंने अपना मन स्थिर करते हुए कहा।

“ठीक है, जैसे तुझे ठीक लगे, वैसा ही कर।” पापा ने कहा। उन्होंने मुझे किसी काम को करने से कभी रोका नहीं।

पापा से कह तो दिया कि विज्ञान ही पढ़ूँगा, लेकिन जब वह बाज़ार से मेरे लिए विज्ञान विषय की ग्यारहवीं की किताबें लाए तो मेरा दिल बैठ गया। कई मोटी-मोटी किताबें थीं...

और सब की सब अँग्रेज़ी में!

किताबें देखने से पहले मुझे यह नहीं मालूम था कि विज्ञान की सारी पढ़ाई अँग्रेज़ी में होगी। अँग्रेज़ी को एक विषय के तौर पर पढ़ना ही हमारे लिए सिरदर्द था...और अब तो पूरा माध्यम ही अँग्रेज़ी हो गया था। गणित, जीव-विज्ञान, भौतिकी, रसायन...और यहाँ तक कि अँग्रेज़ी भी अँग्रेज़ी में पढ़नी थी! इतनी अँग्रेज़ी कैसे संभालेगी, यह सोचते-सोचते हुए मैं दुविधा में पड़ गया। हिंदी माध्यम के छात्र के लिए यह बहुत ही कठिन था कि वह अचानक अँग्रेज़ी माध्यम में विज्ञान जैसा विषय पढ़ने लगे। अब मुझे केवल विज्ञान के विषय ही पढ़ने होंगे, यह सोचकर तो मैं खुश था...लेकिन अँग्रेज़ी एक बहुत बड़ी समस्या थी।

बहुत चिंता के बावजूद मैंने मन में तय किया कि विज्ञान ही पढ़ना है। जो होगा, देखा जाएगा!

सो, इस तरह ज़िद करके मैंने विज्ञान विषय चुन लिया...अँग्रेज़ी से जद्दो-जहद चुन ली... उस समय यदि मैंने अपने निर्णय को बदल लिया होता और एक ज़्यादा ‘सुरक्षित’ विषय के रूप में आर्ट्स को चुन लिया होता तो न मैं अपने प्रिय विषय विज्ञान को गहराई से समझ पाता और हो सकता है कि जीवन भर अँग्रेज़ी भी पल्ले न पड़ती।

सागर पार करने के लिए लहरों से टकराना ज़रूरी होता है...

अब तक धरती अचल रही पैरों के नीचे  
फूलों की दे ओट सुरभि के घेरे खींचे  
पर पहुँचेगा पथी दूसरे तट पर उस दिन  
जब चरणों के नीचे सागर लहराएगा  
टकराएगा नहीं आज उन्मद लहरों से  
कौन ज्वार फिर तुझे पार तक पहुँचाएगा?  
—महादेवी वर्मा

## बात करेंगे तो अँग्रेज़ी में

दसवीं से पास हुए तमाम विद्यार्थियों में से केवल दो-चार छात्रों ने ग्यारहवीं कक्षा में विज्ञान विषय चुनने की हिम्मत दिखाई। हमारी ग्यारहवीं की विज्ञान की कक्षा में करीब पंद्रह विद्यार्थी थे, इनमें से अधिकांश दूसरे स्कूलों से आए थे।

हमें पढ़ाने के लिए कई नए अध्यापक स्कूल में आए। भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान और मैकेनिकल ड्रॉइंग के अध्यापक हमारे स्कूल में पहली बार नियुक्त हुए। प्रयोगशालाएँ बनाने के लिए कमरों का चयन हुआ और प्रयोगशालाओं के लिए कुछ सामान भी मँगवाया गया। इन सब कार्यों को होते-होते कई महीने गुज़र गए और हमारी ग्यारहवीं की पढ़ाई काफ़ी देर से आरंभ हुई।

सभी विषय अँग्रेज़ी माध्यम में पढ़ने पड़ रहे थे। कक्षा में अध्यापक क्या समझाते थे, कुछ समझ में नहीं आता था और घर आकर किताब खोलकर बैठना केवल एक रस्म होकर रह गया था क्योंकि किताबों में लिखी अँग्रेज़ी बिल्कुल पल्ले नहीं पड़ती थी।

अँग्रेज़ी न आने की समस्या ने हमारी पूरी कक्षा के होश उड़ा दिए। अँग्रेज़ी सिखाने के लिए हमें स्कूल में अतिरिक्त कक्षाएँ दी जा रही थीं, लेकिन हिंदी माध्यम में पके हुए छात्रों को अँग्रेज़ी का सिर-पैर कुछ समझ नहीं आता था। लेकिन मैंने पक्का मन बनाया हुआ था कि अँग्रेज़ी को सीखना ही है।

हमारी कक्षा का सबसे होनहार छात्र चरण सिंह भी अँग्रेज़ी से परेशान था। एक दिन मैंने उसे कहा :

“देख, अँग्रेज़ी सीखे बिना तो हम पास नहीं हो पाएँगे। कोई चांस नहीं है अपने पास होने का। ऐसा करते हैं कि स्कूल के बाद हम साथ-साथ पैदल घर जाया करेंगे और रास्ते में एक दूसरे से केवल और केवल अँग्रेज़ी में ही बात करेंगे। हम दोनों के अलावा और तो कोई होगा नहीं, इसलिए चाहे जितनी गलत-सलत अँग्रेज़ी बोलो, कोई टेंशन नहीं होगी। हो सकता है इससे कुछ अँग्रेज़ी आ ही जाए!”

“हाँ, ये आइडिया ठीक है। चाहे जो हो जाए, लेकिन बोलेंगे तो अँग्रेज़ी में। चल आज से ही शुरू करते हैं।” चरण सिंह ने उत्साह के साथ मेरी बात मान ली।

...और अगले कई दिन तक हम साथ-साथ, लेकिन चुपचाप घर आए!

घर आते समय मन ही मन हम उन शब्दों की अँग्रेज़ी सोचते रहते थे जो हम बोलना चाहते थे। लेकिन शब्द मिलते नहीं थे और यह तय हो चुका था कि बोलना है तो अँग्रेज़ी में, नहीं तो नहीं बोलना है। सो, कई दिन तक हम कुछ बोले ही नहीं! फिर धीरे-धीरे “हाऊ आर यू”, “आई डोन्ट लाइक इंग्लिश” जैसे छोटे-छोटे वाक्य बोलने शुरू किए। हम दोनों ने ‘रैपिडेक्स इंग्लिश स्पीकिंग कोर्स’ की किताब भी खरीद ली और उसी में से अँग्रेज़ी वाक्यों को रटने की मुहिम शुरू

कर दी। लेकिन अँग्रेज़ी के अलावा एक और मुश्किल थी जो मेरे रास्ते में आ रही थी—मुझे ब्लैक-बोर्ड दिखता ही नहीं था!

## पहली बार चश्मा लगाना

आप पढ़ ही चुके हैं कि पोलियो के इलाज हेतु खाई गई बेशुमार और हर तरह की दवाइयों के कारण मेरी आँखें बहुत कमज़ोर हो गई थीं। छठी कक्षा से ही मुझे बोर्ड पर लिखा कुछ दिखाई नहीं देता था, लेकिन मैंने अपने अध्यापकों को कभी इस बात का आभास नहीं होने दिया कि मेरी आँखें कमज़ोर हैं। अध्यापकों द्वारा बोले गए शब्द, बोर्ड पर दिखते बहुत धुँधले अक्षरों और अपने अंदाज़ के आधार पर ही मैं बोर्ड पर लिखी बातों को समझने की कोशिश करता था।

मैंने चश्मा क्यों नहीं बनवाया, इसका कारण भी मैं पहले बता चुका हूँ। मेरे कई सहपाठी मेरी बैसाखियों, मेरी विकलांगता और मेरे चलने के तरीके का बहुत मज़ाक़ उड़ाते थे। चश्मा पहनकर मैं उन्हें अपना मज़ाक़ उड़ाने का एक और बहाना नहीं देना चाहता था।

ग्यारहवीं में सभी विषय अँग्रेज़ी माध्यम में पढ़ाए जाने लगे। इसका एक नतीजा यह हुआ कि बोर्ड पर लिखी बातों को समझने की बरसों पुरानी मेरी तरकीब अब मेरे काम नहीं आ रही थी। विषय भी कठिन हो गए थे, ब्लैक-बोर्ड देखे बिना बात बिल्कुल नहीं बनने वाली थी। आखिरकार, चश्मा बनवाने का निर्णय लेना पड़ा। मेरा पहला चश्मा माइनस साढ़े तीन की पॉवर का बना था। इससे आप समझ सकते हैं कि मुझे बिना चश्मे के ब्लैक-बोर्ड पर कुछ नहीं दिखता था। पूरा मिडिल स्कूल, नवीं और फिर दसवीं का बोर्ड भी मैंने बिना ब्लैक-बोर्ड देखे पास किया था।

## ग्यारहवीं में बुरा प्रदर्शन

कोई जुगत किसी काम नहीं आई और हमारी पूरी कक्षा ही परीक्षाओं में बुरे नतीजे लाई। कोई किसी विषय में कुछ अंक से रह गया तो कोई किसी अन्य विषय में। फ़ाइनल परीक्षा से पहले हमारे टेस्ट लिए गए थे और उन टेस्ट्स में हमें हिंदी में उत्तर लिखने की छूट थी। उन टेस्ट्स में मैं सब विषयों में पास हुआ था।

अध्यापकों को यह बात पता थी कि हमारी समस्या विज्ञान के विषय नहीं थे बल्कि भाषा

थी। विज्ञान विषय की हमारी जानकारी इतनी बुरी नहीं थी, बस अपनी जानकारी को अभिव्यक्त करने के माध्यम से हम संघर्ष कर रहे थे। इसलिए अध्यापकों ने हमें ज़रूरी ग्रेस मार्क्स देते हुए पास कर दिया। शायद दो-तीन छात्रों को ही फ़ेल किया गया, क्योंकि उनका प्रदर्शन बहुत ही बुरा था। मुझे याद है कि हमारे प्रिंसिपल महोदय ने हमें कहा था कि हम इस भरोसे पर तुम्हें बारहवीं कक्षा में भेज रहे हैं कि तुम और अधिक मेहनत करोगे और अँग्रेज़ी सीखकर बारहवीं के बोर्ड में पास होकर दिखाओगे।

अँग्रेज़ी भाषा तो बहुत बड़ी दिक्कत थी, लेकिन मुझे विज्ञान से प्रेम था...

## अलमारी वाली 'प्रयोगशाला'

विज्ञान विषय में मेरी रुचि इतनी अधिक थी कि मैंने दसवीं या शायद ग्यारहवीं कक्षा के दौरान अपने घर में एक छोटी-सी 'प्रयोगशाला' बना ली थी। हमारे पास लकड़ी की एक पुरानी अलमारी थी जिसमें सब तरफ़ जाली लगी हुई थी। इसी अलमारी में मैंने अपनी प्रयोगशाला बनाई थी। बाज़ार में पंसारी की दुकान पर मिलने वाले कुछ रसायनों को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में इकट्ठा कर लिया था। इनमें गंधक (सल्फ़र), पोटेशियम परमैंगनेट, हाइड्रोजन परऑक्साइड, सोडियम कार्बोनेट (सोडा), सोडियम बाइकार्बोनेट (खाने का सोडा), लोहे, पीतल, अल्युमिनियम के पतले टुकड़े जैसी चीज़ें शामिल थीं। इसके अलावा ग्यारहवीं में जब स्कूल की रसायन प्रयोगशाला में सामान आया तो बेकार समझ कर कूड़े में फ़ेंक दी गई एक परखनली भी मैंने वहाँ से ले ली। छोटी-छोटी शीशियों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड और सल्फ़्यूरिक एसिड भी इकट्ठे कर लिए। चुंबक के टुकड़े, कंपास, डी.सी. मोटर, एक टूटा हुआ प्रिज़्म, आधी दूरबीन, कई तरह के लेंस, लोहे का चूरा इत्यादि और भी कई चीज़ें इस अलमारी में थीं।

स्कूल में हमारी प्रयोगशालाओं में कुछ अधिक नहीं करने दिया जाता था और वहाँ होने वाले प्रयोग केवल खानापूर्ति के लिए होते थे। मैं चाहता था कि हम जो भी करें उसे समझें और समझ व उत्सुकता के मुताबिक अपने प्रयोगों की दिशा तय करें।

घर पर मेरी प्रयोगशाला तो बन गई थी, लेकिन इसमें करना क्या था यह नहीं पता था। किताब में लिखी कुछ रासायनिक और भौतिक क्रियाओं को वास्तव में होते देखना ही एकमात्र काम था जो मैं इस अलमारी वाली प्रयोगशाला में कर सकता था। उदाहरण के लिए मैं परखनली में थोड़ा-सा सल्फ़्यूरिक एसिड लेकर उसमें अल्युमिनियम का एक टुकड़ा डाल देता था। एसिड धातु के उस टुकड़े के साथ क्रिया करता था, परखनली में बुलबुले उठते थे और आखिर में धातु का टुकड़ा एसिड में घुल जाता था। बस इसी तरह के जोड़-तोड़ मैं अपनी उस अलमारी में

करता रहता था। यह सब करना मुझे बहुत अचरज भरा और सुखद लगता था। सीमित जानकारी के कारण मैं यह नहीं समझ पाता था कि इन क्रियाओं में हो क्या रहा था, लेकिन मैं इन क्रियाओं को होते देखना चाहता था, इन क्रियाओं और इनके महत्त्व को समझना चाहता था।

अगर मुझे स्कूल में ही अच्छी प्रयोगशाला मिलती और हमारे अध्यापक अगर हमें सलीके से विज्ञान पढ़ाते तो कितना अच्छा होता! विज्ञान को जानने-समझने की मेरी भूख हमेशा अतृप्त ही रही।

यहाँ मैं एक चेतावनी भी लिखना चाहूँगा। मेरी घरेलू 'प्रयोगशाला' विज्ञान के प्रति मेरी गहरी उत्सुकता और रुचि का परिणाम थी। फिर भी मैं कहूँगा कि कृपया इस तरह की कोई प्रयोगशाला घर में न बनाएँ। रसायन बहुत खतरनाक भी होते हैं और इन्हें पर्याप्त व सही जानकारी के बिना प्रयोग बिल्कुल नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा करने से गंभीर दुर्घटनाएँ हो सकती हैं। अब तो सभी स्कूलों में विज्ञान की बेहतर प्रयोगशालाएँ हैं। विद्यार्थियों को अपने शिक्षक की देखरेख व मार्गदर्शन में ही प्रयोगशालाओं के भीतर विज्ञान को समझना चाहिए। विज्ञान के शिक्षकों को भी चाहिए कि वे सभी विद्यार्थियों को एक-सा न हॉके। जिन विद्यार्थियों में जितनी जिज्ञासा हो उन्हें उतना ज्ञान देना हर शिक्षक का कर्तव्य होता है।

\* \* \*

उन्हीं दिनों मैंने एक मोटी कॉपी खरीदी थी। इस कॉपी में मैंने उस समय तक ज्ञात सभी रासायनिक तत्वों की विशेषताओं के बारे में लिखा था। मेरी इस किताबनुमा कॉपी में 104 अध्याय थे। हर अध्याय में किसी एक रासायनिक तत्व के बारे में लिखा गया था। उस तत्व का इतिहास, उसकी खोज कैसे हुई, उसके प्रयोग, उसके भौतिक लक्षण व रासायनिक गुण इत्यादि सब इस किताब में थे। यह सब जानकारी मैंने बहुत-सी पुस्तकों से जुटाई थी। इन किताबों से रासायनिक तत्वों के बारे में जो जानकारीयाँ मुझे मिलीं, उसी को मैंने व्यवस्थित कर एक किताब की शक्ल दी थी।

विज्ञान, वैज्ञानिकों, पुस्तकों और प्रकृति ने मेरे मन की दुनिया को बहुत रोचक बनाया हुआ था...लेकिन बाहरी दुनिया और उसमें संघर्ष लगातार जारी थे...

## मुझे देवत्व प्राप्त हुआ

एक दिन मैं छुट्टी के बाद स्कूल से निकला और वहीं गेट के सामने कुछ देर अपनी साँस को सामान्य करने के लिए रुक गया। मैं स्कूल और घर के बीच की दूरी इसी तरह रुक-रुककर तय कर पाता था। मैं एक खंभे का सहारा लेकर खड़ा था कि तभी मेरी नज़र सामान ढोने वाली एक रिक्शा पर पड़ी जो पास ही खड़ी थी। रिक्शा खाली थी और उसका मालिक आस-पास किसी

ढाबे में खाना खाने गया होगा। मैंने सोचा कि कुछ देर रिक्शा पर बैठकर पैरों को आराम दे दूँ... सो, मैं उस रिक्शा में पीछे की ओर बैठ गया।

अभी दो मिनट ही बीते होंगे कि रिक्शा का मालिक आ गया। उसने एक मैली बनियान और चैक की एक तहमद पहनी हुई थी। आते ही उसने तुरंत मेरे पैर छुए और फिर झुक कर दो-तीन बार मुझे प्रणाम किया। प्रणाम करते-करते वह व्यक्ति 'देवा...देवा...देवा...' कहता जा रहा था। वह मेरी ओर देख भी नहीं रहा था। उसकी दृष्टि ज़मीन की ओर थी। प्रणाम कर वह मेरे सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

यह सब इतना जल्दी हुआ कि मुझे समझ ही नहीं आया कि क्या करूँ। जब वह व्यक्ति हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, तब मुझे अचानक समझ में आया कि शायद वह व्यक्ति अपनी रिक्शा ले जाना चाहता था और मुझसे रिक्शा से उतरने के लिए विनती कर रहा था।

मैं एकदम से खड़ा हो गया। मेरे रिक्शा से उठते ही उसने एक बार फिर प्रणाम किया और अपनी रिक्शा लेकर चला गया। मैं इतना सकपका गया था कि मैं कुछ पल जड़ खड़ा रहा। फिर मैंने आस-पास नज़र घुमाई कि कहीं किसी ने यह सब देखा तो नहीं! स्कूल के आस-पास कई ढाबे व अन्य दुकानें होने की वजह से वहाँ काफ़ी लोग होते थे, लेकिन ज़्यादातर लोग अपने-अपने काम में लगे थे। बस दो-तीन लोग ही मेरी ओर देख रहे थे। मैंने शुक्र मनाया कि मेरा कोई सहपाठी उस समय मेरे साथ नहीं था। हालाँकि अब मेरे सहपाठी प्राइमरी स्कूल के बनिस्बत अधिक समझदार थे और वैसे भी विज्ञान विषय की कक्षा में केवल गिने-चुने छात्र ही थे। लेकिन फिर भी मैं किसी का भरोसा नहीं कर सकता था। अगर कोई देख लेता तो हो सकता है कि यह घटना कक्षा में सभी को पता चल जाती।

बहरहाल, जो हुआ था वह पहली बार नहीं हुआ था। मेरे मुड़े-तुड़े शरीर और मेरी बैसाखियों को देखकर बहुत से लोगों के मन में मेरे लिए केवल दया और बेचारगी का भाव ही आता था। वे मुझे दीन-हीन मानते थे और मेरी 'सेवा' करके, 'प्रणाम' करके या मेरी स्थिति पर 'चच्छ' वाला अफ़सोस जताकर वे चाहते थे कि ईश्वर उनके इस कृत्य को एक 'पुण्य कार्य' मान लें और उनके खाते में एक पुण्य बढ़ा दे। भगवान को दीनबंधु कहा जाता है। यह भी माना जाता है कि भगवान दीन-हीन, दुखी व्यक्ति के निकट होते हैं। लोग यूँ ही मान लेते हैं कि मैं एक दुखी प्राणी हूँ और इसलिए ईश्वर के करीब हूँ। शायद इसी मान्यता के कारण कुछ लोग मुझे ईश्वर तक पहुँचने का आसान ज़रिया मान लेते हैं।

इस तरह की मान्यता रखने वाले लोग दो बड़ी ग़लतियाँ करते हैं— एक तो वे यह नहीं समझते कि ईश्वर की पूरी अवधारणा भावना पर आधारित होती है। अगर कहीं पाप-पुण्य की गिनती होती है तो उस रजिस्टर में पुण्यों की गिनती बढ़ाने का एकमात्र उपाय मन की भावना को निर्मल और निष्काम रखना होता है। यदि आप किसी भूखे को रोटी यह सोचकर देंगे कि आपने कोई सेवा की, कोई दान दिया, कोई पुण्य किया या कोई महान काम किया है तो आपका यह कार्य किसी काम का नहीं रहेगा। 'मैंने ऐसा किया'—यदि आप इस बात का लेशमात्र भी अहम

करते हैं तो आपका कार्य पुण्य-कार्य नहीं रहता। दूसरी गलती यह कि किसी भी व्यक्ति को इस तरह दीन-हीन मान लेना और उसे पुण्य बढ़ाने का ज़रिया बना लेना एक असमान समाज को जन्म देता है। यह भाव एक ऐसे समाज की नींव रखता है जिसमें कोई दाता होता है, तो कोई भिखारी। कोई बड़ा होता है, तो कोई छोटा। ऐसा समाज असमानता पर आधारित होता है और उसी असमानता को पोषित भी करता है।

यदि किसी के पास दस रुपए हैं और आपके पास सौ रुपए हैं तो आप कहेंगे कि असमानता तो है ही। यह तो तथ्य है कि आपके पास नब्बे रुपए ज़्यादा हैं।

देखिए, असमान होना और असमान मानना— इनमें फ़र्क़ है। प्रकृति में कहीं कुछ ज़्यादा है, तो कहीं कुछ कम है। एक ओर रेगिस्तान है, तो दूसरी ओर महासागर है। यदि भौतिक असमानता न होती तो न दुनिया बन सकती थी और न ही व्यवस्था चल सकती थी। इसलिए, भौतिक असमानता एक ज़रूरी सच्चाई है। लेकिन भौतिक असमानता के कारण यदि हम मनुष्यों के मन में भाव भी असमानता के आने लगे तब समस्या उत्पन्न होती है। मन से किसी को असमान न मानें। कोशिश करें कि असमानता आपके मन से व समाज से समाप्त हो जाए।

खैर, मुझे ज़िन्दगी में एक तरफ़ ऐसे लोग मिले जो मेरे 'अपाहिज' होने के कारण मुझे अपने से कमतर मानते हैं। ऐसे लोगों के मन में मेरे लिए दयाभाव होता है। दरअसल, ये वो लोग हैं जो मेरी तुलना में अपनी बेहतर दशा को देखकर मन ही मन खुश होते हैं।

दूसरों की वेदना में, वेदना जो है दिखाता,  
निज वेदना से मुक्ति का, हर्ष केवल वह छिपाता;  
तुम दुखी हो तो सुखी मैं, विश्व का अभिशाप भारी!  
क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी?  
—हरिवंशराय बच्चन

दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी मिले जो मुझे देवता की तरह प्रणाम करते हैं। इन लोगों के मन में दयाभाव नहीं बल्कि लालच होता है। वे मुझे केवल एक विकृत शरीर की तरह देखते हैं और मुझे पाप धोने व पुण्य कमाने का एक ज़रिया मानते हैं।

इसके विपरीत ऐसे लोग बहुत कम मिले जो मुझे अपने बराबर मानते हैं। न ऊपर, न नीचे...बस बराबर! इन बेहद दुर्लभ लोगों में इतनी क्षमता होती है कि वे विकलांगता के पर्दे के पार वास्तविक ललित को देख पाते हैं। ये लोग तुलना नहीं करते, ये लोग सहायता के आवरण में पुण्य कमाने का मौका नहीं ढूँढ़ते, ये लोग न मेरे पैर पड़ते हैं और न ही मुझे अपने से हीन मानते हैं। ये दुर्लभ लोग, बस गले लगाते हैं!...ठीक वैसे ही, जैसे एक इंसान, दूसरे इंसान से बराबरी के

साए में गले मिलता है।

## घूरना भारत की राष्ट्रीय समस्या है

मैंने भारत के बहुत से राज्य देखे हैं और यह जाना है कि भारत को विविधता का देश क्यों कहा जाता है। लोगों की भाषा, खान-पान, वेश-भूषा सब जगह अलग-अलग है...लेकिन एक चीज़ है जो हर जगह एक जैसी है— घूरने की आदत। घूरना/ताकना पूरे भारत की समस्या है।

विदेशों में मैंने देखा कि वहाँ लोग किसी को ताकते नहीं हैं। किसी को टकटकी लगाकर देखने को वहाँ असभ्यता माना जाता है। इसके उलट भारत में लोग यह जानकर भी अपनी नज़रें नहीं हटाते कि सामने वाले ने उनकी इस टकटकी को नोटिस कर लिया है। टकटकी लगाकर देखना लोग अपना अधिकार समझते हैं। मेरे साथ असंख्य बार ऐसा हो चुका है कि मुझे सड़क पर चलते देखकर लोग बेझिझक मुझे ताकने लगते हैं। कई लोग तो बीच बाज़ार करीब आकर मेरा ऐसे मुआयना करते हैं जैसे कि किसी अजूबे को देख रहे हों। उन्हें ज़रा भी झिझक नहीं होती और मुझे जी भरकर ताक लेने के बाद ही वे आगे बढ़ते हैं।

आप शायद इस बात से अनजान हों कि पिछली बार जब आपने किसी विकलांग व्यक्ति को कुछ पल टकटकी लगाकर देखा था, तब आपने उस व्यक्ति को ऐसी भावना से भर दिया था जो असहजता, शर्मिंदगी और अपराध-बोध से लेकर अवसाद तक कुछ भी हो सकती है।

ताकते हुए लोगों को लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता कि जिसे वे ताक रहे हैं, वह व्यक्ति असहज महसूस करेगा। हमारे समाज में माता-पिता बच्चों को यह नहीं सिखाते कि किसी को किसी भी कारण से ताकना शिष्ट आचरण नहीं है। एक और चलन समाज में देखने को मिलता है, लोग विकलांगता के बारे में सीधे-सपाट तौर पर पूछने से क़तई नहीं कतराते। पश्चिमी देशों में ऐसा करना शिष्टाचार के खिलाफ़ माना जाता है, क्योंकि इस बात से यह संदेश जाता है कि आपके लिए व्यक्ति कम और विकलांगता अधिक महत्वपूर्ण है। किसी व्यक्ति की विकलांगता के बारे में आप पहली बार मिलते ही नहीं पूछ सकते। इस तरह के प्रश्न करने के लिए संबंध में प्रगाढ़ता का होना ज़रूरी होता है, लेकिन भारत में लोग बहुधा अन्य सभी बातों को एक ओर रखते हुए, सबसे पहले मेरी बैसाखियों को देखते हैं और मेरी विकलांगता के बारे में बात करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, मेरे वर्तमान दफ़्तर के बहुत से कर्मचारियों ने मुझे बैसाखियों पर चलते देखकर सीधे-सीधे पहली ही बार में प्रश्न किया कि आपको क्या हुआ है? मेरे जवाब देने पर वे मुझे अपेक्षानुसार 'कर्मों के विधान' और 'भगवान की मर्ज़ी' का ज्ञान थमा देते हैं। कई लोग तो बिना हिचक के विकलांगता को पिछले जन्मों में मेरे बुरे कर्मों का नतीजा बता देते हैं और साथ में यह सलाह भी दे देते हैं कि इस सज़ा को काट लो, आगे सब ठीक होगा।



भारत का आम आदमी जब तक विकलांगता को लेकर इस तरह असंवेदनशील बना रहेगा, तब तक भारत में विकलांगता एक अभिशाप ही बनी रहेगी और विकलांगों के जीवन में सुधार की संभावनाएँ कभी वास्तविकता का रूप नहीं ले पाएँगी। स्वस्थ शरीर और विकलांगता के बीच आकस्मिकता की एक अत्यंत महीन रेखा होती है। किसके जीवन में यह रेखा कब, कहाँ, कैसे चटक जाती है...इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। आकस्मिकता के इस खेल को कर्मों से जोड़कर देखना न केवल मूर्खता है, बल्कि संवेदनहीनता का उदाहरण भी है।

...और बात सिर्फ विकलांगजनों की ही नहीं है। भारत में लोग हर उस व्यक्ति को अपलक ताकने से नहीं कतराते जो 'अलग' है। व्यक्ति चाहे औसत से लंबा हो, छोटा हो, काला हो, मोटा हो...या लड़की हो! जी हाँ, लड़कियों को तो ऐसे पूरा जाता है जैसे कि वह कोई वस्तु हों। भारत में अधिकांश लड़कियाँ इस समस्या से जूझती हैं, गली-सड़क से गुज़रते हुए उन्हें बहुधा असहज करने वाले अनुभव होते हैं।

हमें यह सीखना होगा कि हर व्यक्ति का अपना एक पर्सनल-स्पेस होता है और उस स्पेस का पूरा सम्मान किया जाना चाहिए। किसी के पर्सनल-स्पेस का मन, वाणी या कर्म से उल्लंघन करना असभ्यता की निशानी होती है।

## बारहवीं कक्षा का बोर्ड

पढ़ाई में पूरी तरह डूबे रहने के कारण बारहवीं कक्षा का एक वर्ष आनन-फ़ानन में कब गुज़र गया पता ही नहीं चला। मैंने ख़ूब मेहनत की...खासकर अँग्रेज़ी सीखने के लिए तो दिन-रात एक कर दिया। बारहवीं की शुरुआत में मेरा अँग्रेज़ी का ज्ञान पहले से ही अँग्रेज़ी-माध्यम में पढ़ रहे छठी-सातवीं के बच्चे जितना ही था। मैं कोई एक वाक्य ऐसा नहीं लिख पाता था जिसमें व्याकरण और स्पेलिंग की ग़लती न हो। भाषा के इस अति-सीमित ज्ञान के साथ बारहवीं कक्षा का विज्ञान पढ़ना एक बड़ी चुनौती थी।

अम्मा मुझे रोज़ सुबह चार बजे जगा देती थीं। उन दिनों जिस कमरे में हम सोते थे उसी के एक कोने में बैठकर नहा भी लेते थे। एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के घर में सभी कमरे मल्टी-परपज़ होते हैं। ठंडे पानी और कपड़े धोने के साबुन से नहाकर मैं घर से निकल पड़ता। पास ही हमारे एक अध्यापक का घर था जो कुछ बच्चों को सुबह एक घंटा ट्यूशन पढ़ाया करते थे। मैं उनसे रसायन शास्त्र, गणित और अँग्रेज़ी की ट्यूशन ग्यारहवीं कक्षा से ही ले रहा था। अँधेरे में बैसाखियों को ठीक जगह रखना कठिन होता था। इसलिए मैं गिरता भी अधिक था। गलियों में सो रहे कुत्ते भी मेरी बैसाखियों की खट-खट सुनकर जाग जाते थे और काटने को दौड़ते थे। इस सबके बावजूद मैं मुँह-अँधेरे ट्यूशन के लिए रोज़ाना पहुँच ही जाता था। एक-सवा घंटा पढ़ने के

बाद घर आकर जल्दी-जल्दी स्कूल के लिए तैयार होता और करीब सवा छह बजे स्कूल के लिए निकल पड़ता। मैं स्कूल में भी अँग्रेजी की अतिरिक्त कक्षाएँ लेता और ढाई-तीन बजे तक घर वापस आता। करीब तीन किलोमीटर चलने के कारण थकान बहुत ज़्यादा हो जाती थी, फिर भी मैं आते ही पढ़ने बैठ जाता। मैंने एक पूरा टाइम-टेबल बनाया हुआ था जिसके अनुसार मैं सभी विषयों की पढ़ाई करता था। रात को दस बजे के लगभग मेरा दिन समाप्त होता था।

इस तरह पूरा वर्ष बीत गया और बोर्ड की परीक्षाएँ करीब आ पहुँची। बारहवीं के छात्रों के लिए स्कूल ने इस आशा से विदाई-समारोह आयोजित किया कि हम सब पास हो जाएँगे और कॉलेज में जा पहुँचेंगे। इसी छोटे-से समारोह में मुझे सर्वश्रेष्ठ छात्र का पुरस्कार मिला था...और इसी समारोह में मेरे ही सहपाठी ने कहा था कि मुझे पुरस्कार 'सांत्वना' और 'दया' स्वरूप इसलिए मिल रहा था, क्योंकि मैं चल नहीं सकता था।

और इसी समारोह में मैंने ठान लिया था कि अब तो चाहे जो हो जाए पर सिद्ध करके दिखाना है कि यह पुरस्कार मुझे सहानुभूति के तौर पर नहीं मिला था। मैं यकीनन अपनी कक्षा के सभी छात्रों के मुकाबिले बेहतर था, लेकिन यह हमारी शिक्षा-पद्धति का दोष है कि इसमें संपूर्णता के साथ निर्णय नहीं होता। दुर्भाग्य से निर्णय केवल परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर होता है। मेरी छोटी-सी प्रयोगशाला, मेरी किताबनुमा कॉपियों, वैज्ञानिक जिज्ञासा से उपजी मेरी खुराफ़ातों, घर पर नई व फटी-पुरानी किताबों से मेरी बनाई लाइब्रेरी, पुस्तकों को पढ़ने की ललक, विज्ञान के रोचक क्रिस्से सुनने के लिए सहपाठियों का मुझे घेरकर बैठना, पैदल चलने जैसी साधारण चीज़ के लिए अपने शरीर को रोज़ाना बेहाल करना, रोज़ाना कई-कई बार गिरना, चोट बर्दाश्त करना, समाज का दयाभाव सहना...लेकिन फिर भी जुटे रहना...हमारी शिक्षा-पद्धति इन बातों के महत्त्व को न तो माप सकती है और न ही मापना चाहती है। उसे केवल एक ही चीज़ दिखाई देती है— परीक्षा में प्राप्त अंक!

सो, मैंने ठान लिया कि यदि अंक ही मापदंड हैं...तो अंक भी प्राप्त किए जाएँगे...

बारहवीं कक्षा में बोर्ड की परीक्षाएँ हुईं। परीक्षा-केंद्र अधिक दूर नहीं था। कैलाश चाचा या पापा मुझे साइकिल पर बैठाकर परीक्षा-केंद्र ले जाते और परीक्षा के बाद वापस ले आते। इस परीक्षा-केंद्र में भी सारी परीक्षाएँ पहले फ़्लोर पर होती थीं। हमारे कुतुब स्कूल में कोई ऊपरी फ़्लोर नहीं था, इसलिए मुझे बैसाखियों के सहारे सीढ़ियाँ चढ़ने की आदत नहीं थी। सो, परीक्षा के लिए पहले फ़्लोर तक जाना अपने-आप में बड़ा काम था।

खैर, एक-एक कर सभी पेपर ख़त्म हुए और गर्मियों की छुट्टियाँ शुरू हो गईं। छुट्टियों के बाद नतीजे आने थे। परिस्थितियों को देखते हुए जितनी हो सकती थी उतनी मेहनत तो मैंने की थी, लेकिन अँग्रेजी भाषा की समस्या के कारण मैं सुनिश्चित नहीं था कि मैं पास हो पाऊँगा या नहीं। हमारी पूरी कक्षा का यही हाल था।

गर्मियों की छुट्टियाँ नतीजों के इंतज़ार में गुज़रीं, मन में एक बेचैनी थी कि पता नहीं क्या नतीजा आएगा और फिर आगे क्या भविष्य होगा...

## बारहवीं की परीक्षाओं के नतीजे

गर्मियों की छुट्टियाँ बीत गई और नतीजों का दिन पलक झपकते ही सामने आ खड़ा हुआ। नतीजे वाले दिन मैं सुबह करीब नौ बजे स्कूल पहुँच गया और वहाँ बेसब्री से नतीजे घोषित होने का इंतज़ार करने लगा।

काफ़ी इंतज़ार के बाद आखिरकार नतीजे नोटिस बोर्ड पर लग गए...

लेकिन मैं नतीजे देखने नहीं गया। दिल बहुत ज़ोर से धड़क रहा था। मुझे इस बात का अनुमान था कि अगले कुछ मिनटों में मुझे जो नतीजे पता चलेंगे उनका असर मेरी पूरी ज़िन्दगी पर पड़ेगा।

“ओए तू पास हो गया!” अचानक एक सहपाठी ने आकर कहा।

मुझे ऐसा लगा जैसे दम घुटने से बस एक पल पहले मुझे ऑक्सीजन मिल गई थी!

“...और तेरे सबसे ज़्यादा नंबर आए हैं!”

उस पल मुझे लगा जैसे दुनिया अचानक बेपनाह रोशनी से भर गई हो और मैं भी रोशनी की तरह ही हल्का हो गया होऊँ।

जितना मेरे लिए संभव था, उतना जल्दी-जल्दी चलते हुए मैं नोटिस-बोर्ड के पास गया और पाया कि मैं न केवल पास हुआ था...न केवल मेरी फ़र्स्ट डिविज़न आई थी, बल्कि मेरे अंक भी सबसे अधिक थे।

दूरदर्शन पर दिखाई जाने वाली पुरानी फ़िल्मों में इसे ‘फ़र्स्ट क्लास फ़र्स्ट’ आना कहते थे। दूसरे स्थान पर रहे चरण सिंह से मैं केवल दो-तीन अंक ही आगे था, लेकिन आखिरकार मैंने अपने दोस्त को पीछे छोड़ दिया था। मैं और चरण दोनों ही बहुत खुश थे!

यह मेरे स्कूल-जीवन का अंतिम दिन था। मेरी स्थिति ऐसी थी जैसे कोई बरसों की कड़ी मेहनत के बाद बस एक सेकेंड के शेष रहते ‘फ़िनिशिंग लाइन’ को छू ले। बारहवीं कक्षा पास करके मैं अपने परिवार के इतिहास में सबसे अधिक शिक्षित व्यक्ति बन गया था!

वह दिन मेरे जीवन के एक अध्याय का आखिरी पन्ना था। प्रश्न यह था कि क्या स्कूल में विज्ञान की पढ़ाई पूरी करने के बाद समाज की नज़रों में बेचारगी कुछ कम हुई थी? वर्षों लंबी तपस्या के कारण क्या समाज मुझे केवल एक अपाहिज से कुछ अधिक मानने लगा था?

नहीं...

## आधिकारिक रूप से विकलांग होना

बारहवीं के नतीजे आने के तुरंत बाद पापा ने इस बात का दबाव बनाना शुरू कर दिया कि मैं विकलांगता प्रमाण-पत्र बनवा लूँ। मैं अपने लिए इस तरह का कोई भी प्रमाण-पत्र बनवाने के सख्त खिलाफ़ था। जिस व्यवस्था और समाज का हॉलमार्क ही संवेदनहीनता हो, उस समाज के रजिस्टर में मैं क्यों एक विकलांग के रूप में नाम लिखवाऊँ? मेरी ज़िद थी कि जीना किसे कहते हैं, यह मैं इस समाज को सिखाऊँगा। इस समाज को अपनी सोच बदलने के लिए विवश कर दूँगा। इसके लिए मुझे संसाधनों की कमी के बावजूद आगे बढ़कर दिखाना था। राह में आने वाली हर बाधा को पार करना था। एक बीमार व कमज़ोर शरीर के बावजूद हर दूरी को तय करना था। जिनके पास संसाधन होते हैं, उनके द्वारा लक्ष्य हासिल कर लेना उतनी बड़ी बात नहीं। बात तो तब हो कि जब संसाधनों के बिना कोई पहाड़ को बीच में से चीर दे (जैसा दशरथ माँझी ने किया था!)

मैं पापा की मनोस्थिति को समझ पा रहा था। वह मुझे एक ‘सुरक्षित’ भविष्य देना चाहते थे, लेकिन मुझे तो अपने रास्ते ‘असुरक्षा’ के बीच से ही खोजने थे। मेरा विरोध अपनी जगह था,

लेकिन पापा के लगातार कहने के कारण मैं अधिक समय तक मना नहीं कर पाया और मैंने प्रमाण-पत्र बनवा लेने की स्वीकृति दे दी।

पापा मुझे लेकर 'मेडिकल' (एम्स) अस्पताल गए। वहाँ एक डॉक्टर ने मेरे शरीर का मुआयना किया और मुझे एक प्रमाण-पत्र दिया जिसके मुताबिक मेरे दोनों पैरों में 90% विकलांगता है। यह प्रमाण-पत्र जीवन भर के लिए मान्य है, क्योंकि पत्र के मुताबिक मेरी स्थिति में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है।

इस तरह सरकारी दस्तावेज़ों में एक विकलांग व्यक्ति की बढ़ोत्तरी हो तो गई, लेकिन मैंने सोच लिया था कि मैं इस प्रमाण-पत्र का प्रयोग नहीं करूँगा। मैंने आज तक जितने भी फ़ॉर्म भरे हैं, उन सभी में मैंने स्वयं को 'जनरल कैटेगरी' में दिखाया है। रेल का रिज़र्वेशन हो या नौकरी के लिए एप्लीकेशन फ़ॉर्म...मैंने कहीं भी इस प्रमाण-पत्र के आधार पर कोई सुविधा नहीं ली।

मैं विकलांगता प्रमाण-पत्र या इससे मिलने वाले लाभों के खिलाफ़ नहीं हूँ। हो सकता है कि आगे मैं भी किसी सुविधा का प्रयोग करूँ। जिन व्यक्तियों को वास्तव में आवश्यकता है, वे अवश्य इस प्रमाण-पत्र को बनवाएँ और सरकार की ओर से विकलांगजनों को मिलने वाली सुविधाओं का लाभ अवश्य उठाएँ। अभी तक इस प्रमाण-पत्र का प्रयोग न करना मेरा एक व्यक्तिगत निर्णय रहा है। यह अहम नहीं है, बल्कि एक ज़िद है। अहम करने लायक़ मेरे पास भला रहा भी क्या है! बस एक ज़िद है, एक इच्छाशक्ति है, समाज को बेहतर बनाने की ख्वाहिश है, समानता लाने का प्रयास है और पूरे संसार को अपना दोस्त बनाने का लक्ष्य है।

मेरा फ़ॉर्मूला बहुत सीधा है। जब तक संभव हो अपनी सीमाओं को आगे बढ़ाते जाइए। सहारा लेने के बजाय सहारा बनना सीखिए।

To be a giant.

This has forever been our passion,

This desire to be a giant.

Not to stand on one's shoulders but to  
have one for a  
friend,

Though these may be fortunate things,  
But to be one.

Giants step over barriers that seem

never-ending.

They conquer mountains that appear insurmountable.

Giants rise above fear,

Triumph over pain,

Push themselves and inspire others

—Olympic Campaign

सब कुछ समेट लेने के बजाय इस बात पर ध्यान दें कि आप समाज को अपनी ओर से दे क्या रहे हैं। मैं ऐसे लोगों से भी मिला हूँ जो मात्र एक उँगली के कट जाने पर ही विकलांगता प्रमाण-पत्र बनवा लेते हैं। ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जिनके पास तमाम सुख-सुविधाएँ हैं, लेकिन फिर भी झूठे प्रमाण-पत्र बनवाते हैं कि वे पिछड़ी जाति से संबंधित हैं। ऐसे लोग भी देखे हैं जिनके यहाँ अन्न-धन के भंडार भरे हैं, लेकिन वे फिर भी सस्ता राशन लेते हैं और बीपीएल कार्ड के लिए आवेदन करते हैं। ऐसे लोग समाज को कुछ देने की अपेक्षा, जहाँ से हो, जैसे हो, सब अपनी झोली में समेट लेना चाहते हैं।

दोस्तो, विपरीत परिस्थितियों से घोर संघर्ष कीजिए, इस बात का गर्व सहित ऐलान कीजिए कि आप विपरीत धारा में भी तैरना जानते हैं। समाज का सहारा केवल तब लीजिए जब आप अपनी निजी सीमा तक स्वयं को खपा दें।

## कॉलेज जाने की तैयारी

बारहवीं कक्षा में पास हो जाने की खुशी कई दिन तक छाई रही। परीक्षा के नतीजे इस बात का प्रमाण थे कि अँग्रेज़ी भाषा की समस्या मैंने आखिरकार इस सीमा तक तो हल कर ही ली थी कि मैं बोर्ड की परीक्षा में पास हो सकूँ। अब कॉलेज जाना अचानक मुमकिन लगने लगा था, लेकिन कॉलेज जाना था बहुत मुश्किल। मैंने बीते बारह साल में कभी महरौली से बाहर की दुनिया का अकेले सामना नहीं किया था। एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए मुझे केवल एक ही रास्ता सूझता था— और वह था, पैदल चलना। खुद के लिए, मैं सभी दूरियों को मीटर या किलोमीटर में नहीं बल्कि क़दमों में मापता था। कुतुब स्कूल तक जाना ही बहुत मुश्किल था, उससे एक

क्रदम और आगे जाने का ख्याल तो मुझे असंभव-सा जान पड़ता था।

फिर भी अपने तमाम डरों को मन में छुपाए मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न कॉलेजों में दाखिले के फ़ॉर्म भरने आरंभ किए। कॉलेज अच्छा है या बुरा है, यह मेरे लिए महत्वपूर्ण बात नहीं थी। घर से कॉलेज की दूरी ही एकमात्र पैमाना थी जिसके आधार पर मैं फ़ॉर्म भर रहा था। मैंने शायद तीन या चार कॉलेजों में बी.एससी. (जीव-विज्ञान) में दाखिले के लिए फ़ॉर्म भरे थे। ये सभी वे कॉलेज थे जो महरौली के सबसे नज़दीक थे।

आखिरकार तमाम जद्दो-जदह के बाद मेरा दाखिला श्री अरविंदो कॉलेज में हो गया। मालवीय नगर में स्थित यह कॉलेज मेरे घर से करीब चार किलोमीटर की दूरी पर था।

दाखिला तो हो गया, लेकिन अब बहुत कुछ बदल गया था। स्कूल के मेरे किसी सहपाठी ने इस कॉलेज में दाखिला नहीं लिया था। स्कूल के गिने-चुने मित्र जिनके बीच मैं सहज अनुभव करता था, उनमें से अब कोई मेरे साथ नहीं था। अब मेरे साथ कॉलेज आने-जाने वाला भी कोई सहपाठी नहीं था और 'आना-जाना' अपने आप में एक ऐसी चीज़ थी जिसके लिए मुझे एक नए समाधान की आवश्यकता थी। रोज़ाना चार किलोमीटर पैदल चलकर कॉलेज जाना और फिर इतनी ही दूरी वापसी में तय करना, मेरे लिए व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था।

## कॉलेज में पहला दिन

फ़ॉर्म जमा कराने और दाखिले की प्रक्रिया के लिए मैं पापा के साथ दो बार श्री अरविंदो कॉलेज जा चुका था। वहाँ का पूरा वातावरण मुझे इतना अजनबी और असहज करने वाला लगा कि मैं कक्षाएँ शुरू होने के दो-तीन दिन बाद तक कॉलेज नहीं गया। मैं अपने-आपको कॉलेज के वातावरण के नएपन के लिए मानसिक रूप से तैयार करने की कोशिश कर रहा था। कॉलेज में मैं किसी को भी नहीं जानता था। स्कूल से तुलना करें तो कॉलेज में सब कुछ बदला हुआ था। यह बदला हुआ वातावरण और यहाँ के लोग मुझसे कैसा व्यवहार करेंगे...मैं इसी को समझने में लगा था।

जो छात्र ऐसे स्कूलों में पढ़ें हो जिनमें केवल लड़के ही जाते हों, उन छात्रों से यदि आप पूछें कि कॉलेज में उन्हें सबसे खास बात क्या लगती है तो अधिकांश का उत्तर होगा— लड़कियाँ! यह पूरी तरह स्वाभाविक है, लेकिन मेरा जवाब इससे अलग था। कॉलेज में वर्दी का हट जाना मेरे लिए सबसे खास बात थी।

मैंने देखा कि कॉलेज में कोई वर्दी नहीं होती और सभी छात्र-छात्राएँ मनचाहे कपड़े पहनकर कॉलेज आ सकते थे। आपको शायद यह बात अजीब लगे, लेकिन इस बात से मैं काफ़ी असहज था।

स्कूल में सबके कपड़े एक जैसे होते थे और 'फ़ैशन' जैसी बात अधिकतर बाल बनाने के तरीके तक सीमित थी। इससे मैं कपड़ों के मामलों में अपने को बाक़ी सबके जैसा ही पाता था। इसके विपरीत कॉलेज की ज़िन्दगी में 'फ़ैशन' एक अहम रोल अदा करता है। नतीजतन कपड़े और उन्हें किस तरह पहना गया है, स्कूल की यह महत्वहीन बात कॉलेज में अचानक बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए कॉलेज में मेरा ध्यान शायद पहली बार इस बात पर गया कि चलते समय बैसाखियाँ मेरी क़मीज़ को ऊपर की ओर खींचती जाती हैं और पैट में दबाई हुई क़मीज़ बाहर निकल आती है। पहली बार मुझे अपने शरीर के अजीब दिखने का एक घनघोर एहसास हुआ। बड़ी संख्या में लड़कियों का आस-पास मौजूद होना भी इस समस्या को नए आयाम दे रहा था। मन अचानक बहुत सचेत हो गया था कि मैं कैसा दिखता हूँ!

कॉलेज में कक्षाएँ शुरू हुए कई दिन बीत चुके थे। घर पर बैठे हुए मुझे लगने लगा था कि अब तो कॉलेज जाना ही पड़ेगा, वरना मैं पढ़ाई में बहुत पीछे रह जाऊँगा। लेकिन बड़ी समस्या यह थी कि कॉलेज जाया कैसे जाए। इतनी दूर मैं पैदल तो जा नहीं सकता था और बस का प्रयोग करना मेरे लिए बहुत मुश्किल और ख़तरनाक था। आखिरकार यह तय हुआ कि सुबह कैलाश चाचा मुझे कॉलेज छोड़ देंगे। जैसा कि मैंने शुरू में बताया था, कैलाश चाचा केंद्रीय लोक निर्माण विभाग में बढ़ई के पद पर कार्य करते हैं। वह रोज़ साइकिल से अपने कार्यालय जाते थे। उस समय हमारे घर में वाहन के नाम पर बस वही एक साइकिल थी।

18 अगस्त 1994 कॉलेज में मेरा पहला दिन था। चाचा के साथ मैं सुबह करीब साढ़े नौ बजे घर से निकला। मैं साइकिल के पीछे कैरियर पर बैठा था, मेरी पीठ पर बैग था और दोनों बैसाखियाँ मैंने एक हाथ में पकड़ी हुई थी। साइकिल चल पड़ी और कुछ ही देर बाद हम कुतुब स्कूल के सामने से निकले। वहाँ पहले की तरह ही कक्षाएँ लगी थीं और कुछ छात्र आस-पास घूमते भी दिख रहे थे। स्कूल देखते ही लगा कि यह मेरा अपना स्कूल है। मन किया कि साइकिल से उतरकर अंदर चला जाऊँ, लेकिन अब मैं उस स्कूल से ऊपर उठ चुका था, मुझे आगे जाना था।

क़रीब दस बजे चाचा ने मुझे कॉलेज के गेट पर उतार दिया और वह आगे अपने कार्यालय चले गए। कॉलेज के अंदर गया तो मुझे बहुत घुटन-सी महसूस हुई। वहाँ मैं एक भी चेहरे को नहीं पहचानता था। चूँकि यह मेरा पहला दिन था तो मुझे टाइम-टेबल इत्यादि कुछ नहीं पता था। मैं पहले फ़्लोर पर बनी जूओलॉजी की लैब में पहुँचा। वहाँ डॉ. नारंग कुछ पढ़ा रहे थे और लेक्चर आधा समाप्त हो चुका था। जब मैंने दरवाज़ा खोला और डॉ. नारंग से अंदर आने की अनुमति माँगी तो कक्षा में बैठे क़रीब दस लड़के-लड़कियों की नज़रें मेरी ओर घूम गईं। डॉ. नारंग ने मुझे एक स्टूल पर बैठने के लिए कहा। उस छोटे-से स्टूल पर बैठने में मुझे खासी दिक्कत हुई और बैठते समय मेरी बैसाखियाँ हाथ से छूटकर गिर गईं। शुक्र है कि मैं नहीं गिरा। लैब के ख़ामोश वातावरण में बैसाखियों ने गिरकर ख़ूब शोर किया।

एक तो आधा लेक्चर बीत चुका था, फिर पहले फ़्लोर तक चढ़ने के कारण मैं हॉफ़ रहा था



और इसके भी ऊपर बैसाखियाँ गिरने के कारण मैं कुछ सकपका भी गया था...सो, डॉ. नारंग ने क्या पढ़ाया मुझे कुछ समझ नहीं आया। यह पीरियड समाप्त होने के बाद मैं बाहर आया, लेकिन अगला पीरियड कहाँ था, यह मुझे नहीं मालूम था। मैं ऐसे ही बाहर बैठ गया। कुछ देर बाद मैं नीचे ग्राउंड फ़्लोर पर बनी बॉटनी की प्रयोगशाला में गया तो पाया कि वहाँ भी फ़र्स्ट ईयर की बॉटनी की कक्षा चल रही थी। वहाँ भी करीब दस छात्र-छात्राएँ ही थीं। इन सभी को मैंने डॉ. नारंग के लेक्चर में भी देखा था। अब यही मेरे सहपाठी थे। लैब में मौजूद लेक्चरर को मैंने बताया कि यह मेरा पहला दिन है। उन्होंने मुझे एक लड़की के पास एक स्टूल पर बैठने को कहा। इस बार मैं बड़ी सावधानी से बैठा ताकि बैसाखियाँ फिर से न गिर जाएँ। लेक्चरर के कहने पर पास बैठी उस छात्रा ने मुझे समझाना शुरू किया कि लैब में क्या हो रहा था।

किसी लड़की से बात करने का मेरा यह शायद पहला मौक़ा था!

उस लड़की ने मुझे जो कुछ बताया, मुझे कुछ खास समझ नहीं आया। किताब में लिखी अँग्रेज़ी को समझना अभी भी मेरे लिए थोड़ा मुश्किल था। अभी भी मुझे पूरी बात समझने के लिए डिक्शनरी की ज़रूरत पड़ जाती थी। फिर भी मैं जितना समझ सका उसे अपनी कॉपी में नोट कर लिया। बॉटनी का पीरियड ख़त्म होने बाद सारे लड़के-लड़कियाँ लैब से बाहर आ गए और एक-दूसरे के साथ छोटे-छोटे समूहों में न जाने कहाँ-कहाँ चले गए। वहाँ कोई अकेला नहीं था...सिवाए मेरे! कॉलेज शुरू हुए करीब चार-पाँच दिन ही हुए होंगे, लेकिन कक्षा में मित्रों के छोटे-छोटे समूह बन चुके थे। फ़िलहाल मैं इनमें से किसी भी समूह का हिस्सा नहीं था।

मैं अधिक देर कॉलेज में नहीं रुक सका। एक लंबा रास्ता पैदल चलकर बस स्टैंड तक पहुँचा और वहाँ से बस में बैठकर महरौली बस टर्मिनल आया। वहाँ से फिर एक लंबा रास्ता पैदल तय कर घर पहुँचा। अब घर वापस आने के लिए बस ही मेरे पास एकमात्र साधन थी। सो चाहे जितना भी मुश्किल हो, जितना भी ख़तरा हो, मुझे वापस बस से ही आना था।

## कॉलेज में मेरी वेशभूषा

‘फ़्रैशन सेंस’ नामक चीज़ को न तो मैं जानता था और न ही मेरे लिए यह महत्वपूर्ण थी। जब हर क़दम पर गिरने का ख़तरा हो तो कहाँ इस बात पर ध्यान जाता है कि मैं देखने में कैसा लग रहा हूँ! और यह सच ही है कि मैं देखने में बहुत अजीब लगता था।

मैं प्लास्टिक के फ़्रेम वाला एक मोटा चश्मा पहनता था। जब मैं चलता था तो हर क़दम पर झटका लगने और ख़ूब पसीना आने के कारण कई बार चश्मा निकलकर गिरकर टूट जाता था। इसलिए मैं चश्मे को एक पतली बेल्ट से सिर के पीछे की ओर बाँध लेता था।

कपड़े के टेनिस शूज़ मेरे लिए सबसे अच्छे रहते थे, क्योंकि उनमें ऐड़ी नहीं होती, तला

बिल्कुल समतल होता है और चमड़े के जूते के मुक़ाबिले कपड़े में लचीलापन भी ज़्यादा होता है। इन सब गुणों के कारण ये सफ़ेद जूते मुझे ज़मीन पर अच्छी पकड़ बनाने में मदद देते थे। चमड़े के जूते पहनने पर मुझे संतुलन बनाने में बहुत दिक्कत होती थी।

सफ़ेद रंग के होने के कारण कपड़े के ये जूते गंदे भी जल्दी होते थे और कपड़ा फटता भी जल्दी था। मैं क़रीब छह महीने में एक बार नए जूते लाता था। उस समय मेरा दायाँ पैर क़रीब एक फुट छोटा पड़ चुका था और खड़े होने पर हवा में लटका रहता था। केवल मेरा बायाँ पैर ही ज़मीन पर टिकता था। चलते समय मैं अपने बाएँ पैर की उँगलियों और अँगूठे को काफ़ी कसकर मोड़े रखता था। पता नहीं क्यों, लेकिन इससे मुझे खड़े रहने में सहायता मिलती थी। इसके कारण मेरे बायाँ जूता ऊपर से कुछ ही दिनों में फट जाता था। अब न तो हर महीने नए जूते खरीदे जा सकते थे और न ही रोज़ाना उन्हें धोया जा सकता था। इसलिए, अधिकतर मुझे गंदे और फटे हुए टेनिस शूज़ पहनकर कॉलेज जाना पड़ता था।

मैं दुबला-पतला था और यदि आप मुझे कहीं भी खड़ा पाएँगे तो यह तय था कि मैं थकान के कारण पसीने में तर-ब-तर रहता था, इन सबको छोड़िए साहब...मैंने मूँछ भी रखी हुई थी!

कुल जमा बात यह कि मेरी वेशभूषा और मेरा बाहरी व्यक्तित्व बिल्कुल भी आकर्षक या प्रभावी नहीं था। बस मेरे दोनों बाजू ही ऐसे अंग थे जिनमें भरपूर ताक़त थी। बैसाखियों को सँभालते-सँभालते मेरी बाँहें और मेरे हाथों की पकड़ खासी मज़बूत हो गई थी। इसके अलावा मेरे शरीर में केवल दर्द ही दर्द था।

## कॉलेज में लड़कियाँ

मेरी कक्षा में बहुत-सी लड़कियाँ थीं। हमारी कक्षा में जो लड़के को-एड स्कूलों से आए थे, उन्हें लड़कियों से बातचीत में कोई हिचक नहीं होती थी, लेकिन मेरे जैसे लड़के जो को-एड स्कूलों से नहीं थे, वे शुरुआत में कुछ सकुचाए रहे...फिर जल्दी ही मेरी यह सकुचाहट समाप्त हो गई और लड़कियों से धीरे-धीरे बातचीत शुरू हो गई। लड़कियों से मेरी बातचीत केवल कक्षा में पढ़ाए जा रहे विषयों और नोट्स को लेकर ही होती थी। जैसे-जैसे समय बीता, कक्षा में अधिकांश लड़कों की लड़कियों से अच्छी दोस्ती हो गई थी। सच कहूँ तो मेरा भी मन करता था कि किसी लड़की से मेरी भी इतनी दोस्ती हो कि मैं पढ़ाई के अलावा भी उससे बातें कर सकूँ, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। इस तरह की मित्रता के लिए साथ रह पाना ज़रूरी था। लड़के-लड़कियाँ अक्सर कॉलेज की कैंटीन में चाय-कॉफ़ी के लिए जाते थे, पास की मार्केट और सिनेमा हॉल में भी जाते थे। कुछ लड़के-लड़कियाँ बस में बैठकर कॉलेज से घर भी साथ-साथ जाते थे। किसी न किसी तरह लड़के और लड़कियों का कक्षा के बाहर भी साथ बना रहता था, लेकिन लड़कियों से मेरी

बातचीत केवल कक्षा में या कॉलेज के छोटे-से पार्क में नोट्स बनाते हुए ही होती थी। ऐसे में पढ़ाई के अलावा और किसी बात का न तो ज़िक्र होता था और न ही इसके लिए समय मिलता था। कॉलेज का समय समाप्त होते ही सब लड़कियाँ अपने-अपने दोस्तों के साथ कैटीन, मार्केट या घर चली जाती थीं।

सभी लड़कों की तरह मेरा भी मन था कि लड़कियों से निकटता बढ़े, लेकिन मेरे लिए यह व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था। देखने में मैं अजीब लगता था और यह बात अधिकांश लड़कियों को असहज कर देती थी। मुझे लगता था कि लड़कियाँ केवल स्मार्ट लड़कों के साथ दोस्ती करना चाहती हैं। मैं लड़कियों के लिए कुछ भी कर सकने की स्थिति में नहीं था। मैं लड़कियों के साथ आस-पास घूमने भी नहीं जा सकता था क्योंकि मैं लड़कियों के सामने गिरना नहीं चाहता था। यह तो मैं बिल्कुल नहीं चाहता था कि किसी भी लड़की को यह पता चले कि मैं बस में कैसे सफ़र करता था। इसलिए मैं केवल कक्षा में अपनी डेस्क पर बैठा-बैठा उन्हें अपने नोट्स दिखा सकता था और शायद इतना किसी लड़की से दोस्ती करने के लिए काफ़ी नहीं था। हाँ, यह ज़रूर था कि पढ़ाई की ही सही, लेकिन कक्षा की अधिकतर लड़कियाँ मुझसे बात करती थीं। कॉलेज में किसी लड़की से मेरी दोस्ती नहीं हो पाई और इसमें किसी का भी दोष नहीं था। दोष केवल परिस्थितियों का था।

## कॉलेज की ऊँची इमारत

जल्दी ही मैं कॉलेज की ज़िन्दगी और उसके टाइम-टेबल में सहज हो गया। कक्षा में सभी लड़के-लड़कियों के नाम मालूम हो गए और सभी से बातचीत भी शुरू हो गई। सहपाठियों का मेरे प्रति व्यवहार अच्छा था। शुरू-शुरू में कुछ झिझक ज़रूर थी, लेकिन लड़कियों से बातचीत करने में मुझे कोई खास दिक्कत पेश नहीं आई।

हमारे कॉलेज की इमारत तीन मंज़िला थी। ग्राउंड फ़्लोर पर बॉटनी की लैब, पहली मंज़िल पर ज़ूओलॉजी की लैब और दूसरी मंज़िल पर केमिस्ट्री की लैब थी। कुछ लेक्चर तीसरी मंज़िल पर भी होते थे। इन सभी प्रयोगशालाओं में हमारी कक्षाएँ लगती थीं और इस कारण मैं किसी भी मंज़िल पर जाने से बच नहीं सकता था। एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल पर जाने के लिए करीब 20- 25 सीढ़ियाँ थीं और इन सीढ़ियों पर हमेशा छात्र-छात्राएँ बैठे और आते-जाते रहते थे। ऐसी स्थिति में मेरे लिए सीढ़ियाँ चढ़ना-उतरना टेढ़ी खीर थी। लेकिन कमाल की बात यह कि तीन साल के कॉलेज में मैं शायद केवल एक बार सीढ़ियों से गिरा था। इसके अलावा बस एक बार ऐसा हुआ कि सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मेरे हाथों से बैसाखियाँ छूटकर गिर पड़ीं। फिर भी हर बार, जब भी मैं सीढ़ियों से चढ़ा-उतरा, मेरे मन में हमेशा डर रहता था कि मैं अब गिरा कि तब गिरा। एक

मंज़िल से दूसरी मंज़िल तक पहुँचते-पहुँचते मेरे पेट, बाँहों और कंधों की माँसपेशियों में बल पड़ चुके होते थे।

धीरे-धीरे मैंने सीढ़ियाँ चढ़ना तो सीख लिया, लेकिन उम्र के साथ के शरीर के बढ़ते वज़न को बैसाखियों पर उठा पाना भी लगातार और अधिक कठिन होता जा रहा था। एक नई समस्या यह होने लगी थी कि मेरी कलाइयों में बल पड़ने लगे थे। बैसाखियों का लगातार प्रयोग करने के कारण मेरी कलाइयाँ यूँ तो काफ़ी मज़बूत थीं, लेकिन अब इनमें ऐंठन आने लगी थी। कई बार ऐसा होता था कि सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद मेरी कलाई (विशेषकर दाईं कलाई) में इतना तेज़ दर्द होने लगता था कि मैं पेन भी नहीं पकड़ पाता था। यह दर्द कभी कुछ मिनट, कभी कुछ घंटे और कभी-कभार एक-दो दिन तक रहता था।

## आने-जाने के लिए बसों का प्रयोग

घर से कॉलेज की दूरी बढ़ गई थी, और मुझे पैदल अब भी उतना ही चलना पड़ता था जितना घर से कुतुब स्कूल के लिए चलना पड़ता था। बाक़ी का रास्ता बस से तय होता था। उस समय चलने वाली डी.टी.सी की भारी-भरकम बसें ज़मीन से बहुत ऊँची होती थीं और मुझे हाथों के बल खुद को बस में खींचना पड़ता था। दिल्ली में बस ड्राइवर इतनी जल्दी में होते थे कि अक्सर वे बस को पूरी तरह से रोकते ही नहीं थे—केवल उसे धीमा कर देते थे—सवारियाँ अक्सर चलती बस में ही चढ़तीं और उतरती थीं। मेरे लिए यह अति-आवश्यक था कि बस पूरी तरह से रुक जाए और जब तक मैं किसी सीट पर न बैठ जाऊँ तब तक रुकी रहे।

बस की पहली सीढ़ी ज़मीन से करीब दो-ढाई फुट ऊपर होती थी। पहले मैं अपनी दोनों बैसाखियों को बस के अंदर सीढ़ी पर रखकर ऐसे जँचाता था कि वे गिर न पड़ें। इसके बाद मैं बस के ऊँचे फ़र्श पर अपने दोनों हाथ टिका कर बाज़ुओं की ताक़त से अपने शरीर को ऊपर की ओर खींचता था। सीढ़ी पर आने के बाद मैं बैसाखियों को फिर से अपनी बग़ल में लगाकर खुद को संतुलित करता और फिर बड़ी मुश्किल से बाक़ी की सीढ़ियाँ चढ़ता था।

बस का फ़र्श हमेशा गंदा होता था, लेकिन फ़र्श चाहे कितना भी गंदा हो मुझे दोनों हाथ उस फ़र्श पर टिकाने ही होते थे। बारिश के दिनों में लोगों के जूतों से लगकर सड़क की कीचड़ बस के अंदर फ़र्श पर फैल जाती थी, पर मुझे इस कीचड़ में भी हाथ रखना होता था...और कोई रास्ता नहीं था।

मेरे जुनूँ का नतीजा ज़रूर निकलेगा

## इसी सियाह समंदर से नूर निकलेगा! —अमीर क़ज़लबाश

एक बार की बात है, बस मेरे सामने रुकी और मैंने अपनी बैसाखियाँ अंदर रख दीं फिर जैसे ही मैंने फ़र्श पर हाथ टिकाने के लिए जगह ढूँढ़नी शुरू की, मैंने पाया कि किसी ने वहाँ फ़र्श पर उल्टी की हुई थी। ठीक उसी समय ड्राइवर ने बस को आगे बढ़ाना शुरू कर दिया। ऐसे में खुद को बस के अंदर खींचने के लिए मेरे पास केवल एक या दो सेकेंड का समय था। अगर मैं इन दो सेकेंड में बस के अंदर न होता तो फिर शायद बस के पहिए के नीचे होता क्योंकि बैसाखियों को तो मैं अंदर रख चुका था और बस आगे बढ़नी शुरू हो गई थी। मैं बिना सहारे के खड़ा नहीं रह सकता, मेरे पास कोई विकल्प नहीं बचा था। मैंने उल्टी से सने उस फ़र्श पर हाथ टिकाए और खुद को पूरी ताक़त लगाकर बस के अंदर की ओर खींचा। बस के अंदर आकर मैंने ड्राइवर को गुस्से भरी निगाह से देखा, लेकिन ड्राइवरों को कभी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था।

बस में एक महिला के बग़ल वाली सीट खाली थी। मैं उस पर बैठा, किसी तरीके से अपने बैग से एक कॉपी निकाली, उसमें से कुछ पन्ने फाड़े और उन पन्नों से अपने हाथ साफ़ किए। हो सकता है कि उल्टी का ज़िक्र होने के कारण आपको यह घटना बहुत अरुचिकर लगे, लेकिन मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं थी। चलते-चलते कई बार संतुलन खो देना और गिर जाना नई बात नहीं थी, और दुर्भाग्यवश गिरने का समय और स्थान मैं नहीं चुन सकता था। सो मैं ऐसे बहुत-से समयों, जगहों और चीज़ों में गिरा हूँ जिनका ज़िक्र करके मैं आपकी अरुचि को और बढ़ाना नहीं चाहता।

## बस ड्राइवरों का व्यवहार

दिल्ली में ड्राइवरों को बहुत जल्दी रहती है। मेरे कॉलेज के दिनों में दिल्ली में सरकारी डी.टी.सी. बसों के अलावा बड़ी संख्या में प्राइवेट बसें भी चलती थीं। प्राइवेट बसों को पहले रेड लाइन कहा जाता था। ये बसें ख़तरनाक ड्राइविंग के कारण कुख्यात थीं। इनकी वजह से हुई दुर्घटनाओं में हज़ारों लोगों ने अपनी जानें गँवा दीं। बाद में इनके ऊपर नीला पेंट कर दिया गया और इन्हें ब्लू लाइन बसें कहा जाने लगा, लेकिन रंग बदलने से इनके ड्राइवरों के ढंग नहीं बदले।

इन ड्राइवरों में कई ऐसे भी थे जो मुझे अपनी बस में चढ़ाना नहीं चाहते थे। ये ड्राइवर हमेशा जल्दी में इसलिए रहते थे ताकि दिन में अधिक-से-अधिक राउंड लगा सकें। बस अपने रूट के जितने अधिक चक्कर लगाएंगी, उतनी ही अधिक बस से आमदनी होगी और ड्राइवर,

कंडक्टर व बस-मालिक को उतना ही ज़्यादा मुनाफ़ा होगा।

मुझे बस में चढ़ने में कुछ देर लगती थी और यह कुछ पल का सब्र इन ड्राइवरों को मंज़ूर नहीं था। इनके चेहरे और बात करने के अंदाज़ से ही पता चल जाता था कि वे मेरे बस में चढ़ने से कितने नाखुश थे। डी.टी.सी. बसों के ड्राइवर तो फिर भी थोड़े संवेदनशील थे, लेकिन प्राइवेट बसों के ड्राइवर अक्सर मुझे कुछ न कुछ कह देते थे।

“अरे तुझे और कोई बस नहीं मिली चढ़ने के लिए?”

यह बात मैंने ड्राइवरों और कंडक्टरों से कई बार सुनी है। ये लोग इन बातों को इतना ज़ोर से बोलते थे कि बस की सारी सवारियों को भी सुनाई दे जाता था। इससे मुझे बहुत शर्मिंदगी होती थी— खासकर तब जबकि आस-पास अपने ही कॉलेज की लड़कियाँ भी हों। युवा मन के बनाए हुए सपनीले महल समाज की ऐसी टिप्पणियों से बारहा टूट जाते, लेकिन फिर मैं सोचता था कि मेरे मन को सपनीले महल बनाने ही नहीं चाहिए क्योंकि मुझे अभी बहुत संघर्ष करना था।

ऐसी टिप्पणियाँ सुनकर मैं बस ड्राइवरों से मन ही मन एक बात ज़रूर कहता था :

“आज आप मेरा मज़ाक़ बना सकते हैं, लेकिन एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब मुझे इस तरह बस में चढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। एक दिन मेरे पास भी कार होगी।”

उस समय खुद की कार के बारे सोचना भी संभव नहीं था। उस समय तक मैं कभी कार में बैठा भी नहीं था। मेरे मन में बस एक विश्वास था कि कभी तो मैं भी कार में बैठूँगा।

भीषण गर्मी में पैदल चलते हुए बेहाल होकर मैं किसी पेड़ के नीचे दो पल साँस लेने और पसीना पोंछने के लिए रुक जाता था। जब मैं देखता कि जिस रास्ते को तय करने में मेरा शरीर टूट जाता था, उसी रास्ते को कार में आराम से बैठा व्यक्ति तेज़ी से पूरा कर लेता था तो मेरे मन में आता कि अभी गुज़री उस कार को पुकारूँ कि भाई तुम्हारी कार में तीन सीटें खाली हैं, मुझे भी ले चलो... तुम्हारा क्या बिगड़ जाएगा?

फिर मन में आता कि मैं आवाज़ नहीं दूँगा, एक दिन मेरे पास भी कार होगी और तब मैं थकान से चूर किसी और ललित को अपनी कार में बैठा कर उसे सुकून दूँगा।

वैसे तो एक बस स्टैंड ठीक हमारे कॉलेज के गेट के सामने था, लेकिन वहाँ से महरौली के लिए केवल एक बस मिलती थी। यह बस अक्सर भरी हुई आती थी और कॉलेज के सामने आकर और अच्छी तरह से भर जाती थी क्योंकि कॉलेज के बहुत-से छात्र-छात्राएँ उसमें बैठ जाते थे। मैं ऐसी भरी हुई बसों में नहीं चढ़ पाता था, सो मुझे एक किलोमीटर पैदल चलकर दूर के एक बस स्टैंड से बस लेनी पड़ती थी। इस स्टैंड से महरौली के लिए ख़ूब सारी बसें मिलती थीं। मैं बस स्टैंड पर अपेक्षाकृत खाली बस का इंतज़ार करता रहता था और किसी कम भरी हुई बस के आने पर ही बस में चढ़ता था। जहाँ अन्य लोग पाँच मिनट में ही किसी न किसी बस में चढ़कर आगे चले जाते थे, वहीं मैं रोज़ाना करीब आधे-पौने घंटे कम भरी हुई बस का इंतज़ार करता रहता था। महरौली जाने वाली बसें मेरे सामने आकर ठहरतीं, उनमें से सवारियाँ चढ़ती-

उतरतीं और बसें आगे चली जातीं, लेकिन मैं एक 'उचित' बस का इंतज़ार करता रहता था। कभी-कभी 'उचित' बस का यह इंतज़ार एक घंटे और किसी-किसी दिन तो दो-दो घंटे तक खिंच जाता था। बस स्टैंड पर लोग आते-जाते रहते थे, लेकिन मैं वहीं बैठा हर बस का मुआयना करता रहता था कि इस बस में चढ़ा जा सकता है या नहीं। बस स्टैंड के पास पानी वालों और पान-बीड़ी वालों की रेहड़ियाँ लगी होती थीं। शुरू-शुरू में जब उन्होंने मुझे वहाँ लगातार खड़े देखा तो उन्होंने पूछा भी कि मुझे किस बस का इंतज़ार है? अब उन्हें मैं क्या समझाता कि यहाँ से जाने वाली अधिकांश बसें वहीं जाती हैं जहाँ मुझे जाना है, लेकिन मुझे... 'उचित' बस का इंतज़ार है!

बस के 'उचित' होने को मैं कई पैमानों पर मापता था। बस का मॉडल, सीढ़ी की ऊँचाई, खाली सीटें, बस के दरवाज़े में खड़े-लटके लोग, कंडक्टर की उपस्थिति और बस के दरवाज़े पर उसकी नज़र... और कई बार यह भी कि ड्राइवर कौन है। कुछ ड्राइवरों के चेहरे और वे किस बस को चलाते हैं, यह मुझे याद हो गया था। कुछ ड्राइवर जो दूसरों से बेहतर व्यवहार करते थे, मैं उनकी बस में चढ़ना चाहता था। बस का मॉडल इसलिए महत्वपूर्ण था, क्योंकि अलग-अलग मॉडलों में सीढ़ियों की ऊँचाई और बनावट अलग-अलग होती थी। एक मॉडल ऐसा था जिसमें ऊपरी दो सीढ़ियाँ तिरछी कटी होती थी। इन सीढ़ियों पर चढ़ना मेरे लिए बहुत ज़्यादा मुश्किल था। यदि कंडक्टर बस में उपस्थित है और उसका ध्यान अपने काम पर है तो भी मैं उस बस को बेहतर मानता था, क्योंकि कंडक्टर यदि मुझे चढ़ते हुए देख रहा हो तो इस बात की संभावना अधिक होती थी कि वह बस को तब तक रुकवाकर रखेगा जब तक मैं बस में चढ़ न जाऊँ। ड्राइवर अपेक्षाकृत अधिक अधीर होते थे और उनका ध्यान भी कई चीज़ों में बँटा होता था। इसलिए कई बार ड्राइवर मेरे चढ़ने से पहले ही बस चला देते थे। इससे मैं गिर जाता था और दुर्घटना की आशंका बढ़ जाती थी। मेरे शरीर में संतुलन की बेहद कमी थी, लेकिन फिर भी मैं चलता था। यह एक नट द्वारा ऊँची रस्सी पर चलने जैसा था।

Strength is measured in pounds.

Speed is measured in seconds.

Courage ... you can't measure courage!

—Olympic Campaign

सभी परिस्थितियों, संभावनाओं और संभावनाओं के घटित होने की संभावनाओं का गणित करने के बाद मैं सर्वश्रेष्ठ परिस्थिति का चुनाव करता था।

## बनी सिंह

जब मैंने कॉलेज जाना शुरू किया तो मैं बड़ी आतुरता से अपनी कक्षा में किसी ऐसे छात्र की खोज में लग गया जो मेरी तरह महरौली में ही रहता हो। कॉलेज में कुतुब स्कूल से मेरा कोई मित्र नहीं आया था। इसलिए मैं बहुत अकेला महसूस कर रहा था। कॉलेज से घर आते समय लंबा रास्ता अकेले तय करना बहुत खलता था। चूँकि कॉलेज में तो पूरी दिल्ली से छात्र-छात्राएँ आते थे, इसलिए इस बात की संभावना कम ही थी कि मुझे कोई महरौली में रहने वाला सहपाठी मिलेगा और शुरू के एक हफ़्ते मिला भी नहीं, लेकिन फिर एक दिन जीव-विज्ञान की प्रयोगशाला में एक नया छात्र आया। उस बिल्कुल दुबले-पतले लड़के ने मेरे साथ वाली सीट पर बैठकर अपना काम करना शुरू किया। वह बनी सिंह था।

उस दिन कॉलेज समाप्त होने के बाद बनी ने बताया कि वह भी उसी बस स्टैंड की ओर जाएगा जहाँ से मैं बस लेता था। पूछने पर उसने बताया कि वह महरौली में रहता है... और आगे बात करने पर पता चला कि उसका घर मेरे घर के काफ़ी नज़दीक ही था! मैं बनी से मिलकर बहुत अधिक खुश हुआ। हम दोनों ने कॉलेज से साथ-साथ घर आना शुरू कर दिया।

बनी पढ़ाई में कमज़ोर था, कक्षा में सबसे कम अंक लाकर पास होने वाले विद्यार्थियों में उसका नाम रहता था। लेकिन वह बहुत मित्रवत और सभी की सहायता करने वाला लड़का था। मैं पढ़ाई में बनी की जितनी हो सके उतनी सहायता करता था। विज्ञान के प्रयोगों में इस्तेमाल होनी वाली चीज़ें उठाकर मैं एक जगह से दूसरी जगह नहीं रख पाता था, इसमें बनी मेरी सहायता करता था। कॉलेज की प्रयोगशालाओं में अक्सर विद्यार्थी दो-दो के समूहों में ही काम करते थे। सो, मैं और बनी हमेशा एक समूह बना लेते थे। यदि प्रयोगशालाओं में चीज़ों को उठाने और रखने में बनी सिंह की सहायता न मिलती तो मेरे लिए कॉलेज पास करना और अधिक कठिन हो जाता।

## भीड़ में भी अकेलापन

दिन बीतने लगे। कॉलेज आने-जाने, कॉलेज बिल्डिंग में सीढ़ियाँ चढ़ने-उतरने, प्रयोगशालाओं में लंबे समय तक खड़े रहने जैसी समस्याओं का मैं अभ्यस्त होने लगा, लेकिन मैं कॉलेज के जीवन की रफ़्तार के साथ सहज नहीं हो पाया। कॉलेज के सहपाठी समूह बनाकर कहीं घूमने-फिरने जाते थे तो मैं उनके साथ नहीं जा पाता था। हमारी कक्षा को दो-तीन बार दूसरे कॉलेज की



प्रयोगशालाओं में भी ले जाया गया ताकि वहाँ हम मौजूद बेहतर सुविधाओं का इस्तेमाल कर सकें। मैं वहाँ कभी नहीं गया। थकान और चलते-चलते गिर पड़ने के डर के अलावा इसका एक कारण यह भी था कि मैं अपने एक-दो अध्यापकों से जितना हो सके उतनी दूरी बनाकर रखता था। ये अध्यापक बहुधा कुछ बोलने से पहले सोचते नहीं थे और कई बार मेरी विकलांगता के संदर्भ में ऐसी टिप्पणी कर देते थे जो मुझे बहुत बुरी लगती थी। भरी कक्षा में इस तरह की टिप्पणियाँ मैं स्कूल के समय से ही सुनता आ रहा था, लेकिन अब कॉलेज के दिनों में इन बातों को सह पाना और अधिक कठिन हो चला था। इसलिए मैं कोशिश करता था कि दूरी बनी रहे और इन अध्यापकों को कुछ कहने का मौका न मिले।

मैं तीन साल में शायद तीन बार भी कॉलेज की कैंटीन में नहीं जा सका और न ही कभी किसी सहपाठी ने मुझे साथ चलने को कहा। कक्षाओं के बीच जब कभी कोई खाली पीरियड मिलता तो मेरा एक ही ठिकाना होता था— पार्क में पीपल के पेड़ के नीचे। यह छोटा-सा पार्क कॉलेज कैम्पस के अंदर ही था। यहीं बैठकर मैं अपनी किताबें पढ़ता था, सहपाठियों से बातें करता और नोट्स बनाता था।

## रोज़गार की चिंता

धीरे-धीरे कॉलेज के दो वर्ष बीत गए। दोनों वर्षों में प्रथम श्रेणी अर्जित कर मैंने सभी परीक्षाएँ पास कर लीं। दूसरे साल की परीक्षाओं के बाद मैंने आने वाले दिनों के बारे में सोचना आरंभ किया। मैं कॉलेज में लगातार पास तो हो रहा था, लेकिन मुझे लग रहा था कि पढ़ाई-लिखाई मेरे काम नहीं आएगी। मैं पढ़ना चाहता था—खूब पढ़ना चाहता था—लेकिन मेरा शरीर मेरे रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट था। मैं प्रयोगशालाओं में ठीक से काम नहीं कर पाता था, क्योंकि प्रयोगशालाएँ मेरे हिसाब से नहीं बनी थीं। पैदल चलकर घर पहुँचते- पहुँचते मैं थककर इतना चूर हो जाता था कि पढ़ाई करना दुष्कर हो जाता। स्कूल के मुक़ाबिले अब मैं अधिक थकने लगा था, यह शायद उम्र का असर था। पोलियो एक ऐसा पहाड़ साबित हो रहा था जिसे मैं जितना चढ़ता जाता था उसकी ऊँचाई उतनी ही बढ़ती जा रही थी।

कॉलेज से आगे पढ़ पाना शायद मेरे लिए संभव न हो पाए, इसलिए मैंने घर में ही कुछ छोटा-मोटा काम शुरू कर आजीविका कमाने के बारे में सोचना शुरू कर दिया। इसके लिए मैंने 'पंजाब केसरी' अखबार में आने वाले क्लासिफ़ाइड विज्ञापनों को देखना आरंभ किया।

दूसरे वर्ष की परीक्षाओं के बाद पड़ी छुट्टियों के दौरान अपने सभी डरों के बावजूद मैं दिल्ली के दूर-दूर के इलाकों में भी रोज़गार के रास्ते खोजने के लिए जाने लगा। स्कूल के समय का मेरा एक मित्र राजेंद्र भी इसी तरह किसी रोज़गार की खोजबीन में था, इसलिए हम साथ-

साथ जाते थे।

मैं अखबार में ऐसे विज्ञापन खोजता था जिनमें घर में रहते हुए रोज़गार कर सकने की बात हो, जैसे कि मोमबत्तियाँ या जुराबें बनाने का काम। शायद नांगलोई के पास किसी फ़ैक्ट्री में जाकर मैंने एक मशीन देखी जिससे जुराबें बनाई जाती थीं। घर पर यह मशीन रखकर जुराबें बनाओ और फ़ैक्ट्री उन्हें खरीद लेगी। यह काम अच्छा तो लगा, लेकिन मशीन खरीदने के लिए पैसे नहीं थे। अखबार में ही पढ़ा था कि अपना खुद का काम शुरू करने के लिए सरकार युवाओं को 'प्रधानमंत्री रोज़गार योजना' के तहत क़र्ज़ देती है। अखबार में दिल्ली के दूसरे छोर पर कहीं किसी दफ़्तर का पता दिया गया था, वहीं इस क़र्ज़ के लिए फ़ॉर्म मिलना था। बस में बैठकर मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के पास स्थित उस दफ़्तर की खोज में गया, लेकिन दफ़्तर मिल ही नहीं रहा था। उस दिन मैं न जाने कितने किलोमीटर पैदल चला, पर आखिरकार मैंने दफ़्तर ढूँढ़ लिया और क़र्ज़ का फ़ॉर्म ले आया।

घर में मोमबत्तियाँ बनाने के काम के बारे में भी गंभीरतापूर्वक सोचा। एक-दो जगह देखकर भी आया। मोम उबालते रहो और साँचे में डालते रहो। अच्छा तो नहीं लग रहा था कि मैं यह सब करूँगा, लेकिन उस समय लग रहा था कि शायद मुझे यही सब करना पड़ेगा। कुछ लोगों को मैंने अपने बनाए एफ़िल टॉवर के मॉडल की फ़ोटो भी भेजी और उन्हें कहा कि मैं घर बैठकर उनके लिए ऐसी चीज़ें बना सकता हूँ। घर के पास स्थिति स्टेट बैंक की एक शाखा में भी लोन की पूछताछ के लिए गया।

ऐसे न जाने कितनी ही कोशिशें कीं, लेकिन कोई बात नहीं बनी और कॉलेज का तीसरा वर्ष शुरू हो गया।

## कंप्यूटर सीखने का विचार

कॉलेज के तीसरे वर्ष की कक्षाएँ आरंभ हो गईं। उन दिनों भारत में कंप्यूटर शिक्षा अपने बालपन में थी, लेकिन लोग यह मानने लगे थे कि कंप्यूटर सीखना एक अच्छा करियर साबित हो सकता है। मुझे भी लगने लगा कि कंप्यूटर मेरे लिए एक अच्छा विकल्प है, क्योंकि मुझे एक जगह बैठकर काम करना होगा। विज्ञान प्रयोगशालाओं की कठिनाइयाँ भी कंप्यूटर लैब में नहीं होंगी। इसके अलावा यह भी लगा कि मैं शायद कंप्यूटर क्षेत्र के लिए उपयुक्त हूँ, क्योंकि कंप्यूटर का भी अपना एक विज्ञान है। कंप्यूटर से काम कराने के लिए तर्क, क्रम और योजना बनाने की योग्यता चाहिए— मुझमें ये योग्यताएँ स्वाभाविक रूप से उन्नत हुई थीं। सो, कंप्यूटर मुझे अपने लिए एक उचित विकल्प लगा।

ऐसा नहीं है कि कंप्यूटर के बारे में सोचना मेरे लिए आसान था। मैं विज्ञान की

प्रयोगशालाएँ कतई नहीं छोड़ना चाहता था। मैं तो दरअसल माइक्रोबायोलजी में एम.एससी. करना चाहता था। मुझे सूक्ष्म जीवों और नाभिकीय विश्व में होने वाले स्पंदन से लेकर ब्रह्मांडीय विराट विस्तार तक सब कुछ समझना था। मुझे यह सब कुछ महसूस करना था। मेरा मन तो उन्हीं प्रयोगशालाओं में रमता था, लेकिन अफ़सोस कि वे प्रयोगशालाएँ ही मेरे लिए नहीं बनी थीं। मेरी खुद की प्रयोगशाला हो या मैं ज़रूरत के अनुसार अपनी प्रयोगशाला को सेट कर सकूँ, ऐसी स्थिति तक पहुँचने के लिए मुझे आगे बहुत पढ़ना था। एम.एससी. फिर पीएच.डी. फिर पोस्ट डॉक्टरेट... तब कहीं जाकर शायद कोई संभावना बनती कि मुझे मेरे मन मुताबिक़ ऐसी प्रयोगशाला मिल सके जिसमें मुझे काम करने में कठिनाई न हो। लेकिन विडंबना यह थी कि उस स्तर तक पहुँचने के लिए मुझे वर्षों तक ऐसी प्रयोगशालाओं में काम करना था जो मेरे हिसाब से नहीं बनी थीं। कॉलेज के अनुभव के आधार पर मुझे लगा कि मैं आगे प्रयोगशालाओं में काम नहीं कर पाऊँगा।

यदि बनी सिंह न होता तो रसायन विज्ञान की प्रयोगशाला में मैं कोई प्रैक्टिकल कर ही नहीं पाता। इसलिए भारी मन से मैंने विज्ञान में आगे की पढ़ाई के बारे में सोचना बंद कर दिया।

## कंप्यूटर कोर्स की खोजबीन

बस से आने-जाने में दिक्कत की वजह से मैं चाहता था कि घर या कॉलेज के पास ही कोई जगह मिल जाए जहाँ मैं कंप्यूटर सीख सकूँ। कुछ और दूर पैदल चलना मुझे स्वीकार था, लेकिन मैं बस का कम-से-कम प्रयोग करना चाहता था।

हमारे कॉलेज के गेट के ठीक सामने एक छोले-कुल्चे वाला खड़ा होता था। जब किसी दिन कॉलेज में देर तक रुकना होता तो मैं घर से चपातियाँ ले जाता था। दोपहर में बनी सिंह और मैं उस छोले-कुल्चे वाले से पाँच रुपए के छोले लेकर वहीं लंच कर लिया करते थे। छोले-कुल्चे वाले की साइकिल से करीब पचास क़दम की दूरी पर छोटी-सी मार्केट थी। कॉलेज जाते हुए मुझे दो साल से अधिक हो गए थे, लेकिन मैंने कभी उस मार्केट में जाकर नहीं देखा था। एक दिन कैलाश चाचा की साइकिल पर कॉलेज जाते समय मैंने देखा कि उसी मार्केट में 'फ़र्स्ट कंप्यूटर्स' का एक बोर्ड लगा है।

उस दिन जैसे ही कॉलेज में एक ख़ाली पीरियड मिला तो मैं कॉलेज से निकलकर फ़र्स्ट कंप्यूटर्स के सामने पहुँच गया। कॉलेज के गेट से उस जगह की दूरी बस वही कोई पचास क़दम थी। मैं बहुत खुश हुआ कि मुझे इतना करीब ही कंप्यूटर सिखाने वाला सेंटर मिल गया है। लेकिन फ़र्स्ट कंप्यूटर्स के सामने पहुँचते ही सारी खुशी काफ़ूर हो गई। यह सेंटर पहली मंज़िल पर था और ऊपर जाने के लिए एकदम खड़ी करीब पैंतीस सीढ़ियाँ थीं। सीढ़ियाँ इतनी खड़ी थीं

कि मैंने देखते ही लौट जाने का मन बना लिया, लेकिन फिर सोचा कि रिस्क लिए बिना बात नहीं बनेगी। इसलिए मैं धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। ऊपर पहुँचने तक मैं कई बार गिरते-गिरते बचा। अंदर गया तो वहाँ एक बहुत खूबसूरत-सी महिला ने मुझे उपलब्ध कोर्स की जानकारी दी और बताया कि एक साल के कोर्स की फ़ीस चौदह हज़ार रुपए होगी।

चौदह हज़ार रुपए हमारे लिए बहुत बड़ी रकम थी, लेकिन माँ-पापा ने कहा था कि अगर फ़ीस क्रिस्तों में हो जाए तो वे किसी तरह हर महीने की क्रिस्त इंतज़ाम कर लेंगे। इसलिए मैं कोर्स तो कर सकता था, लेकिन उन बेतुकी सीढ़ियों ने मेरा रास्ता रोक लिया। एक बार लगा कि उन सीढ़ियों से भी जूझ लूँ, लेकिन फिर पाया कि उन खतरनाक सीढ़ियों से अगर एक दिन मैं जीतूँगा तो अगले दिन वे भी जीत सकती हैं, और उन पर से गिरने का अर्थ यह था कि कॉलेज की पढ़ाई भी रुक जाएगी।

सीढ़ियाँ चढ़ना जो अन्य लोगों के लिए एक छोटी-सी बात थी, उसने जीवन के एक महत्वपूर्ण मोड़ पर मेरा रास्ता रोक लिया था। लेकिन जो लोग नदी की तरह अथक बहना जानते हैं, उनका रास्ता कोई चट्टान नहीं रोक सकती।

हम भी दरिया हैं हमें अपना हुनर मालूम है  
जिस तरफ़ भी चल पड़ेंगे रास्ता हो जाएगा!  
—बशीर बद्र

...और दरिया को अपना रास्ता एक सप्ताह बाद ही मिल गया!

रास्ता मिला भी बड़े रोचक ढंग से! उस दिन मैं क़रीब ही रहने वाले हमारे स्कूल के एक अध्यापक श्री गोविंदशरण अग्रवाल जी के घर गया हुआ था। वहाँ फ़ालतू समझकर कोने में फेंक दिए गए, दो-चार दिन पुराने अखबार के एक टुकड़े पर संयोगवश मेरी नज़र पड़ गई। अखबार के उस टुकड़े में विज्ञापन था कि मालवीय नगर में NIIT का एक नया सेंटर खुला है और उसमें GNIIT नामक कंप्यूटर कोर्स के लिए दाखिले चल रहे हैं। मेरा कॉलेज भी मालवीय नगर में ही था। विज्ञापन में दिए पते से मैंने अंदाज़ लगाया कि सेंटर मेरे कॉलेज से क़रीब आधा किलोमीटर की दूरी पर था। यह ख़बर मेरे लिए आशा की नई किरण लेकर आई। मैं अगले ही दिन कॉलेज ख़त्म होने के बाद दोपहर को क़रीब एक बजे आधा किलोमीटर चलकर NIIT के मालवीय नगर सेंटर पहुँचा। वहाँ भी सीढ़ियाँ थीं, लेकिन उतनी खतरनाक नहीं जितनी 'फ़र्स्ट कंप्यूटर्स' में थीं। उस सेंटर से पता चला कि GNIIT कोर्स तीन साल का था जिनमें दो साल पढ़ाई और फिर एक साल ऑन-द-जॉब-ट्रेनिंग थी। कुल फ़ीस क़रीब पचपन हज़ार रुपए बताई गई, पर साथ ही यह भी बताया गया कि NIIT कुछ ही दिन में 'भविष्य ज्योति स्कॉलरशिप' की परीक्षा का आयोजन करने वाली है। यदि मैं परीक्षा में सफल हो जाऊँ और स्कॉलरशिप हासिल कर लूँ तो मेरी फ़ीस

कुछ कम हो सकती है। मैंने उसी समय खुशी-खुशी स्कॉलरशिप परीक्षा के लिए रजिस्ट्रेशन करवा लिया।

‘भविष्य ज्योति स्कॉलरशिप’ की परीक्षा हुई और उसमें सफल रहने पर मुझे इंटरव्यू के लिए बुलाया गया। इंटरव्यू के बाद बताया गया कि मुझे कुल फ़ीस का 50% स्कॉलरशिप के रूप में प्राप्त हुआ है। यानी अब मुझे तीन साल के लिए करीब 27,500 रुपये की फ़ीस भरनी थी।

घर आकर जब मैंने माँ को यह बात बताई तो उन्होंने मुझे यह कोर्स कर लेने के लिए कहा। मेरे माता-पिता को मेरी क्षमता और परिश्रम पर भरोसा था, वरना उस समय इतनी बड़ी रकम खर्च करना हमारे लिए एक मुश्किल कार्य था।

कुछ ही दिन बाद मैंने GNIIT कोर्स का पहला सेमेस्टर आरंभ कर दिया।

अथक बहने वाली नदी ने अपना रास्ता खोजकर अब एक नए क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था!

सीढ़ियाँ उन्हें मुबारक हो, जिन्हे छत तक जाना है  
मेरी मंज़िल तो आसमान है, रास्ता मुझे खुद बनाना  
है!

—अज्ञात

## कॉलेज का अंतिम वर्ष

कॉलेज का तीसरा वर्ष आरंभ हो चुका था और अब मैं कॉलेज व GNIIT—दोनों की पढ़ाई एक साथ कर रहा था। सुबह नौ बजे मैं कैलाश चाचा की साइकिल पर NIIT पहुँचता था। वहाँ से कक्षा पूरी कर पैदल कॉलेज आता था और फिर अक्सर कॉलेज के बाद वापस NIIT में जाकर कंप्यूटर की प्रैक्टिस करता था। अब रोज़ाना मेरा पैदल चलना करीब दोगुना हो गया था। भरी दुपहरी में कॉलेज के बाद NIIT जाना और फिर वहाँ से घर पहुँचने में जान तक़रीबन निकल ही जाती थी।

एक रोज़ की घटना मुझे आज तक नहीं भूली है। मैं कॉलेज के बाद अतिरिक्त कक्षा के लिए दोपहर में NIIT की ओर जा रहा था। साथ में मेरी दो मित्र भी थीं जो कॉलेज में मुझसे जूनियर थीं और उन्होंने भी कुछ ही दिन पहले NIIT में पढ़ाई शुरू की थी। मैं पूरी कोशिश करता था कि जब मुझे लंबा चलना हो तो मैं अकेला चलूँ, किसी के साथ चलते हुए थकान के कारण मैं उस व्यक्ति से ठीक से बात नहीं कर पाता हूँ। मेरा पूरा ध्यान रास्ते की सतह, थकान,

पसीने इत्यादि पर लग जाता है। उस दिन बहुत तेज़ गर्मी पड़ रही थी, चलते हुए मेरी माँसपेशियों में बल पड़ गए, मुँह सूख गया और पसीना आँखों में भर गया... एक पल ऐसा आया कि थकान के कारण मैं सूरज की ओर देखते हुए जहाँ का तहाँ रुक गया, लेकिन मेरी दोनों मित्र आपस में बातचीत करते हुए आगे बढ़ गई थीं।

मैंने जैसे ही अगला क़दम उठाने की कोशिश की, मैं इतना ज़ोर से गिरा कि कई कलाबाज़ियाँ खाते हुए मेरा मुँह फ़ुटपाथ पर पड़ी धूल में धँस गया। बैसाखियों के नीचे दबने से मेरी उँगलियाँ नीली पड़ गईं। उस समय मुझमें ऊर्जा की एक बूँद भी शेष नहीं थी। मैं कुछ पल धूल में उसी तरह पड़ा रहा। मेरी मित्रों ने पीछे पलटकर देखा और वे मेरी सहायता के लिए दौड़कर आईं। पसीने में पहले से तरबतर मेरी क़मीज़ अब पूरी तरह से धूल में सन चुकी थी। पसीने से भीगे मेरे पूरे चेहरे पर भी धूल चिपक गई और मेरी नीली पड़ चुकी उँगलियों में बैसाखी थामने की क्षमता नहीं थी। मैंने अपनी मित्रों को बस इतना कहा कि मुझे कुछ पल का समय दें, मैं खुद खड़ा हो जाऊँगा। अचानक गिरने के शॉक, दर्द और शर्मिंदगी से निकल होश सँभालने में मुझे कई मिनट लग गए।

उसके बाद मैं किसी तरह खड़ा हुआ और दर्द से कराह रही अपनी उँगलियों की मुट्ठी बना फिर से बैसाखियाँ थाम लीं। मेरी मित्र अवाक् खड़ी थीं। मैं सेंटर की ओर चल पड़ा... और फिर सेंटर पहुँचने तक हम में से कोई कुछ नहीं बोला।

मैं खुद ज़मीन मेरा ज़फ़ आसमान का है  
कि टूट कर भी मेरा हौसला चट्टान का है  
— मोहसिन नकवी

सेंटर पहुँचकर मैं सीधा बाथरूम में गया और अपने चेहरे व हाथों से मिट्टी हटाई। कपड़ों में लगी मिट्टी पसीने के कारण चिपक चुकी थी, इसलिए उसे नहीं हटाया जा सकता था। मैं बाथरूम में रोया भी, कुछ दर्द के कारण, कुछ शर्म के कारण... यदि मैं अपनी मित्रों के सामने न गिरता तो मुझे उँगलियों के दर्द की परवाह नहीं होती। लेकिन मैं जानता था कि अब मैं उन लड़कियों की नज़र में कुछ और अधिक 'बेचारा' बन चुका था।

मैं कक्षा में नहीं गया। बाहर एक खाली केबिन में बैठकर पसीना सुखाया, उँगलियों को आराम दिया और आस-पास मौजूद NIIT के स्टाफ़ से नज़रें बचाता रहा ताकि वे मेरे धूल भरे कपड़ों के बारे में न पूछें। करीब आधे घंटे बाद जब दर्द कुछ कम हुआ तो मैं घर वापस चला आया।

कॉलेज के दिनों में मैं ख़ूब पैदल चला। जितना संभव हुआ, उतना पैदल चलने से बचा भी, लेकिन फिर भी ख़ूब चलना पड़ा। मैं अपनी कक्षा के विद्यार्थियों के साथ कहीं घूमने-फिरने नहीं

जाता था, लेकिन बॉटनी विषय के लिए हर्बेरियम बनाने हेतु मुझे आस-पास के कई पार्कों और जंगलों में जाना पड़ा। यह सब विज्ञान विषय पढ़ने की ज़रूरत थीं जिन्हें मुझे पूरा करना ही था, नहीं तो मैं बायोलॉजी ग्रेजुएट कैसे बनता भला?

जीवन कहीं भी ठहरता नहीं है, आँधी से तूफ़ान से डरता नहीं है

तू ना चलेगा तो चल देंगी राहें, मंज़िल को तरसेंगी तेरी निगाहें

तुझको चलना होगा, तुझको चलना होगा!

—इंदीवर

## एन.आई.आई.टी. के शुरुआती दिन

कॉलेज के साथ-साथ एन.आई.आई.टी. की पढ़ाई करना कठिन तो था, लेकिन मुझे कंप्यूटर अच्छा लग रहा था। यह पहली बार था कि मैंने किसी कंप्यूटर को क़रीब से देखा व छुआ था। पहले सेमेस्टर में हमें कंप्यूटर से जुड़ी बुनियादी बातें बताई जा रही थीं।

उन्हीं दिनों सॉफ़्टवेयर बनाने वाली विश्व की सबसे बड़ी कंपनी माइक्रोसॉफ़्ट ने भारत में 'माइक्रोसॉफ़्ट सर्टिफ़ाइड प्रोडक्ट स्पेशलिस्ट' की परीक्षाएँ आरंभ कीं। एन.आई.आई.टी. मालवीय नगर सेंटर में यह परीक्षा उत्तीर्ण करने वाला मैं पहला विद्यार्थी बना। पहली ही बार में यह टेस्ट पास करने के लिए मुझे 1500 रुपए का पुरस्कार भी दिया गया। Windows 95 में प्रोडक्ट स्पेशलिस्ट बनने के कारण मालवीय नगर सेंटर में मुझे एक अलग पहचान मिल गई थी। बहुत से अन्य विद्यार्थी मुझसे इस टेस्ट और Windows 95 के बारे में सलाह लेने लगे। उन दिनों मुझे दूसरों के बराबर होने का पहली बार एहसास हुआ। पहली बार लगा कि मैं भी महत्वपूर्ण हूँ। पहले सेमेस्टर का विद्यार्थी जिसने अभी दो-तीन महीने पहले ही कंप्यूटर को छुआ था, उसका प्रोडक्ट स्पेशलिस्ट बन जाना एक बड़ी बात थी।

मुझे हर तरफ़ से मान मिल रहा था और इस सम्मान से मैं आने वाले समय के लिए आत्म-विश्वास का निर्माण कर रहा था।

## लैब में काम करना बहुत मुश्किल था

हालाँकि मैंने एम.एससी. माइक्रोबायोलॉजी करने का विचार पहले ही छोड़ दिया था, लेकिन फिर भी मैंने जे.एन.यू. में इस कोर्स की प्रवेश-परीक्षा के लिए आवेदन भर दिया। फिर जल्द ही कॉलेज के अंतिम वर्ष की परीक्षाएँ भी शुरू हो गईं।

कॉलेज में रसायन विज्ञान प्रैक्टिकल की अंतिम परीक्षा के लिए हमारी पूरी कक्षा को दो बैचों में बाँट दिया गया। दोनों बैचों की परीक्षा अलग-अलग दिन होनी थी। रोल नंबर जाँचने पर मैंने पाया कि बनी सिंह और मुझे अलग-अलग बैच में रखा गया था। यह देखते ही मुझे बहुत चिंता हो गई। बनी सिंह की सहायता के बिना मैं प्रैक्टिकल नहीं कर सकता था। रसायन विज्ञान के प्रयोगों में बहुत-सी चीज़ों को यहाँ से वहाँ उठाकर रखने की ज़रूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए यदि हमें किसी रसायन की मात्रा को तौलना है तो उसके बर्तन को उठाकर उस कमरे में ले जाना होता था जहाँ रसायन तराजू रखी होती थी। तौल के बाद रसायन के बर्तन को वापस अपनी सीट पर लाना होता था। प्रयोगशाला में मेरे प्रयोगों के नतीजे अक्सर ठीक रहते थे लेकिन चीज़ों को उठाने, लाने-ले जाने जैसी बातों में नाकाम रहने के कारण मेरी मेहनत व्यर्थ हो जाती थी।

मैंने यह भी देखा था कि कक्षा के अधिकांश विद्यार्थी, लैब सहायक और अध्यापक मेरी इस परेशानी में कोई मदद नहीं करते थे। सहपाठियों का तो मैं समझ सकता हूँ कि उन्हें अपना खुद का काम पूरा करने की अधिक चिंता होती थी, लेकिन लैब सहायक और अध्यापक तो मेरी परेशानियों में कुछ मदद कर ही सकते थे। पर ऐसा नहीं होता था। बनी सिंह मेरी मदद कर देता था, और जब कभी उसे लैब में मेरी राय की ज़रूरत पड़ती तो मैं भी उसकी मदद कर देता था।

बहरहाल, मैंने रसायन विज्ञान के अध्यापक से मिलकर उन्हें बताया कि जिस दिन मेरे बैच की परीक्षा है, उस दिन एक आवश्यक पारिवारिक कार्य की वजह से मैं कॉलेज नहीं आ पाऊँगा, इसलिए मेरा बैच बदल दिया जाए। कुछ ना-नुकर के बाद मेरी विनती मान ली गई और मुझे बनी सिंह के बैच में डाल दिया गया। तब कहीं जाकर मैं परीक्षा दे पाया। इस परीक्षा में मुझे 50 में से 49 अंक मिले थे।

प्रैक्टिकल की इस परीक्षा के बाद मैंने जे.एन.यू. की प्रवेश-परीक्षा के लिए बिल्कुल तैयारी नहीं की, क्योंकि मुझे विश्वास हो गया था कि मैं माइक्रोबायोलॉजी की प्रयोगशालाओं में काम नहीं कर पाऊँगा।

इसका मुझे बहुत अधिक दुःख था, इतना दुःख कि तैयारी न होते हुए भी मैं खुद को प्रवेश-परीक्षा देने जाने से रोक नहीं पाया। बिल्कुल तैयारी न होने के कारण मैं प्रवेश-परीक्षा में फ़ेल हो गया।

विकलांगता शरीर में नहीं होती बल्कि हमारे समाज के कारण होती है। शरीर, उसकी



क्षमताएँ और बीमारियाँ प्रकृति की देन हैं... लेकिन समाज का डिज़ाइन तो हम इंसानों ने ही बनाया है! यदि समाज में हर चीज़ के डिज़ाइन को इस तरह से बनाया जाए कि उसे सभी प्रयोग कर सकें तो विकलांगता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। शरीरों में बीमारियाँ रह जाएँगी, लेकिन विकलांग व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर उनका असर समाप्त हो जाएगा।

उदाहरण के लिए यदि कॉलेज में प्रयोगशालाओं को इस तरह से डिज़ाइन किया जाए कि कोई व्हीलचेयर प्रयोग करने वाला व्यक्ति भी स्वतंत्र-रूप से वहाँ काम कर सके तो कितना अच्छा हो। ऐसा करने से हम उस व्यक्ति की बीमारी दूर नहीं कर सकते, लेकिन उस बीमारी के असर को तो कम कर ही सकते हैं।

बीमारी या दुर्घटना किसी व्यक्ति को शारीरिक रूप से विकलांग बना सकती है, लेकिन उसे अक्षम या अयोग्य हमारा समाज ही बनाता है।

## कॉलेज का अंतिम दिन

ईकोलॉजी और टेक्सोनॉमी की परीक्षा के साथ ही कॉलेज के तीन वर्षों का सफ़र पूरा हो गया। पेपर के बाद सहपाठियों ने एक-दूसरे के साथ अपने-अपने पते और फ़ोन नंबर बाँटे। हमारे घर टेलीफ़ोन नहीं था, इसलिए मैं किसी को अपना नंबर नहीं दे पाया। सभी कुछ-कुछ उदास लग रहे थे। मैं भी उदास था कि तीन वर्ष तक जिन मित्रों का साथ रहा, अब उनका साथ छूट जाएगा। जाने इनमें से फिर किसी से मुलाक़ात हो या न हो, लेकिन हम सब ज़िन्दगी में एक नए रास्ते की शुरुआत पर खड़े थे। कॉलेज हमारी मंज़िल नहीं, बल्कि केवल एक पड़ाव था और अब इस पड़ाव से आगे बढ़ जाने का समय आ गया था।

आज मैं कॉलेज में साथ पढ़ने वाले विद्यार्थियों में से केवल बनी सिंह के साथ संपर्क में हूँ। टेलीफ़ोन जैसा माध्यम न होने के कारण अन्य सभी से मेरा संपर्क टूट गया। आशा है कि इस पुस्तक को कोई सहपाठी अवश्य पढ़ेगा और मुझसे संपर्क करेगा।

एक नियमित कॉलेज से सफलतापूर्वक स्नातक डिग्री की सभी परीक्षाएँ पूरी कर लेने के बाद मेरा पूरा ध्यान इस बात पर आ गया कि आगे जीवन में क्या किया जाए। अपने भविष्य के बारे में मेरी कोई योजना नहीं थी। वह समय बहुत असमंजस भरा था, क्योंकि मैं जीवन के सबसे अधिक महत्वपूर्ण मोड़ों में से एक पर खड़ा था और विकलांगता ने मेरे पैरों में बेड़ियाँ डाली हुई थीं। मन उड़ान भरना चाहता था, लेकिन शरीर की वजह से बँधा हुआ था। मैं स्कूल/कॉलेज की दुनिया के बाहर काम-धंधे की दुनिया में क़दम रखने वाला था, लेकिन मुझे ऐसा लगता था कि कामकाजी दुनिया में मैं फ़िट नहीं था।

कुछ ही दिन पहले मैंने अख़बार में पढ़ा था कि 'अक्षय प्रतिष्ठान' नामक कोई स्कूल है,

जहाँ विकलांग बच्चों को शिक्षा दी जाती है। यह स्कूल वसंत कुंज में था जो कि महरौली से सटकर बनी एक पॉश कॉलोनी है। मुझे लगा कि इस स्कूल में जाकर मुझे टीचर की नौकरी के बारे में बात करनी चाहिए। यह स्कूल मुझे अपने लिए एक बहुत उचित जगह लगी। इसका पहला कारण तो यह था कि यह स्कूल हमारे घर के पास था, दूसरे वहाँ विकलांग बच्चे ही होंगे जो मेरा मज़ाक़ नहीं उड़ाएँगे और तीसरे वहाँ स्टाफ़ के लोग भी मेरी समस्याओं और सीमाओं को समझेंगे क्योंकि वे इसके लिए प्रशिक्षित होंगे। मैं स्कूल के बच्चों को विज्ञान, थोड़ी-बहुत अँग्रेज़ी और बेसिक कंप्यूटर सिखा सकता था (उस समय तक एन.आई.आई.टी. में मेरा पहला सेमेस्टर पूरा हो गया था)।

मुख्य प्रश्न यह था कि उस स्कूल में मुझे काम किस तरह मिलेगा। मैंने सोचा कि तनख्वाह मिले या न मिले, लेकिन कम-से-कम कामकाजी दुनिया को समझने और उसमें अपनी फ़िटनेस को जाँचने का मौक़ा तो मुझे मिलेगा ही। सो, मैंने इरादा कर लिया कि मैं उस स्कूल में जाऊँगा और देखूँगा कि मुझे काम मिल सकता है या नहीं।

मैं अपने मित्रों से पीछे नहीं रहना चाहता था। मुझे पता था कि उनके लिए बहुत-सी चीज़ें अपेक्षाकृत आसान हैं और वे तेज़ी से जीवन में आगे बढ़ जाएँगे।

मेरे पास कॉलेज-यात्रा के बाद कुछ पल सुस्ता लेने का समय नहीं था। मुझे तुरंत ही आगे चल देना था।

## ‘अक्षय प्रतिष्ठान’ जाना

कॉलेज की परीक्षाएँ समाप्त होने के ठीक अगले ही दिन मैंने काम की तलाश तेज़ कर दी। लेकिन मुझे इस बात का ज़रा भी एहसास नहीं था कि वह दिन मेरे जीवन पर कितना असर डालने वाला था।

...उस दिन मेरे जीवन को एक नया मोड़ लेना था।

उस दिन तेज़ गर्मी पड़ रही थी। पापा की दफ़्तर से छुट्टी थी, मैंने पापा से कहा कि वह मुझे वसंत कुंज स्थित ‘अक्षय प्रतिष्ठान’ में ले चलें। दोपहर करीब बारह बजे हम ‘अक्षय प्रतिष्ठान’ पहुँच गए। चूँकि मैं वहाँ बिना किसी बुलावे के गया था, इसलिए थोड़ी दुविधा में था कि किस से मिलूँ और क्या बात करूँ। पापा और मैं स्कूल की इमारत के भीतर गए और अभी हम सोच ही रहे थे कि किससे मिलें कि तभी वहाँ से एक महिला गुज़रीं।

“सुनिए... नमस्ते, मुझे यहाँ प्रिंसिपल से मिलना है।” मैंने उस महिला से पूछा।

“क्या काम है?” महिला ने मुझे ऊपर से नीचे तक देखते हुए सवाल किया।

“मैं इस स्कूल के बच्चों के लिए काम करना चाहता हूँ। अगर मुझे इसके लिए तनख्वाह

नहीं भी मिलेगी तो भी कोई बात नहीं।”

“आप क्या कर सकते हैं?”

“मैंने साइंस में ग्रेजुएशन की है। इसके अलावा मैं अंग्रेज़ी और कंप्यूटर भी पढ़ा सकता हूँ।” मेरा उत्तर थोड़ा गर्व-मिश्रित था।

“आपके पैरों को क्या हुआ?” मेरी बैसाखियों को देखकर महिला ने यह अक्सर पूछा जाने वाला प्रश्न पूछा।

“मुझे चार वर्ष की उम्र से पोलियो है।” मैंने भी अक्सर दिया जाने वाला उत्तर दे दिया।

“ये कौन हैं?” उन्होंने पापा की ओर देखते हुए पूछा।

“ये मेरे पापा हैं।” मैंने बताया।

“अच्छा, पोलियो के लिए कोई ऑपरेशन वगैरह नहीं करवाया इसका?” महिला ने पापा की ओर देखते हुए सवाल किया।

“इलाज तो जी बहुत करवाया। उससे एक पैर में तो थोड़ी-बहुत जान तो लौट आई लेकिन... ऑपरेशन तो कोई नहीं करवाया, हमें पता ही नहीं चला कि ऑपरेशन भी होता है।” पापा ने जानकारी दी।

“ऑपरेशन क्यों नहीं होता? ऑपरेशन होता है। ये लड़का ठीक हो जाएगा।” महिला ने विश्वासपूर्वक कहा।

मैं, पापा और घर के अन्य सभी सदस्य इस बात को समझ चुके थे कि पोलियो का असर कभी मेरा पीछा नहीं छोड़ेगा। मैं तो विशेषकर इस बात को गहराई से समझ चुका था, क्योंकि अपने शरीर की कमज़ोरी और उसके मुझ पर प्रभाव की जानकारी सबसे अधिक मुझे ही थी। इसके अलावा जीव-विज्ञान में स्नातक की पढ़ाई के दौरान भी मैंने यह जान लिया था कि पोलियो का प्रभाव पूरी तरह नहीं मिटाया जा सकता। इस तमाम जानकारी के बावजूद जब भी कोई मेरे ‘ठीक’ हो जाने की बात करता था तो परिवार के सदस्यों के मन में आशा की किरण फिर से जाग उठती थी।

लेकिन उन महिला की बात सुनकर इस बार मेरे भी कान खड़े हुए! मुझे नहीं लगता था कि दवाएँ मेरी स्थिति को बेहतर कर सकती हैं। जैसा कि मैं पहले भी ज़िक्र कर चुका हूँ, बचपन में शुभचिंतकों ने सैकड़ों तरह की दवाएँ मेरे लिए सुझाई थीं, लेकिन किसी से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, पर ऑपरेशन... इतने वर्षों में कभी किसी ने ऑपरेशन की बात नहीं की थी। दवाएँ बेअसर थीं, यह मुझे मालूम हो चुका था, लेकिन ऑपरेशन से शायद कोई फ़र्क़ पड़े, इस बात को मैं मान सकता था।

“इसे सेंट स्टीफेंस अस्पताल ले जाओ, वहाँ डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ से मिलना। वह बड़े डॉक्टर हैं और ऐसे बहुत-से ऑपरेशन कर चुके हैं। वहाँ आपका खर्च भी ज़्यादा नहीं होगा, क्योंकि वहाँ पर ऐसे ऑपरेशन मुफ़्त किए जाते हैं।” पापा से बात करते हुए उस महिला ने जानकारी दी।

जब ये सब बातें चल रही थीं, उसी समय मैंने निर्णय किया कि मैं सेंट स्टीफेंस अस्पताल

जाऊंगा और ऑपरेशन के बारे में पता करूँगा। उस समय मेरी शारीरिक हालत इतनी बिगड़ी हुई थी कि कामकाजी दुनिया का सामना कर पाना मेरे लिए बेहद कठिन कार्य था।

पूरी तरह से खराब हो चुका मेरा दायाँ पैर, बाएँ पैर के मुक़ाबिले करीब छह इंच छोटा पड़ चुका था और मेरी रीढ़ की हड्डी में घुमाव आ जाने के कारण मेरा दायाँ कूल्हा ऊपर की ओर खिंच गया था। इन सबके कारण खड़े होने पर मेरा दायाँ पैर कुल-मिलाकर ज़मीन से करीब एक फुट ऊपर हवा में लटकता था। हड्डियों के इस विकृत ढाँचे के कारण चलने में मुझे बहुत अधिक मेहनत करनी पड़ती थी।

कॉलेज में आखिरी दिनों के दौरान मैं नौकरी के लिए एक-दो बार आस-पास की छोटी-छोटी कंपनियों में गया था। इंटरव्यू के दौरान उन ऑफिसों में मैंने महसूस किया कि वे लोग बैसाखी पकड़े एक अजीब चाल-ढाल वाले व्यक्ति को देखकर असहज हो जाते थे और मुझे बस यूँ ही बात करके लौटा देते थे। दरअसल, जैसे ही मैं इंटरव्यू लेने वाले के सामने पहुँचता था, मेरे काम पाने के आसार उसी समय समाप्त हो जाते थे। वे लोग खुद भी सूट-बूट-टाई पहनकर एकदम स्मार्ट दिखते थे और ऐसे ही लोगों को नौकरी देना चाहते थे। इसके विपरीत जब मैं पसीना पोंछता हुआ, बैसाखियाँ सँभालता हुआ उनके सामने जाकर बैठता था... बस उसी समय मेरे लिए संभावनाएँ समाप्त हो जाती थीं।

मुझे लगा कि यदि ऑपरेशन से कुछ फ़र्क पड़ जाए तो शायद मेरे लिए नौकरी पाना आसान हो जाएगा। मैं इन्हीं विचारों में डूबा हुआ था और वह महिला बोले जा रही थीं।

“इसे जल्दी ही अस्पताल ले जाओ, वहाँ सारे साल ऑपरेशन होते रहते हैं।” महिला ने पापा से कहा।

अब तक मैं यह भूल चुका था कि मैं उस स्कूल में काम की तलाश में गया था। वहाँ खड़े-खड़े ही मेरे मन में सेंट स्टीफेंस अस्पताल जाने की योजना बननी शुरू हो गई थी। जब हम स्कूल से वापस लौटे तो मैंने पापा से कहा कि मैं सेंट स्टीफेंस जाकर ऑपरेशन के बारे में पता करना चाहता हूँ। पापा को मेरी यह बात सुनकर थोड़ा अचरज हुआ, क्योंकि कई वर्ष पहले ही मैंने किसी भी तरह का इलाज करवाना बंद कर दिया था। मैं थक चुका था। लोग कोई इलाज बताते थे, हमारी आशा बँधती थी, मैं दवाइयाँ खाता, एक्ससाइज़ करता, दर्द सहता... अंततः इलाज नाकाम हो जाता था, और आशा टूट जाती थी। साल-दर-साल चल रहे आशा, दर्द और निराशा के इस चक्र ने मुझे शारीरिक व मानसिक रूप से निचोड़ दिया था।

पापा को कुछ अचरज ज़रूर हुआ, लेकिन वह मुझे सेंट स्टीफेंस अस्पताल ले जाने के लिए तुरंत ही सहर्ष तैयार हो गए। हमने तय किया कि जिस भी दिन पापा को दफ़्तर से छुट्टी मिलेगी, उसी दिन हम अस्पताल जाएँगे।

आने वाले दिनों में मैं आशाओं के सागर में गोते खाता रहा। मैं नहीं जानता था कि मेरा किस तरह का ऑपरेशन किया जाएगा और उससे क्या असर पड़ेगा, लेकिन मैं ऑपरेशन से फ़र्क पड़ने के बारे में आश्वस्त था। मुझे मालूम था कि मेरी परिस्थिति पर दवाओं की ‘सुनार

वाली हथौड़ी की हल्की चोट' का कोई असर नहीं होगा। ऑपरेशन की चीर-फाड़, काटना-सीलना जैसी कठोर चोट ही शायद कुछ कर सकती थी। मुझे विश्वास था कि ऑपरेशन से कुछ तो ज़रूर होगा।

...लेकिन उस समय मैं इस बात से पूरी तरह अनजान था कि आने वाले तीन वर्षों में मुझे कितना दर्द सहना होगा।

## अस्पताल में वापसी

19 मई 1997 को मैं और पापा सुबह करीब साढ़े सात बजे अपने एल.एम.एल. स्कूटर पर बैठकर अस्पताल की ओर चल दिए। सेंट स्टीफेंस अस्पताल हमारे घर से करीब बीस किलोमीटर की दूरी पर तीस हज़ारी कोर्ट के पास स्थित है। हम वहाँ ओ.पी.डी. खुलने से कोई दस मिनट पहले ही पहुँच गए। मैं ओ.पी. डी. में उस कमरे के सामने एक बेंच पर बैठ गया जिसमें हड्डियों से संबंधित समस्याओं की जाँच की जाती है। किसी ने हमें बताया था कि डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ इसी कमरे में बैठते हैं। वहाँ और भी बहुत से लोग डॉक्टर के इंतज़ार में बैठे थे। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, व्हीलचेयर पर बैठे लोग और मरीज़ों के साथ आए स्वस्थ लगने वाले लोग... वहाँ सभी तरह के लोगों का बड़ा जमावड़ा था। अस्पतालों के बरामदों में बिना-नागा मिलने वाली फ़िनाइल की गंध, मरीज़ों के दुख और संबंधियों की चिंताओं से वहाँ का वातावरण बोझिल था।

तक़रीबन एक घंटा इंतज़ार करने के बाद डॉक्टर से मिलने के लिए हमारा नंबर आया। मैं आशा, तनाव और अधीरता की मिली-जुली भावनाएँ मन में लिए डॉक्टर के कमरे में पहुँचा। वहाँ दो जूनियर डॉक्टर बैठे थे। हमने उन्हें बताया कि हमें डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ से मिलने की सलाह दी गई थी। जूनियर डॉक्टरों ने मेरी बीमारी के बारे में सारी बातें पूछीं और उन्हें ओ.पी.डी. कार्ड पर लिख दिया। उन्होंने मेरे पैरों, कूल्हों और कमर का निरीक्षण भी किया। इसके बाद उन्होंने कहा कि डॉ. वर्गीज़ अभी वार्ड में राउंड पर गए हैं और थोड़ी देर में आ जाएँगे। हमें बाहर इंतज़ार करने को कहा गया। मैं और पापा बाहर आकर फिर से बेंच पर बैठ गए। करीब आधे घंटे बाद चार-पाँच डॉक्टरों का एक समूह वहाँ आया और कमरे में चला गया। उस समूह में सबसे आगे चल रहे डॉक्टर को सभी ने नमस्ते की।

“डॉक्टर साहब आ गए हैं... डॉ. मैथ्यू आ गए हैं...” लोगों के बीच खुसुर-पुसुर शुरू हो गई।

कुछ ही मिनट बाद डॉक्टरों के कमरे से एक सहायक बाहर आया और उसने मेरा नाम पुकारा। पापा के साथ मैं फिर से कमरे के भीतर गया। वहाँ डॉ. वर्गीज़ बैठे थे। उन्होंने मुस्कुराकर मेरा नाम पूछा और मेरे ओ.पी.डी. कार्ड का अध्ययन करने लगे। फिर उन्होंने भी मेरे

पैरों, कूल्हों और कमर का मुआयना किया। इसके बाद उन्होंने ओ.पी.डी. कार्ड पर कुछ एक्स-रे कराने के लिए लिख दिया और कहा कि ये एक्स-रे अभी करा लो, एक घंटे में एक्स-रे मिल जाएँगे। उन्होंने कार्ड पर कुछ और भी लिखा और कहा कि पैसे नहीं देने पड़ेंगे।

ओ.पी.डी. कार्ड लेकर हम एक्स-रे विभाग में गए और वहाँ मेरे दोनों पैरों, कूल्हों व कमर के कई एक्स-रे लिए गए। एक्स-रे मिलने के इंतज़ार में हम वहीं एक्स-रे विभाग के सामने बैठे रहे। जब तक एक्स-रे मिले तब तक ओ.पी.डी. का समय समाप्त हो चुका था। पापा और मैं जल्दी-जल्दी चलकर ओ.पी.डी. पहुँचे तो डॉ. वर्गीज़ बरामदे में ही मिल गए। वह ओ.पी.डी. समाप्त करके वापस जा रहे थे। फिर भी उन्होंने मेरे एक्स-रे वहीं बरामदे में ही जाँचे और ओ.पी.डी. कार्ड पर कुछ लिखते हुए मुझसे बोले :

“तुम्हारा ऑपरेशन होगा। जैसे ही बेड खाली मिले, एडमिट हो जाओ।” फिर वह मुस्कुराते हुए चले गए।

हमने अस्पताल में मालूम किया तो पता चला कि बेड खाली नहीं है— सो, हम घर लौट आए। इसके बाद मैं और पापा बेड के बारे में पूछने कई बार अस्पताल गए, लेकिन कोई बेड खाली नहीं मिलता था।

उन्हीं दिनों मैंने घर के पास एक टाइपिंग सेंटर में टाइपिंग और शॉर्टहैंड सीखने के लिए दाखिला ले लिया। इसके अलावा अपने ही कॉलेज में 15 दिन तक डेटा-एंट्री का काम किया और 1500 रुपए कमाए। यह जीवन में मेरी पहली कमाई थी।

12 जुलाई 1997 को पापा व्यस्त थे तो मैं अकेला ही बेड के बारे में पता करने अस्पताल चला गया। यह पहली बार था कि मैं अकेला अस्पताल गया था। सोचा तो यही था कि सब दिन की तरह उस दिन भी ‘बेड खाली नहीं है’ सुनकर आना पड़ेगा, लेकिन ठीक उसी दिन एक बेड खाली मिल गया और मुझे दाखिल होने के लिए कह दिया गया।

मुझे एडमिट होना पड़ेगा, इस बात के लिए मैं घर से तैयार होकर नहीं आया था। मैं हैरान था कि इतनी तेज़ी से सब कैसे हो गया। मैंने अस्पताल से हमारे घर के पास रहने वाले किसी व्यक्ति को फ़ोन किया और घर यह संदेशा भिजवाया कि मैं अस्पताल में दाखिल हो रहा हूँ। घर पर इस ख़बर ने काफ़ी अचरज उत्पन्न किया। शाम तक पापा, किशोर, कैलाश चाचा और माँ अस्पताल आ गए थे।

## पहला ऑपरेशन

अस्पताल में दो दिन तक दवाइयाँ देकर मुझे ऑपरेशन के लिए तैयार किया जाता रहा। दो दिन बाद, 14 जुलाई 1997 को, सुबह एक वार्ड बॉय ने मेरे दोनों पैरों की शेविंग कर सारे बाल हटा

दिए और पहनने के लिए मुझे एक ढीला-ढाला हल्के नीले रंग का गाउन दे दिया। सुबह आठ बजे के लगभग मुझे स्ट्रेचर पर ऑपरेशन थिएटर में ले जाया गया। ऑपरेशन टेबल पर आने का यह मेरा पहला अनुभव था और मुझे लग रहा था कि बस कुछ ही देर की बात है, यह सब काम जल्द पूरा हो जाएगा... लेकिन सच इससे काफ़ी अलग था।

ऑपरेशन टेबल के आस-पास तीन डॉक्टर थे। मैं किसी की शक्ल नहीं देख पा रहा था, क्योंकि मेरा चश्मा हटा दिया गया था। एक डॉक्टर ने मेरी रीढ़ की हड्डी में एक विशेष स्थान पर इंजेक्शन लगाया। यह काफ़ी दर्दनाक था। इसे लोकल एनस्थीसिया कहते हैं। इस तरह मरीज़ को पूरी तरह बेहोश करने के बजाए शरीर के केवल उस हिस्से को सुन्न कर दिया जाता है, जहाँ ऑपरेशन किया जाना है। इंजेक्शन के कुछ ही पलों बाद मैं कमर के नीचे कुछ भी महसूस नहीं कर पा रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे कमर के नीचे कुछ है ही नहीं। इसके बाद एक अन्य डॉक्टर ने मेरे मुँह पर ऑक्सीजन मॉस्क लगा दिया और मुझे नींद आ गई। जब मेरी आँख खुली तो मुझे स्ट्रेचर पर ऑपरेशन थिएटर से बाहर ले जाया जा रहा था। ऑपरेशन हो चुका था। कुछ देर बाद एनस्थीसिया का असर उतरने लगा और मुझे अपने पैर महसूस होने लगे थे। मुझे अपने दाएँ पैर में ऊपर की ओर तेज़ दर्द महसूस होने लगा, थोड़ा उठकर देखा तो दाएँ पैर में जाँघ और कूल्हे पर पट्टियाँ बँधी थीं।

मुझे दर्द तो काफ़ी था, लेकिन मैं आश्चर्यचकित था कि दो ही दिन में यह सब हो गया। साथ ही मैं कुछ भ्रमित भी था कि ऑपरेशन तो हो गया पर इससे फ़र्क़ क्या पड़ा। घुटने से कुछ ऊपर जाँघ में किया गया यह ऑपरेशन क्या मेरी कुछ मदद कर पाएगा? मैं अपनी विकलांगता के विस्तार को इस छोटे से ऑपरेशन के समक्ष रखकर यह नहीं समझ पा रहा था कि इस ऑपरेशन से क्या फ़र्क़ पड़ेगा और कैसे। भारत में डॉक्टर अक्सर मरीज़ को कुछ नहीं बताते कि वे उसके साथ क्या करेंगे, क्यों करेंगे और उससे किस तरह का लाभ पहुँचेगा।

दर्द की वजह से मैं अस्पताल के बिस्तर पर एक इंच भी नहीं हिल पा रहा था। ऑपरेशन के बाद सारा दिन और उसके बाद आधी रात तक मैं यूँ ही बिना हिले पड़ा रहा। जब इस तरह एक ही स्थिति में पड़े रहना असंभव हो गया तो मैंने नर्स से विनती की कि मुझे करवट लेने में सहायता करें। रात को एक जूनियर डॉक्टर ड्यूटी पर थे, नर्स उन्हीं को बुला लाई। डॉक्टर ने आते ही, बिना मेरी स्थिति को जाने, मुझे कमर के पास से पकड़कर घुमा दिया। सारे वार्ड में मेरी चीख गूँज गई। डॉक्टर ने 'सॉरी' कहा, लेकिन तब तक मेरे पलंग की चादर खून से भीग चुकी थी।

मैं दो दिन तक इसी तरह अस्पताल में पड़ा रहा।

दो दिन बाद मुआयने के दौरान डॉक्टरों ने कहा, "कल एक और ऑपरेशन करेंगे।"

## दूसरा ऑपरेशन

17 जुलाई 1997 की सुबह मेरा 'यॉन्ट्स रिलीज़' नामक दूसरा ऑपरेशन हुआ। इस ऑपरेशन में मुझे पूरी तरह बेहोश किया गया था, क्योंकि पहले हो चुके ऑपरेशन की वजह से मैं हिल भी नहीं पा रहा था। इसलिए रीढ़ की हड्डी में लोकल एनस्थीसिया देना संभव नहीं था। दूसरा ऑपरेशन होने के बाद करीब आठ घंटे मैं ठीक रहा, क्योंकि मुझ पर बेहोशी का असर था। जैसे-जैसे यह असर उतरना शुरू हुआ, दर्द बढ़ने लगा और शाम होते-होते दर्द का ज्वालामुखी मेरे पूरे शरीर में भभकने लगा।

एक दिन और अस्पताल में रखने के बाद मुझे छुट्टी दे दी गई। छुट्टी से पहले डॉ. वर्गीज़ आए और उन्होंने मेरा मुआयना किया। छुट्टी देते हुए उन्होंने यह भी कहा कि पंद्रह-बीस दिन बाद ऑपरेशन के लिए फिर से भर्ती हो जाना। यह सुनते ही मैं चकरा गया। मैंने उनसे पूछा कि फिर से ऑपरेशन क्यों?

“अभी कई ऑपरेशन करने पड़ेंगे।” डॉ. वर्गीज़ ने कहा।

डॉ. वर्गीज़ की इस बात ने 'इस छोटे से ऑपरेशन से कैसे फ़र्क पड़ेगा?' प्रश्न का उत्तर दे दिया था। उत्तर यह था कि अभी तो केवल शुरुआत थी। जैसा कि मैंने और घर के सब लोगों ने सोचा था, मेरा कोई एक ऑपरेशन नहीं होना था, बल्कि कई ऑपरेशन होने थे।

डॉ. वर्गीज़ की बात सुनते ही मेरे मन में बहुत कुछ पूरी तरह से बदल गया।

“कई ऑपरेशन? आखिर कितने? कितना समय लगेगा इन सब में? मैं काम कब कर पाऊँगा? मेरा करियर कैसे बनेगा?” इस तरह के बीसियों प्रश्न मेरे मन में बवंडर की तरह घूम रहे थे।

मैंने डॉ. वर्गीज़ से यह जानने की कोशिश भी की कि कुल कितने ऑपरेशन होंगे और इनमें कितना समय लगेगा, लेकिन डॉ. वर्गीज़ एक अत्यंत व्यस्त व्यक्ति थे, उन्होंने बस इतना बताया कि कुछ महीने लगेंगे। अस्पताल से छुट्टी मिलने पर मैं घर लौट आया। मेरे पैर पर पक्का प्लास्टर कर दिया गया था ताकि मैं अपना पाँव मोड़ न सकूँ और ऑपरेशन के कारण लगे टाँके सुरक्षित रहें।

कुछ दिन पहले मैं अस्पताल यह सोचकर गया था कि डॉक्टर जाँच-पड़ताल करेंगे, जाँच पड़ताल कई हफ़्तों या कई महीनों चलेगी... फिर ऑपरेशन की तिथि भी काफ़ी समय बाद की बताई जाएगी। इसके विपरीत हुआ ये कि मैं न केवल दो ऑपरेशन कराकर घर लौटा था, बल्कि यह भी मालूम पड़ चुका था कि दरिया उससे कहीं अधिक गहरा है जितना मैंने सोचा था।

यह गर्मी का समय था। प्लास्टर के भीतर ख़ूब पसीना आता था और तेज़ खुजली होती थी, लेकिन मैं अपने पैर को खुजा नहीं पाता था। प्लास्टर एक महीने के लिए था। जब मैं पापा के साथ फिर से अस्पताल गया तो स्कूटर पर बैठने में ख़ासी परेशानी हुई, क्योंकि प्लास्टर चढ़ा



होने के कारण मैं पैर को मोड़ नहीं सकता था। अस्पताल की ओ.पी.डी. में प्लास्टर और टाँके काट दिए गए... और मुझे अगले ऑपरेशन के लिए फिर से दाखिल होने के लिए कह दिया गया। फिर से वही खाली बेड के लिए अस्पताल के चक्कर काटने का सिलसिला शुरू हुआ। आखिरकार एक हफ्ते बाद बेड खाली मिला और मैं अस्पताल में भर्ती हो गया।

## तीसरा ऑपरेशन

2 सितंबर 1997 को हुए ऑपरेशन का मकसद मेरे दाएँ पैर में घुटने के नीचे 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' फ़िट करना था। इस तकनीक को सोवियत संघ के एक सर्जन गवरिल अब्रामोविच इलिज़ारोव ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ईजाद किया था। इस तकनीक से दुर्घटनाओं या पोलियो जैसी बीमारियों के कारण छोटी पड़ गई हड्डियों की लंबाई बढ़ाई जा सकती है। सबसे अच्छी बात यह है कि यह प्रक्रिया प्राकृतिक है और 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' इस प्रक्रिया में केवल सहायक सिद्ध होता है।

करीब चार घंटे चले ऑपरेशन में मेरे दाएँ पैर में 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' लगा दिया गया। ऑपरेशन में स्टील की कुल छह पिनों को हड्डी के आर-पार ड्रिल किया गया, फिर पैर में स्टील के तीन छल्ले पहनाए गए और इन छल्लों को आपस में स्टील की छड़ों से जोड़ दिया गया। इसके बाद हड्डी के आर-पार ड्रिल की जा चुकीं छह पिनों को इन छल्लों में कस दिया गया। कुल मिलाकर यह कि घुटने से नीचे मेरा पैर एक पिंजरे में बंद हो गया था और इस पिंजरे से निकलकर स्टील की छह पिनें मेरे पैर को बींध रही थीं। दो पिन घुटने के आर-पार थीं, दो टखने के आर-पार और अन्य दो पिनें बीच की हड्डी के आर-पार डाली गई थीं। नतीजतन मेरे पैर में एक दर्जन घाव बन गए थे और इन घावों को लंबे समय तक हरा रहना था। हर रोज़ इन ज़ख्मों को साफ़ करना पड़ता था और इनमें दर्द लगातार बना रहता था।

ऑपरेशन के दौरान डॉक्टरों ने घुटने से नीचे वाली हड्डियों, टिबिया और फ़िब्युला, को बीच में से काट दिया था। अब कटी हुई हड्डियों के सिरों को 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' के ज़रिए बहुत धीमे-धीमे एक-दूसरे से दूर ले जाना था। इस तरह हड्डियों के बीच बने गैप में प्राकृतिक-रूप से हड्डी का निर्माण होता चला जाता है और हड्डी की लंबाई बढ़ती चली जाती है।

तीन-चार दिन अस्पताल में रहने के बाद मुझे छुट्टी दे दी गई। 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' में लगे नट्स को चाबी से घुमाकर हड्डी के बीच जगह बनाई जाती थी। नट्स को कितना घुमाना है, इसकी सीमा घटती-बढ़ती रहती थी। मैं हर दो-तीन हफ्ते में एक बार अस्पताल जाता था और वहाँ मेरे पैर का एक्स-रे होता था जिसमें नई बन रही हड्डी की प्रगति दिखाई देती थी। एक्स-रे

देखकर डॉक्टर एपरेटस के नट्स घुमाने की गति को कम या ज़्यादा करवाते रहते थे। डॉक्टरों द्वारा दी गई हिदायतों के अनुसार मैं रोज़ सुबह एपरेटस में लगे चार नट्स को चाबी से घुमाता था। इन नट्स के घूमने से कटी हुई हड्डियों के दोनों सिरे एक-दूसरे से दूर होते जाते थे। मैं रोज़ाना बढ़ते खिंचाव को महसूस कर पाता था।

जब 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' लगवाकर मैं घर लौटा था तो मेरा अंदाज़ था कि इस पूरे काम में अधिक से अधिक दो-तीन महीने लगेंगे...लेकिन आखिरकार जब यह एपरेटस मेरे पाँव पर से हटाया गया, तब तक पंद्रह महीने गुज़र चुके थे।

ये पंद्रह महीने मैंने दिन गिन-गिनकर नहीं बल्कि सुबह, दोपहर, शाम और रात गिन-गिनकर काटे थे। जब भी अस्पताल जाता तो मन में आशा रहती कि आज तो डॉक्टर कह ही देंगे कि एपरेटस को हटाने का समय आ गया है। लेकिन हर बार डॉक्टर नट्स को घुमाने से संबंधित नई हिदायतें देकर घर भेज देते।

दुर्घटना की वजह से छोटी हुई हड्डी की लंबाई बढ़ाने के लिए जिन लोगों को 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' लगाया जाता है, वे ऑपरेशन के पंद्रह-बीस दिन बाद ही एपरेटस लगे पैर पर वज़न लेकर थोड़ा-बहुत चलने फिरने लगते हैं, क्योंकि इस एपरेटस की बनावट ही ऐसी होती है जो टूटी हुई हड्डी पर दबाव नहीं बनने देती। लेकिन मैं इन पूरे पंद्रह महीनों में केवल उतना ही चला जितना अत्यावश्यक था। इस एपरेटस के साथ चलना मेरे लिए बहुत ही खतरनाक था। पोलियो के कारण मेरी कमर, कुल्हों और पैरों की मांसपेशियों में ताक़त नहीं थी। बिना एपरेटस के भी मैं चलते-चलते लगभग रोज़ाना ही गिर जाया करता था। एपरेटस से बिंधे हुए पैर के साथ गिर जाने का मतलब था बहुत अधिक पीड़ा और इससे एपरेटस की पिनों को भी नुकसान पहुँच सकता था।

लगातार ताज़ा बने रहने वाले घावों से निकलने वाली गंध चींटियों को आकर्षित करती थी। सैकड़ों की संख्या में चींटियाँ मेरे पलंग पर चढ़ आतीं और घावों को काटने लगतीं। दिन भर इन चींटियों को दूर रखना भी मेरे कार्यों में शुमार होने लगा। मैं दिन रात चींटियों को बिस्तर से झाड़ता रहता। रात को नींद भी नहीं आती थी, क्योंकि आँख लगते ही चींटियाँ पलंग पर चढ़ आती थीं। कई बार ऐसा हुआ कि रात को चींटियों के काटने पर आँख खुली तो मैंने अपने पूरे पैर को चींटियों से भरा पाया। मेरे घावों से निकलने वाली गंध में चींटियों के लिए कुछ ऐसा खिंचाव था कि वे हर बाधा को पार कर घावों तक पहुँचना चाहती थीं। चींटियों को आने से रोकने के लिए मेरे पलंग के चारों ओर हल्दी और बाज़ार से मिलने वाले एक रसायन से रेखा बनाई जाती थी। चींटियाँ इस रेखा के आस-पास मँडराती रहती और ज़रा-सा भी रास्ता मिलने पर अंदर आ जाती थीं। कई बार तो ये रेखाएँ भी उन्हें रोकने में बिल्कुल नाकामयाब रहती थीं।

हारकर मैंने लोहे के पाइपों से बने फ़ोल्डिंग पलंग का प्रयोग शुरू कर दिया। यह पलंग दीवारों से दूर, कमरे के बीचों-बीच बिछा रहता था और मैं इसी पर लेटा रहता था। इस पलंग के छह पायों के नीचे हम कटोरियाँ रख देते थे और फिर इन कटोरियों में पानी भर देते थे। इससे

चींटियों के पलंग पर चढ़ने के सारे रास्ते बंद हो जाते थे। ऐसे में भी, यदि सोते समय मेरी ओढ़ने की चादर नीचे लटककर ज़मीन को छूने लगती थी तो चींटियाँ उसी पर से चढ़कर मेरे पैर तक आ पहुँचती थीं।

एन.आई.आई.टी. का पहला सेमेस्टर मैं ऑपरेशनों की शुरुआत होने से पहले ही पूरा कर चुका था। सेंट स्टीफेंस अस्पताल में ऑपरेशनों का सिलसिला शुरू हो जाने के बाद जब मैं यह समझ गया कि यह चक्र लंबा चलेगा तो मैंने धीरे-धीरे दूसरे सेमेस्टर की पढ़ाई शुरू कर दी। पहले सेमेस्टर के मेरे सब साथी मुझसे आगे निकल चुके थे और मैं अब अपने से जूनियर छात्रों के साथ दूसरे सेमेस्टर में पढ़ता था। छह महीने में पूरे होने वाले दूसरे सेमेस्टर को पूरा करने में मुझे एक साल लग गया क्योंकि इस बीच मुझे कई बार ऑपरेशन के कारण अवकाश लेना पड़ा। जब भी मैं अपने दूसरे सेमेस्टर की पढ़ाई को आगे बढ़ाने के लिए एन.आई.आई.टी. वापस लौटता था तो मुझे हर बार किसी नए बैच के साथ बैठना होता था, क्योंकि पिछले बैच का कोर्स मेरे अवकाश के दौरान काफ़ी आगे निकल चुका होता था।

शाखें रहीं तो, फूल भी पत्ते भी आएँगे  
ये दिन अगर बुरे हैं तो अच्छे भी आएँगे  
—मंजूर हाशमी

जहाँ पहले सेमेस्टर में मुझे 92.2% अंक मिले थे, वहीं ऑपरेशनों के साथ पूरे किए गए दूसरे सेमेस्टर में मैं केवल 85% अंक ही ला सका। मेरे ख्याल से ये 85% अंक भी मेरे लिए एक उपलब्धि की तरह ही थे, क्योंकि मैं ही जानता हूँ कि मैंने किस तरह की पीड़ाओं के बीच वह सेमेस्टर पूरा किया था। दूसरे सेमेस्टर के लिए जब भी मैं एन.आई.आई.टी. से जुड़ता तो शाम का ही कोई बैच लेता था। शाम को पापा या कैलाश अंकल मुझे स्कूटर पर बिठाकर एन.आई.आई.टी. के सेंटर ले जाते थे और दो घंटे चलने वाली क्लास के दौरान वहीं बाहर मेरा इंतज़ार करते थे। क्लास समाप्त होने के बाद मैं अपने शिक्षकों और साथी छात्रों से बातचीत के लिए नहीं रुक पाता था, क्योंकि मुझे इस बात का एहसास था कि बाहर कोई दो घंटे से मेरा इंतज़ार कर रहा है। घर से निकलकर स्कूटर पर बैठने और एन.आई.आई.टी. सेंटर पहुँचकर स्कूटर से उतरकर सेंटर के भीतर जाने के लिए जो कुछ क़दम मुझे चलना होता था, वह सब मेरे लिए बहुत डरावना होता था। सेंटर में भीड़ रहती थी। कुछ कक्षाएँ पहली मंज़िल पर भी होती थीं और ऐसे में मेरे गिर जाने का ख़तरा कई गुना बढ़ जाता था। मैं कई बार गिरा भी और गिरकर चोट भी लगी, ऐसे में ख़ास तौर पर ऑपरेशन की गई जगह की मॉसपेशियाँ खिंच जाने के कारण बहुत दर्द होता था।

‘इलिज़ारोव रिंग एपरेटस’ वाला ऑपरेशन होने के बाद मुझे लगा कि अब तो

एन.आई.आई.टी. तभी जाऊँगा जब यह पिंजरा मेरे पैर से हट जाएगा। प्लास्टर किए गए पाँव के साथ ही एन.आई.आई.टी. जाना मेरे लिए बेहद मुश्किल साबित हुआ था, लेकिन 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' लग जाने के बाद, बहुत-सी जगह से बिंधे, खुले ज़ख्मों से भरे और लगातार तेज़ दर्द से पीड़ित पैर के साथ एन.आई.आई.टी. जाना असंभव लगने लगा था। पाँव में इतना दर्द रहता था कि ज़रा-सी ठेस से आँखों के आगे तारे नाचने लगते थे।

लेकिन जब यह तय हो गया कि मुझे 'इलिज़ारोव रिंग एपरेटस' को लंबे समय तक झेलना होगा और यह भी नहीं पता था कि वास्तव में कितना समय लगेगा तो मैंने निर्णय लिया कि जैसे भी हो मुझे एन.आई.आई.टी. जाकर कोर्स को आगे बढ़ाना ही होगा।

मैंने तीसरे सेमेस्टर में दाखिला ले लिया। उस समय को मैं कभी नहीं भूल सकता, जब पापा मुझे स्कूटर पर बिठाकर एन.आई.आई.टी. ले जाते थे। एपरेटस कुछ इस तरह पाँव पर लगा था कि पाँव मुड़ नहीं सकता था। जब मैं दुपहिया स्कूटर की पिछली सीट पर बैठता था तो एपरेटस लगा मेरा दायाँ पाँव सीधे स्कूटर के ब्रेक तक जाता था। इसके अलावा चूँकि पोलियो मेरे इस पैर की ताकत पूरी तरह छीन चुका था, सो मैं अपने पैर को स्कूटर के बाहर की ओर मुड़ने या गिरने से रोक नहीं पाता था। पैर को बाहर की ओर गिरने से बचाने के लिए मेरे पैर को कपड़े की पट्टियों के सहारे स्कूटर से बाँधा जाता था। ये पट्टियाँ पैर को स्कूटर के बाहर गिरने से तो रोक लेती थीं, लेकिन बाहर की ओर थोड़ा-सा मुड़ने से नहीं रोक पाती थीं। इसके कारण होता यह था कि स्कूटर के ब्रेक के पास से मेरा पंजा बाहर की ओर निकला रहता था। यदि सामने से आता कोई वाहन हमारे स्कूटर के बहुत करीब से निकलता तो उसकी टक्कर मेरे पैर को तोड़ सकती थी। मेरे पैर में पहले से ही इतना तीव्र दर्द रहता था कि किसी अन्य वाहन के पहिए में पैर के फँसने की कल्पना मात्र से ही मेरी रूह काँप जाती थी, लेकिन पापा का मानना था कि यह केवल मेरी कल्पना मात्र है। वह मुझे भरोसा दिलाते कि स्कूटर के इतना करीब से होकर कोई वाहन नहीं गुज़रेगा, पापा की बात भरोसा तो दिलाती थी...लेकिन एक दिन मेरी यह भयानक कल्पना सच में बदल गई।

स्कूटर पर बैठकर महरौली के व्यस्त बाज़ार से गुज़रना मेरे लिए रोज़ एक भयावह स्वप्न को जीने के बराबर था। मुझे ऐसा लगता था जैसे कि बाज़ार में हर चीज़ मेरे ही पाँव से उलझने के लिए आगे बढ़ रही है। पाँव में इतना दर्द रहता था कि इस तरह की बातें मन में आना स्वाभाविक ही था। मुझे सबसे अधिक डर साइकिलों और रिक्शा से लगता था, क्योंकि इनके पहिए पतले होते हैं और इसके कारण ये भीड़ भरे बाज़ार में मेरे पैर के काफ़ी करीब आ जाती थीं। एक दिन वही हुआ जिसका मुझे डर था। स्कूटर से बाहर की ओर निकला मेरे पैर का पंजा एक रिक्शा के पहिए में फँस गया। उस समय पापा स्कूटर आगे बढ़ा रहे थे और रिक्शा वाला दूसरी दिशा में जा रहा था।

उस दर्द को याद करके मैं आज भी डर जाता हूँ। तुरंत ही एपरेटस के कारण बने सभी ज़ख्मों में से खून बह चला और पूरा पाँव सूज गया। रिक्शा में फँसने के बाद पैर इतना खिंचा था

कि टखने को बींधकर निकल रही स्टील की पिनें तक मुड़ गई। स्कूटर पर बैठे हुए मुझे बेहोशी-सी आ गई। इसके बाद मैं करीब एक हफ्ते तक बेहद दर्द में रहा और मेरे मन में घर से बाहर निकलने के प्रति डर बैठ गया।

मैं फिर भी एक हफ्ते बाद घर से निकला और एन.आई.आई.टी. पहुँच गया। पापा के एक मित्र हैं, जिनका नाम श्री चंदा भाटिया है। चंदा चाचा उस समय दर्ज़ी का काम करने के अलावा ऑटो रिक्शा भी चलाया करते थे। पापा ने चंदा चाचा से अनुरोध किया कि वह अपने ऑटो रिक्शा में मुझे एन.आई.आई.टी. ले जाने और वापस लाने में मदद करें। महारौली एक बहुत भीड़-भाड़ वाली, सँकरी और टेढ़ी-मेढ़ी गलियों वाली जगह है। हमारे घर तक ऑटो बहुत मुश्किल से पहुँचता था। लेकिन चंदा चाचा किसी तरह ऑटो को पूरे बाज़ार से निकालकर, सब बाधाओं को पार करते हुए हमारे घर तक आते और मुझे एन.आई.आई.टी. लेकर जाते। पापा भी साथ में जाते थे। मुझे एन.आई.आई.टी. सेंटर पहुँचाने के बाद वहाँ से अगर चंदा चाचा को कोई आस-पास की सवारी मिल जाती तो वह उस सवारी को ले जाते थे, वरना वह लंबी दूरी की सवारियों को मना करते हुए दो घंटे पापा के साथ वहीं सेंटर के सामने मेरी क्लास खत्म होने का इंतज़ार करते। ऑटो रिक्शा में मैं सीट के ऊपर अपने दाएँ पैर को फैलाकर बैठता था और आस-पास दो तकिए रखता था ताकि चलते हुए ऑटो में पैर को कम-से-कम झटका लगे। चंदा चाचा एक उम्दा ड्राइवर थे और वह मेरी परिस्थिति का ख्याल रखते हुए बहुत देखभाल कर ऑटो चलाते थे।

मेरे पाँव में हमेशा सूजन बनी रहती थी। सूजन के कारण हमेशा पैर में एक सनसनाहट रहती थी और पैर खूब मोटा दिखाई देता था। एन.आई.आई.टी. में क्लास के दौरान दो घंटे कुर्सी पर बैठने से यह सूजन और अधिक बढ़ जाती थी और दो घंटे पूरे होते-होते पाँव में इतना ज़्यादा दर्द होने लगता था कि घर वापस पहुँचना मुश्किल हो जाता था। कभी-कभी दर्द असहनीय हो जाने पर मैं अपनी कुर्सी के सामने एक और कुर्सी रखकर अपने पैर को उसके ऊपर रख लेता था ताकि पैर सीधा रहे और खून का बहाव नीचे की ओर न हो। इससे दर्द में थोड़ी राहत मिलती थी।

सूजन और दर्द के कारण मुझे रात को नींद भी नहीं आती थी। सारी रात पलंग पर पड़ा-पड़ा मैं बस सुबह होने का इंतज़ार करता रहता था कि कब घर के सब लोग जगें और आस-पास कुछ हलचल दिखाई दे। नींद मुझे केवल तभी आती थी, जब पैर में दर्द कुछ कम होता था।

इस सतत पीड़ा में मैंने एन.आई.आई.टी. का तीसरा सेमेस्टर भी पूरा किया, लेकिन इस बार मैंने अपनी पीड़ा का असर मार्कशीट पर नहीं पड़ने दिया और 94.6% अंक हासिल किए। साथ ही मैंने एक और विषय में माइक्रोसॉफ़्ट प्रोडक्ट स्पेशलिस्ट का टेस्ट पास किया। मालवीय नगर सेंटर में मेरे अलावा केवल एक ही विद्यार्थी था जो उस समय डबल प्रोडक्ट स्पेशलिस्ट था।

1998 का पूरा वर्ष इसी आशा में बीत गया कि डॉक्टर इलिज़ारोव एपरेटस को अब खोलें कि तब खोलें। पूरे वर्ष के दौरान मैं करीब पंद्रह बार चेक-अप के लिए अस्पताल गया, पर वहाँ से

हर बार यही सुनने को मिला की अभी और समय लगेगा। मैं स्वयं भी मानता हूँ कि उस दौरान यदि मेरी इच्छाशक्ति मज़बूत न होती तो मैं टूट ही जाता, यह पूरा वर्ष मैंने दर्द और निराशा से लड़ते हुए गुज़ार दिया। 1998 का वर्ष भी मेरी इच्छाशक्ति के सामने झुका और आखिरकार जाते-जाते मेरे सब्र का मीठा फल मुझे देकर गया। जब मैं 11 दिसंबर 1998 को अस्पताल गया तो आखिरकार डॉक्टरों ने वे शब्द बोल ही दिए जिनको सुनने के लिए मैं तरस रहा था।

“अब हड्डी ठीक से बन चुकी है और पैर की लंबाई भी चार इंच बढ़ चुकी है। क्या तुम इस एपरेटस को हटवाना चाहते हो?” मेरे पैर का एक्स-रे चेक करने के बाद डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ ने मुझसे पूछा।

“हाँ, बिल्कुल! बहुत ज़्यादा दर्द रहता है। आप इसे तुरंत हटा दीजिए।” मैंने एकदम से हाँ कह दी।

“मैं जानता हूँ तुम कितनी तकलीफ़ में हो, लेकिन अच्छा होगा अगर तुम एक महीना और इस दर्द को सह लो। इससे हड्डी को मज़बूत होने के लिए कुछ और समय मिल जाएगा। एक महीने बाद हम एपरेटस को हटा देंगे।” डॉ. वर्गीज़ ने कहा।

हालाँकि मैं उस एपरेटस से तुरंत मुक्ति पाना चाहता था, लेकिन मुझे लगा कि जहाँ इतना सहा है, वहाँ एक महीना और सही। जब इतना सब कुछ सहा है तो नतीजा अच्छा आना चाहिए। मैं खुशी-खुशी घर लौट आया।

आशा की एक किरण दुख को सहने की कितनी शक्ति दे सकती है, उस दिन मुझे एक बार फिर यह महसूस हुआ था।

उन दिनों अपनी पढ़ाई के साथ-साथ मैं घर पर ट्यूशन भी देता था। मैं कंप्यूटर से संबंधित विषय पढ़ाता था। वर्ष भर में कुछेक छात्र मेरे पास आए, इनमें से नीला पारधी जी मुझे अभी भी याद हैं। वह मेरी बहुत अच्छी मित्र बन गई थीं। तमाम शारीरिक और मानसिक तकलीफ़ को सहते हुए भी मैं बस किसी न किसी तरह अपने समय का उपयोग करते रहना चाहता था।

जीवन कितना ही छोटा हो, समय की बर्बादी से  
वह और भी छोटा बना दिया जाता है।  
—सैमुअल जॉनसन

समय व्यर्थ जाए— यह मुझे गँवारा नहीं था।

**इलिज़ारोव एपरेटस से आज़ादी**

इलिज़ारोव एपरेटस अब मेरे पैर को चार इंच से अधिक खींच चुका था। इसकी वजह से पैर की माँसपेशियों में ज़बरदस्त खिंचाव और दर्द बना रहता था। डॉक्टरों ने कहा कि माँसपेशियाँ इतना अधिक खिंचने के लिए नहीं बनी हैं, इसलिए तेज़ दर्द होना लाज़मी है।

नए वर्ष का पहला ही महीना मेरे लिए अच्छी खबर लाया। 15 जनवरी 1999 को आखिरकार इलिज़ारोव रिंग एपरेटस मेरे पैर से हटा दिया गया। उस दिन जब मैं सुबह नौ बजे सेंट स्टीफेंस अस्पताल की ओ.पी.डी. में पहुँचा तो मन आशा और उल्लास से भरा हुआ था। वहाँ हर बार की तरह पहले मेरे पैर का एक्स-रे किया गया और उसे देखने के बाद डॉक्टरों ने एक सहायक को एपरेटस हटाने का निर्देश दे दिया। अस्पताल के सहायक ने पंद्रह महीनों से जाम पड़े कुछ नटों को पूरी ताक़त लगाकर खोलना शुरू किया और मेरे पैर को धड़ाधड़ झटके लगाने शुरू हो गए। बड़ी मुश्किल से नट खुल सके। इसके बाद सहायक ने हड्डी के आर-पार जा रही स्टील की पिनों को प्लास से काटना शुरू किया। और आखिरकार सभी पिनें मेरे पैर से निकल गईं।

...तब तक मेरी आँखों में दर्द और खुशी के मिले-जुले आँसू आ चुके थे।

एपरेटस हट जाने के बाद डॉक्टरों ने पैर के ऊपर प्लास्टर करके कहा कि यह प्लास्टर दो महीने तक रहेगा और उसके बाद मेरे और ऑपरेशन होंगे।

मैं घर वापस आ गया। उस दिन चंदा चाचा के ऑटो में बैठ घर की ओर आते समय मैं कितना खुश था, यह मैं बयान नहीं कर सकता।

सर्दियों की धूप उस दिन कुछ अधिक ही सुहानी लग रही थी। मन झूम रहा था।

अब चूँकि मैं घर पर कई छात्रों को कंप्यूटर से संबंधित विषयों में ट्यूशन दे रहा था, इसलिए यह ज़रूरी हो चला था कि मेरे पास घर में एक कंप्यूटर हो। ट्यूशन पढ़ाकर मैंने धीरे-धीरे करीब पंद्रह हज़ार रुपए जोड़ लिए थे। कंप्यूटर खरीदने के लिए नीला पारधी जी ने मुझे कुछ रुपए एडवांस में दे दिए। इस तरह मैंने 20 फ़रवरी 1999 को एक डेस्कटॉप कंप्यूटर मासिक किस्तों पर खरीद लिया। एच.सी.एल. कंपनी का वह कंप्यूटर Windows 98 पर चलता था। उसमें केवल 16 MB मेमरी और 2GB की हार्ड-डिस्क लगी थी। आज के मुक़ाबिले वह जैसा भी रहा हो, लेकिन वह पहला कंप्यूटर उस समय मेरे लिए ड्रीम-मशीन थी। हमारे घर में आई उस सबसे महँगी चीज़ का मैंने ख़ूब प्रयोग किया। बिस्तर में पड़े रहने की बोरियत को भी उस कंप्यूटर ने काफ़ी हद तक कम किया।

जब मैं फिर से अस्पताल गया तो एक्स-रे करके नई बनी हड्डी की जाँच की गई। संतोषजनक स्थिति देखकर प्लास्टर काट दिया गया, और मुझे फिर से ऑपरेशन के लिए दाखिल होने के लिए कह दिया गया!

## चौथा और पाँचवा ऑपरेशन

16 मार्च 1999 को मेरे बाएँ पैर के ऊपरी सिरे पर ठीक वैसा ही ऑपरेशन किया गया जैसा कि पहले दाएँ पैर का किया जा चुका था। ढाई घंटे चले इस ऑपरेशन में जाँघ और कूल्हे की हड्डियों में बीच एक लंबा पेंच कस दिया गया। इसके अलावा बाएँ घुटने से थोड़ा नीचे हड्डी में से आर-पार करके स्टील की एक मोटी छड़ डाल दी गई और उस छड़ के सहारे करीब चार किलो का वज़न मेरे पाँव से लटका दिया गया। यह वज़न एक धुरी के ऊपर से होते मेरे पैर को नीचे की ओर खींचकर रखता था। इसका मक़सद ऊपर की ओर चढ़ चुके मेरे दाएँ कूल्हे ठीक करना था।

एक या डेढ़ महीने के बाद इन ऑपरेशनों में लगे टाँकों को काटा गया और मुझे फिर से भर्ती होने को कह दिया गया। मुझे याद है कि उस समय मैं मन ही मन रो पड़ा था। लगातार दर्द सहना और आशा करना कि आखिरकार यह दर्द मिट जाएगा, लेकिन जैसे ही दर्द मिटता मुझे फिर से ऑपरेशन के लिए भर्ती हो जाने को कह दिया जाता।

जो बात सबसे अधिक हताश करती थी, वो यह थी कि मुझे कोई जानकारी नहीं थी कि यह चक्र कब तक चलेगा।

इस चौथे ऑपरेशन से उबरने में भी मुझे करीब एक महीना लगा। इसके बाद मुझे एक बार फिर से अस्पताल में भर्ती कर लिया गया और मैं एक बार फिर ऑपरेशन टेबल पर था।

इस बार के ऑपरेशन में दाएँ टखने के आस-पास की सभी हड्डियों को आपस में फ़्यूज़ कर दिया गया। इससे मेरे दाएँ टखने के आस-पास की हड्डियों में हलचल हमेशा के लिए बंद हो गई। चूँकि मेरा दायाँ पैर पूरी तरह से खराब हो ही चुका था, इसलिए मैं वैसे भी इसके किसी भी हिस्से को हिला नहीं पाता था।

मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहिए  
कि दाना खाक में मिलकर गुल-ए-गुलज़ार होता है  
—अल्लामा इक़बाल

इस ऑपरेशन के बाद पूरे पैर पर प्लास्टर कर दिया गया और रबर की एक नली टखने में छेद करके अंदर फ़्यूज़ की जा चुकी हड्डियों के बीच तक डाल दी गई। अंदर काफ़ी ख़ून निकल रहा था, उसी ख़ून को हड्डियों के बीच से बाहर निकालने के लिए यह नली लगाई गई थी। इस नली के साथ एक बैग लगा था जिसमें ख़ून भरता रहता था। करीब तीन दिन तक मैं इसी स्थिति में अस्पताल में पड़ा रहा। तीन दिन के बाद मुझे छुट्टी दे दी गई। छुट्टी के समय एक डॉक्टर मेरे



पास आए और उन्होंने मुझे कहा कि यह नली हटानी है। मैं पैर के पंजे में हो रहे दर्द से बहुत परेशान तो था ही, सो मुझे लगा कि आखिरकार यह दर्द अब कम होगा। पर डॉक्टर ने आव देखा न ताव, बस नली को खींच दिया। खर की वह नली तेज़ी से हड्डियों के बीच से होती हुई प्लास्टर के बाहर आ गई, लेकिन इससे जो दर्द मुझे हुआ वैसा मुझे आज तक जीवन में कभी नहीं हुआ। इलिज़ारोव एपरेटस के कारण मैं तेज़ दर्द सहने का आदी हो चुका था, लेकिन यह जो दर्द हुआ इसकी तो कोई सीमा ही नहीं थी। मैं चिल्लाकर रो पड़ा, उस दिन मैं घर नहीं आ पाया और अस्पताल में ही दर्दनाशक दवाएँ लेते हुए रात काटी। दवाओं के बावजूद पूरी रात बहुत तेज़ दर्द पैर में बना रहा। अगले दिन दोपहर के करीब जब दर्द कुछ कम हुआ तो मैंने अस्पताल से छुट्टी ली और घर आया।

जब से ऑपरेशन शुरू हुए थे, तब से अधिकतर नित्यकर्म मुझे बिस्तर में ही करने पड़ते थे। इन सब कार्यों में किशोर ने पूरे मन से मेरी सहायता की। एक कनस्तर और स्कूल से मेरे लिए एक टॉयलेट बनाया गया था जिसे मैं अपने बिस्तर पर ही प्रयोग करता था। हाथ धोना, दाँत ब्रश करना जैसे काम भी मैं अक्सर बिस्तर पर ही करता था। अधिकतर मैं स्पंज बाथ लेता था और हफ़्ते में दो-तीन बार ही नहाता था, क्योंकि नहाते समय घावों के भीग जाने की आशंका बनी रहती थी।

पाँचवें ऑपरेशन के बाद चढ़ाया गया प्लास्टर तीन महीने लगा रहा। इस बीच मैंने एन.आई.आई.टी. कोर्स के चौथे सेमेस्टर में दाखिला ले लिया और फिर से पढ़ाई शुरू कर दी। आखिरकार प्लास्टर हटाने के बाद डॉक्टरों ने जो कहा, वे शब्द मेरे कानों में अमृत की तरह घुल गए।

उस दिन ओ.पी.डी. में डॉ. वर्गीज़ थे, उन्होंने मुझसे कहा कि अब और कोई ऑपरेशन नहीं किया जाएगा।

मुझे तो विश्वास ही नहीं हुआ कि मैं क्या सुन रहा हूँ। एक के बाद एक ऑपरेशनों का मैं ऐसा आदी हो गया था कि मुझे लगने लगा था यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा, लेकिन आखिरकार 23 जुलाई 1999 को 'पोलियो करेक्टिव सर्जरीज़' की यह शृंखला समाप्त हुई। डॉ. वर्गीज़ ने मुझे अस्पताल के उस विभाग में भेज दिया, जहाँ मेरे दोनों पैरों के लिए कैलिपर बनने थे। वहाँ माप लेने के बाद हमें कहा गया कि हम 16 अगस्त को आकर कैलिपर ले जा सकते हैं।

वर्कशॉप ने हमें कैलिपर के लिए 5000 रुपए जमा कराने के लिए कहा। यह पहली बार था कि हमें अस्पताल में पैसे जमा कराने पड़े। सेंट स्टीफेंस अस्पताल में हुए मेरे इलाज, जिसमें सभी ऑपरेशन भी शामिल हैं, के लिए हमें कोई शुल्क नहीं देना पड़ा। केवल इलिज़ारोव एपरेटस को हमें बाहर से खरीदना पड़ा था। अस्पताल में 'पोलियो करेक्टिव सर्जरीज़' मुफ़्त की जाती हैं।

मैं यह भी सोचता हूँ कि यदि यह सारा इलाज मुफ़्त न होता तो क्या यह इलाज हो सकता था? हालाँकि हमारी आर्थिक हालत अच्छी नहीं थी, लेकिन फिर भी परिवार के लोग ज़रूर

किसी-न-किसी तरह इस इलाज के लिए पैसा जुटा लेते। पर क्या अपने परिवार को इतने आर्थिक बोझ के तले दबाकर मैं ये सब ऑपरेशन कराता, इसमें मुझे संदेह है।

बहरहाल, उस दिन जब मैं चंदा चाचा के ऑटो में बैठ घर लौट रहा था तो मुझे ज़िन्दगी बहुत खूबसूरत त्यौहार-सी लग रही थी। मन कर रहा था कि इस त्यौहार को मनाया जाए। नाचा जाए, गाया जाए...

दुख भरे दिन बीते रे भइया, अब सुख आयो रे!

रंग जीवन में नया लायो रे!

—शकील बदायूनी

...घोर पीड़ा और हताशा से भरा जीवन का एक लंबा अध्याय समाप्त हो रहा था।

## डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ और पोलियो वार्ड

मेरे जीवन में डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ की वजह से एक बहुत बड़ा और सकारात्मक परिवर्तन हुआ था, इसलिए उनके बारे में अवश्य लिखना चाहूँगा। डॉ. वर्गीज़ के मार्गदर्शन में मेरे पोलियो करेक्टिव सर्जरीज़ नामक ऑपरेशन हुए। इन ऑपरेशनों की वजह से मेरे शरीर के बिगड़ चुके ढाँचे में बहुत सुधार हुआ। आज यदि मैं सीधा खड़ा हो सकता हूँ तो इसका श्रेय डॉ. वर्गीज़ को ही जाता है।

डॉ. वर्गीज़ ने दिल्ली के मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज से एम.बी. बी.एस. और एम.एस. (ऑर्थोपेडिक्स) की डिग्री प्राप्त की है। अगस्त 1999 में उन्होंने नई दिल्ली के सेंट स्टीफेंस अस्पताल के निदेशक का कार्यभार सँभाला और वह 2006 तक इस पद पर रहे। सेंट स्टीफेंस अस्पताल भारत में एकमात्र ऐसा अस्पताल है, जिसमें पोलियो के लिए अलग से एक वार्ड है। इस वार्ड में पोलियो के शिकार हज़ारों लोगों के ऑपरेशन हुए हैं और यह सब डॉ. वर्गीज़ के नेतृत्व में हुआ। डॉ. वर्गीज़ अपने पास आने वाले पोलियो के हर मरीज़ को तुरंत स्वीकार कर लेते हैं, चाहे उसकी आर्थिक स्थिति कैसी भी हो। यही कारण है कि मैं जिस दिन पहली बार सेंट स्टीफेंस अस्पताल में डॉ. वर्गीज़ से मिला था, उसी दिन उन्होंने मुझे भर्ती होने के लिए कह दिया था। डॉ. वर्गीज़ हड्डियों के डाक्टर हैं और उन्हें पोलियो के कारण छोटे पड़ चुके हाथ-पैरों की लंबाई बढ़ाने हेतु ऑपरेशन करने में विशेषज्ञता प्राप्त है। पोलियो के मरीज़ अक्सर चारों हाथ-पैरों पर जानवरों की तरह चलने के लिए मजबूर हो जाते हैं। मैं भी बचपन और

किशोरावस्था में इसी तरह चलता था। डॉ. वर्गीज़ ऐसे मरीज़ों के शारीरिक ढाँचे को बेहतर बनाते हैं जिससे मरीज़ को सीधे खड़े होकर चलने में सहूलियत होती है।

डॉ. मैथ्यू वर्गीज़ एक हँसमुख और मृदुभाषी व्यक्ति हैं। जब सेंट स्टीफेंस में मेरे ऑपरेशन हो रहे थे, तब वह पूरे अस्पताल के निदेशक थे। ज़ाहिर है कि वह बहुत व्यस्त व्यक्ति थे, लेकिन फिर भी वह रोज़ाना पोलियो वार्ड में आते थे और सभी मरीज़ों की बातों का मुस्कुराकर जवाब देते थे। डॉ. वर्गीज़ का जीवन एक बेहद सफल और अर्थपूर्ण जीवन है। उन्होंने असंख्य दीयों में तेल डालकर उनकी रोशनी को बढ़ाया है। सरकार द्वारा दशकों तक चलाए गए पोलियो टीकाकरण कार्यक्रम की वजह से अब भारत में पोलियो के नए केस न के बराबर रह गए हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी भारत को आधिकारिक रूप से पोलियो मुक्त घोषित कर दिया है। इसलिए अब डॉ. वर्गीज़ के पोलियो वार्ड में आने वाले मरीज़ों की संख्या घट रही है और मरीज़ों की औसत उम्र भी बढ़ रही है। डॉ. वर्गीज़ का सपना है कि सेंट स्टीफेंस में चल रहा पोलियो वार्ड एक दिन खाली हो जाए और भारत में पोलियो से कोई पीड़ित न हो। जब कभी भारत से पोलियो के मिटने का इतिहास लिखा जाएगा तो उसमें डॉ. वर्गीज़ का नाम सुनहरे अक्षरों में लिखा जाना चाहिए।

डॉ. मैथ्यू वर्गीज़...आपको हार्दिक धन्यवाद और सलाम!

## घर में टेलीफ़ोन

हमारे घर में फ़ोन नहीं था। कभी फ़ोन करना हो तो बाज़ार में जाकर पी.सी.ओ. बूथ प्रयोग किया जाता था। ऐसे में मुझे एन.आई.आई.टी. में अपने सहपाठियों, अध्यापकों और ट्यूशन पढ़ने आने वाले अपने विद्यार्थियों से संपर्क बनाए रखने में बड़ी दिक्कत होती थी। यह दिक्कत मुझे कॉलेज के दौरान भी हमेशा बनी रही। साथ पढ़ने वाले छात्रों से फ़ोन पर संपर्क हो जाने से कई बार चीज़ें आसान हो जाती थीं। ऑपरेशनों के दौरान कई बार ज़ख्मों में इतना अधिक दर्द होता था कि मैं ट्यूशन नहीं पढ़ा पाता था, ऐसे में छात्रों को आने से मना करना भी एक ज़रूरी काम था। इस संघर्ष में किशोर ने मेरा पूरा साथ दिया। उसने बहुत बार मेरे और बाहरी दुनिया के बीच संपर्क सूत्र का काम किया।

इन समस्याओं के हल के लिए आखिरकार हमने घर में एक टेलिफ़ोन लाइन लगवा ली। फ़ोन और कंप्यूटर मेरे पलंग के पास रख दिए गए थे। इससे पलंग के दायरे में सिमट चुकी मेरी दुनिया को कुछ विस्तार मिला था।

## नया कैलिपर

16 अगस्त 1999 को मेरा 23वाँ जन्मदिन एक विशेष उपहार लेकर आया। अस्पताल द्वारा दी गई तिथि के अनुसार मैं 16 अगस्त को पापा के साथ फिर से सेंट स्टीफेंस अस्पताल गया। वहाँ की वर्कशॉप में मेरे लिए कैलिपर तैयार हो चुका था। मेरा नया कैलिपर सफ़रदरजंग अस्पताल में पहले बने कैलिपरों के मुकाबिले बहुत हल्का और काफ़ी अलग था। इसमें जूते को फ़िट नहीं किया गया था। इसका अर्थ यह कि इस कैलिपर के साथ मैं कोई भी जूता पहन सकता था। इसके अलावा एक बड़ा फ़र्क़ यह भी था कि मैं इस कैलिपर के ऊपर से पैट पहन सकता था। पहले के कैलिपरों के ऊपर से पैट पहनना मुश्किल काम था।

कैलिपर को पहनकर जब मैं अस्पताल की वर्कशॉप में चलने का अभ्यास कर रहा था तो मैंने स्वयं को वहाँ लगे एक आदमकद आईने में देखा। पिछले दो वर्षों में जो शारीरिक और मानसिक पीड़ा मैंने झेली थी उसका प्रतिफल मुझे आईने में दिख रहा था। कैलिपर को बाँध और उसके ऊपर से पैट व जूते पहनकर मैं बिल्कुल सीधा खड़ा था। ज़मीन पर रखे मेरे दोनों पैर समान लंबाई के हो चुके थे। ऊपर की ओर चढ़ा कूल्हा भी अब सामान्य स्थिति में आ चुका था। मेरा शरीर अब एक सामान्य व्यक्ति के शरीर की तरह दिखने लगा था।

मैं...कुछ पल के लिए तो स्वयं को पहचान ही नहीं पाया।

## रात भर का है मेहमाँ अँधेरा

पोलियो करेक्टिव सर्जरीज़ में मेरे कुल पाँच ऑपरेशन हुए और इसमें दो वर्ष का समय लगा। इन ऑपरेशनों के कारण मेरे शरीर की बिगड़ी हुई आकृति काफ़ी हद तक ठीक हो गई थी, लेकिन चलते समय होने वाली दिक्कतों, थकान और दर्द में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था। इन दो वर्षों में कॉलेज के मेरे सहपाठियों से मेरा संपर्क टूट गया, क्योंकि एक तो हमारे घर में टेलीफ़ोन बहुत बाद में आया दूसरे मेरे सभी सहपाठी अपने-अपने करियर की दौड़-भाग में जुट गए थे। एक मैं ही था जिसे कॉलेज से स्नातक की डिग्री लेने के बाद ऑपरेशन टेबल पर जाना पड़ा था।

जब मैं अपनी तुलना अन्य लोगों से करता तो स्वयं को बहुत कमतर और पीछे छूटा हुआ पाता था। जिस हौसले और हिम्मत से मैंने स्कूल और कॉलेज की पढ़ाई की थी, उस हौसले को बहुत चोट लगी थी। मैंने सोचा था कि कॉलेज पूरा करके मैं भी कोई काम करूँगा, लेकिन मैं कुछ नहीं कर पाया। कभी दो पल अकेले में सोचता तो पाता था कि किसी भी परिस्थिति में हार

न मानना, लगातार दर्द को सहन करते जाना, इच्छाशक्ति और दृढ़-विश्वास ही मेरी उपलब्धियाँ थीं। इसके अलावा तो हर लिहाज़ से मेरे सहपाठी ही मुझसे मीलों आगे थे। एक अनजाने से मानसिक अवसाद ने मुझे इन दो वर्षों के दौरान अपनी गिरफ़्त में जकड़े रखा, लेकिन हार मैंने फिर भी नहीं मानी और परिस्थितियों से दिन-प्रतिदिन लड़ता रहा—इस आशा में कि इस रात की कभी तो सुबह होगी।

रात भर का है मेहमाँ अँधेरा  
किसके रोके रुका है सवेरा!  
—साहिर लुधियानवी

पोलियो करेक्टिव सर्जरीज़ तो पूरी हो गई थी, लेकिन सवेरा अभी भी काफ़ी दूर था...

## टी.बी. से लड़ाई

पोलियो के लिए किए गए ऑपरेशन समाप्त हुए करीब तीन महीने ही हुए थे और मैं धीरे-धीरे अपनी ज़िन्दगी को वापस पटरी पर ला ही रहा था कि सितंबर 1999 में मुझे बुखार के साथ तेज़ पेट दर्द शुरू हो गया। घरेलू इलाज के बाद स्थानीय डॉक्टर की दवाई भी आजमा ली, लेकिन दर्द ठीक होने का नाम नहीं ले रहा था।

समय बीतता रहा, सभी तरह के इलाज और टेस्ट करवा लिए लेकिन कोई अस्पताल, डॉक्टर, वैद्य, हकीम यह नहीं बता पा रहा था कि दर्द का कारण क्या है। दर्द इतना अधिक बढ़ चुका था कि मुझे हमेशा शक्तिशाली दर्द-नाशक इंजेक्शन के असर में पड़े रहना होता था। शरीर से सारी ताक़त निचुड़ चुकी थी और मैं सूखे कांटे की तरह लगने लगा था। मन भी अब प्रश्न करने लगा था कि ऑपरेशनों के दो साल क्या इसी दिन की आशा में काटे थे?

क्या मेरे जीवन में दर्द के सिवा कुछ भी नहीं है?

दिन-प्रतिदिन बढ़ते दर्द ने अंततः एक और सवाल मेरे मन में उत्पन्न कर दिया, “क्या अब मेरा अंत आ गया है?”

हालाँकि मैं पेट दर्द से बेहाल था, लेकिन मुझे अपने शरीर और उसकी क्षमता का पूरा ज्ञान था। मैं खुद ही परिवार के लोगों को कहता था कि वे चिंतित न हों, जल्द ही डॉक्टर इस पीड़ा का कारण ढूँढ़ निकालेंगे और मैं ठीक हो जाऊँगा। इसी तरह करीब दो महीने बीत गए, तमाम कोशिशों के बावजूद न तो कारण पता चला और न ही निवारण।

इस तरह बढ़ते-बढ़ते दर्द ने एक शाम अपनी सीमा लाँघ दी। उस शाम मैंने महसूस किया कि मेरा शरीर अब उस दर्द को और अधिक नहीं झेल पाएगा। स्वयं के अस्तित्व पर से मेरा नियंत्रण छूटता हुआ महसूस होने लगा। दरअसल, मृत्यु के इतना नज़दीक मैं पहले कभी नहीं पहुँचा था जितना उस शाम को था।

अजब-सी छटपटाहट, घुटन, कसकन, है असह्य  
पीड़ा

समझ लो साधना की अवधि पूरी है  
अरे, घबरा न मन!

चुपचाप सहता जा, सृजन में दर्द का होना ज़रूरी है!  
—कन्हैया लाल नंदन

मैंने माँ-पापा को कहा कि मुझे अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) के आपातकालीन विभाग में ले जाएँ। बड़ी मुश्किल से मैं शाम सात बजे के करीब एम्स के आपातकालीन विभाग में पहुँचा। वहाँ जाते ही दर्द कम करने के लिए मुझे कुछ दवाइयाँ ड्रिप के ज़रिए दी गईं और फिर मेरे पेट का एक्स-रे किया गया।

एम.आर.आई. जैसे बड़े टेस्ट जिस दर्द का कारण नहीं खोज पाए, उस शाम एक साधारण एक्स-रे में वही कारण स्पष्ट दिखाई दे रहा था। एक्स-रे को देखते ही डॉक्टरों ने मेरे दर्द को एक नाम दे दिया— इंटेस्टाइनल ट्यूबरक्यूलोसिस...अर्थात् आँतों की टी.बी.। जो बीमारी तीन महीनों तक हर टेस्ट की निगाह से छुपती रही, उसे अब एक साधारण एक्स-रे ने उजागर कर दिया था। एक्स-रे पहले भी हुए थे, लेकिन बीते तीन महीनों के दौरान टी. बी. ने मेरी छोटी आँत को इतनी अधिक क्षति पहुँचा दी थी कि अब वह क्षति स्पष्ट-रूप से दिखाई दे रही थी।

“टी.बी. और मुझे? यह कैसे हो सकता है? मैंने तो कभी जीवन में शराब, बीड़ी, सिगरेट नहीं पी!” डॉक्टरों द्वारा बीमारी का नाम बताए जाने पर मेरे मन में सबसे पहले यही प्रश्न आए।

लेकिन जब मुझ पर इस आश्चर्य का असर कुछ कम हुआ तो ध्यान आया कि टी.बी. तो बैक्टीरिया से होने वाली एक बीमारी है और ज़रूरी नहीं कि यह केवल बीड़ी-सिगरेट पीने वालों को ही हो। पिछले दो वर्ष मैं लगातार अस्पताल आता-जाता रहा, पाँच ऑपरेशन हुए, दो वर्ष तक शरीर में बहुत से ज़ख्म बने ही रहे...ऐसे में टी.बी. या किसी अन्य बैक्टीरिया/वायरस का शरीर में आ जाना कोई हैरानी की बात नहीं थी।

एम्स में आपातकाल विभाग के डॉक्टरों ने एक्स-रे में मेरी स्थिति देखने के बाद पापा से कहा, “इन्हें आठ घंटे के भीतर ऑपरेशन की ज़रूरत है, वरना बहुत देर हो जाएगी।”

पापा ने डॉक्टरों को कहा कि आप अभी ऑपरेशन कर दीजिए। इस पर डॉक्टरों ने जवाब दिया कि एम्स में कोई बेड खाली नहीं है, इसलिए हम यहाँ ऑपरेशन नहीं कर सकते। उन्होंने मुझे तुरंत सफ़दरजंग अस्पताल या किसी निजी अस्पताल में ले जाने की सलाह दी। पापा के पूछने पर डॉक्टरों ने बताया कि निजी अस्पताल में ऑपरेशन का खर्च करीब पच्चीस हज़ार रुपए आएगा, लेकिन यदि सफ़दरजंग अस्पताल में ऑपरेशन हो तो खर्च कम आएगा, क्योंकि एम्स की तरह सफ़दरजंग अस्पताल भी सरकारी अस्पताल है।

जब यह बात मुझे बताई गई तो मैंने निजी अस्पताल में जाने से साफ़ इंकार कर दिया। उस समय मेरे मन में यही आया कि मैं आज तक अपने परिवार से केवल लेता ही रहा हूँ, उन्हें कभी कुछ दे नहीं पाया। हालाँकि सेंट स्टीफेंस अस्पताल ने ऑपरेशनों के लिए पैसे नहीं लिए थे, लेकिन फिर भी पिछले दो साल में मेरी दवा और खुराक पर काफ़ी खर्च हो चुका था। अब फिर से पच्चीस हज़ार रुपए का खर्च...पच्चीस हज़ार हमारे लिए बड़ी रक़म थी और मैं नहीं चाहता था कि यह रक़म खर्च हो। अपनी स्थिति देखकर मुझे लग रहा था कि मैं अपने परिवार के लिए शायद कभी कुछ नहीं कर पाऊँगा। सो, मैंने पापा से कहा कि मुझे सफ़दरजंग अस्पताल ही ले जाया जाए। मैं निजी अस्पताल में नहीं जाना चाहता था।

सफ़दरजंग अस्पताल एम्स के ठीक सामने है। वहाँ के डॉक्टरों ने कहा कि वे मुझे दाखिल तो तुरंत कर लेंगे, लेकिन ऑपरेशन अगली सुबह नौ बजे से पहले नहीं हो पाएगा। परिवार के लोग परेशान थे, क्योंकि एम्स के डॉक्टरों ने आठ घंटे का अल्टीमेटम दे दिया था...दर्द और कमज़ोरी के कारण मैं भी स्वयं के अस्तित्व को डूबता हुआ-सा अनुभव कर रहा था। मृत्यु का विचार मन में आने लगा था। लेकिन इन विचारों और अपनी नाज़ुक स्थिति को एक ओर हटा मैंने अपनी बची-खुची ताक़त, इच्छाशक्ति और आशाओं को समेटा; और सफ़दरजंग अस्पताल में दाखिल हो गया। मैंने माँ को कहा कि मुझे कुछ नहीं होगा।

सारी रात सफ़दरजंग अस्पताल के वार्ड में पड़े-पड़े ऐसे बीती जैसे मैं इस दुनिया और किसी अन्य दुनिया के बीच लटक रहा होऊँ...मैं सब कुछ सुन-समझ पा रहा था, लेकिन ऐसा लग रहा था जैसे मैं अपने शरीर से जुदा होऊँ। मन में लगातार केवल एक ही बात गूँज रही थी, “मुझे जीतना है, ललित हार नहीं सकता...” दर्दनाशक दवाएँ मेरे शरीर में भरी जा रही थीं और मुझे सुबह होने वाले ऑपरेशन के लिए तैयार किया जा रहा था। इसी प्रक्रिया के दौरान जब डॉक्टरों ने मेरे शरीर पर पहले हुए ऑपरेशनों के बहुत से निशान देखे तो वे भी मेरे भाग्य के खेल पर मुस्कराए बिना नहीं रह सके। रात को मेरा मुआयना करने आए एक डॉक्टर ने मुझे कहा कि तुम्हारी हिम्मत देखकर मैं दावे से कह सकता हूँ कि तुम्हें कुछ नहीं होगा।

अगली सुबह मुझे आठ बजे ऑपरेशन थिएटर ले जाया गया और करीब नौ बजे मैं एक बार फिर से ऑपरेशन टेबल पर था। इस बार स्थिति बहुत गंभीर थी। मुझे जनरल एनस्थीसिया देकर पूरी तरह बेहोश कर दिया गया।

ऑपरेशन हुआ...और मैं बच गया!

चार घंटे चले ऑपरेशन के बाद जब मुझे होश आया तो मुझे बहुत ही खराब लग रहा था। शरीर महसूस नहीं हो रहा था, सिर चकरा रहा था और उल्टी आ रही थी। उल्टी के कारण पेट के ऑपरेशन में लगे टाँके ज़ोर से खिंचते थे और मैं दर्द से कराह उठता था। नाक के रास्ते एक नली मेरे पेट के भीतर तक डाल दी गई थी, पेट खाना पचाने के लिए जिन द्रवों का निर्माण करता है, उन द्रवों को पेट से बाहर निकालने के लिए यह नली लगाई गई थी और यह नली अगले ग्यारह दिन तक मेरे जी का जंजाल बनी रही।

इस ऑपरेशन में पाया गया कि टी.बी. के बैक्टीरिया ने मेरी छोटी आँत को बुरी तरह से क्षतिग्रस्त कर दिया था। छोटी आँत का करीब एक फुट लंबा हिस्सा पूरी तरह से खराब हो चुका था। इस हिस्से को ऑपरेशन के दौरान काटकर निकाल दिया गया। ऑपरेशन के बाद मुझे ग्यारह दिन तक अस्पताल में रखा गया और इस दौरान मुझे ड्रिप के ज़रिए लगातार ग्लूकोज़ और दवाइयाँ दी गईं। कुछ भी खाने-पीने की मनाही थी। मैं बिस्तर से हिल भी नहीं पाता था।

ग्यारह दिन बाद जब अस्पताल से छुट्टी मिली तो डॉक्टरों ने मुझे टी.बी. की दवा रोज़ाना बिना नागा खाने के लिए कहा। यह दवा मुझे नौ महीने खानी थी, लेकिन बैक्टीरिया को कोई अवसर न देने के विचार से मैंने इसे दस महीने तक खाया। ऑपरेशन के बाद कई महीने तक मैं बेहद कमजोर अनुभव करता रहा...टी.बी. ने मेरी सारी ताक़त ख़त्म कर दी थी, लेकिन धीरे-धीरे इस चुनौती को भी पूरा कर मैं जीत गया। ऑपरेशन और दस महीने तक दवा खाने के बाद मेरे शरीर से टी.बी. का बैक्टीरिया पूरी तरह से निकल गया था।

## अम्मा का जाना

जब मैं टी.बी. की चुनौती से जूझ रहा था, उन्हीं दिनों अम्मा भी बीमार हो गईं। उन्हें वैसे कोई बीमारी नहीं थी, बस बढ़ती उम्र के कारण जर्जर होता उनका शरीर ही उनका साथ नहीं दे रहा था। देखते ही देखते वह कमज़ोर होती चली गईं और अंततः उन्होंने संसार से विदा ले ली।

जब बाबा ने यह दुनिया छोड़ी थी, उस समय मैं छोटा था। दुख मुझे तब भी बहुत हुआ था, लेकिन अम्मा के देहावसान से मैं भीतर तक हिल गया। हालाँकि इस बार मैं जीवन के चक्र को बेहतर ढंग से समझ पा रहा था। जो यहाँ आता है उसे जाना ही होता है और देखा जाए तो संसार से एक नियत समय के बाद विदाई ले लेना अच्छा ही है।

हालाँकि अब मेरे मन में अधिक स्थिरता आ चुकी थी फिर भी अम्मा के जाने से बहुत गहरा कष्ट हुआ। माँ-पापा और अन्य परिवारजनों की तरह अम्मा ने भी पोलियो से लड़ने में मेरी बहुत सहायता की थी। वह मुझे आगे बढ़ते देखना चाहती थीं, लेकिन अफ़सोस कि अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने मुझे बिस्तर पर दर्द से कराहते हुए देखा। इसके बावजूद अम्मा को मेरी



तमाम उपलब्धियों पर बड़ा नाज़ था, और वह हर किसी से मेरी हिम्मत की बातें किया करती थीं।

अम्मा सूती धोती और पूरी बाजू की क़मीज़ पहना करती थीं। इस तरह की क़मीज़ हरियाणा और आस-पास के इलाकों में पारंपरिक परिधान का हिस्सा होती है। अम्मा की क़मीज़ में लगी ऊपर वाली जेब में हमेशा एक मुड़ा-जुड़ा रूमाल रहता था जिसके हर कोने में कुछ-न-कुछ बँधा होता था। एक कोने में तंबाकू और दूसरे कोने में बीच से तोड़े हुए इमली के बीज होते थे (ये बीज 'चक्कम-पौ' खेलने के लिए प्रयोग होते थे)। रूमाल के बाक़ी कोनों और मध्य में अलग-अलग तरह की और कई चीज़ें छोटी-छोटी गाँठों में बँधी पड़ी रहती थीं। अम्मा की जेबें किसी जादूगर के हैट की तरह थीं, जिसमें से ज़रूरत की हर छोटी-मोटी चीज़ निकल आती थी। जब कभी मुझे स्लेट पर लिखने के लिए चॉक की ज़रूरत होती थी तो अम्मा अपनी किसी जेब को टटोलती थीं और चॉक मिल जाता था। सिक्के, चाबियाँ, चॉक, पेंसिल का टुकड़ा, पेंसिल मिटाने की रबर, क़मीज़ों के अलग-अलग रंग के बटन और भी न जाने क्या क्या...हर छोटी और काम की चीज़ अम्मा की जेबों से प्रकट होना जानती थी। हालाँकि मैंने अम्मा को बिना चश्मे के भी देखा था, लेकिन अब मेरी यादों में उनका चेहरा भूरे प्लास्टिक के भारी-भरकम फ़्रेम और मोटे लेंसों वाले चश्मे के साथ ही आता है। उनका झुर्रियों भरा चेहरा सचमुच उन्हें एक प्यारी दादी माँ का व्यक्तित्व प्रदान करता था।

## आखिरकार!

नब्बे के दशक में अक्सर 'इक्कीसवीं सदी' के बारे में कई बातें सुनने को मिल जाती थीं। इक्कीसवीं सदी में ये होगा और इक्कीसवीं सदी में वो होगा। अंततः जब सदी बदली और वर्ष 2000 का रूप धरे इक्कीसवीं सदी आई तो पूरी दुनिया ने नई-नवेली सदी का भव्य स्वागत किया। सभी को उम्मीद थी कि आने वाले समय में इंसान धरती पर एक बेहतर जीवन जी पाएगा।

जब सदी बदली तो मुझे पोलियो के शिकंजे में फँसे हुए बीस साल गुज़र चुके थे। इन बीस वर्षों में मैंने केवल और केवल संघर्ष किया, मेरा संघर्ष केवल जीने के लिए नहीं था बल्कि गरिमापूर्वक जीने के लिए था।

जी तो हर कोई लेता है, लेकिन रोज़ाना के घोर संघर्ष के बीच अपना आत्म-सम्मान बनाए रखते हुए जीना एक बड़ी उपलब्धि होती है।

जी तो हर कोई लेता है, लेकिन लोगों द्वारा दरकिनार कर दिए जाने के बावजूद अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करना एक बड़ी उपलब्धि होती है।

वाक़ई, जी तो हर कोई लेता है, लेकिन समाज द्वारा लगाए गए 'अपाहिज' के ठप्पे को झुठलाकर उसी समाज के लिए उपयोगी साबित होना एक बड़ी उपलब्धि होती है।

मैंने पिछले पन्नों में बार-बार लिखा कि चलते-चलते गिर जाना मेरे लिए रोज़ाना की मजबूरी थी। मैं हज़ारों बार...जी हाँ, सच में हज़ारों बार गिरा...लेकिन हर बार मैं फिर से खड़ा हुआ, स्वयं को सँभाला और आगे बढ़ गया। बार-बार गिरकर भी आगे बढ़ते रहने का उदाहरण भला चींटी ही क्यों हो? हम खुद भी तो ऐसा उदाहरण बन सकते हैं! हम खुद भी तो औरों के लिए प्रेरणा बन सकते हैं!

संघर्ष करने की उत्कट इच्छा का लगातार बने रहना, इंसानी जीवन की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है।

यदि आप मुश्किलों से नहीं भागते, यदि आप संघर्ष करते हैं तो एक दिन आप अवश्य जीत जाते हैं। संघर्ष का अंधकारमय समय लंबा, बहुत लंबा, बहुत-बहुत लंबा चल सकता है...लेकिन एक पल ऐसा ज़रूर आता है, जब पंख खुलने का एहसास होता है और उगते सूर्य की तरफ़ आपकी उड़ान आरंभ होती है।

जब मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय से विज्ञान विषय में स्नातक की उपाधि हासिल की तो उस समय मैं अपने परिवार के इतिहास में पहला ग्रेजुएट बन चुका था...फिर कई वर्ष पीड़ा सहकर अपने शरीर को कुछ ठीक कराया...और बीस वर्ष के लंबे संघर्ष के बाद आखिरकार मुझे अपने पंखों में शक्ति का एहसास होने लगा था।

जिन योग्यताओं को पाना मेरे लिए असंभव बता दिया गया था, उन्हें हासिल करने के बाद अब उन योग्यताओं को प्रयोग करने का समय आ गया था।

आखिरकार...अब उड़ान का समय आ गया था!

## भाग 3

उड़ान

## पहली नौकरी

शरीर में कमजोरी बहुत थी और दवाइयाँ लगातार चल रही थीं, लेकिन सन् 2000 शुरू होते-होते मैं टी.बी. के ऑपरेशन से उबर चुका था। तब तक मेरे कंप्यूटर कोर्स के चार सेमेस्टर भी पूरे हो चुके थे। अब मुझे ट्रेनिंग के दो सेमेस्टर और पूरे करने थे। इस ट्रेनिंग के दौरान हमें किसी कंपनी में काम करना था और उसके बदले में हमें तनख्वाह भी मिलनी थी। मैंने कंप्यूटर प्रोग्रामिंग और सॉफ्टवेयर इंजीनियरिंग के क्षेत्र में नौकरी आरंभ कर दिया। जल्द ही मुझे दिल्ली के ओखला इलाके में स्थित एक प्राइवेट कंपनी में जॉब मिल गई। उन्होंने मेरी शुरुआती तनख्वाह चार हजार रुपए प्रति माह तय की।

ओखला में मेरा ऑफिस घर से करीब 15 किलोमीटर दूर था और वहाँ पहुँचने का एकमात्र साधन डी.टी.सी. बस थी। शुरू में दो-तीन दिन बस से गया तो मैंने पाया कि ओखला में बस स्टॉप से ऑफिस पहुँचने के लिए काफी दूर पैदल चलना पड़ता था। इसके अलावा डी.टी.सी बस में खूब भीड़ होती थी और उसमें चढ़ना-उतरना बहुत मुश्किल था। यहाँ मैं कॉलेज वाला तरीका लगाते हुए खाली बस के आने का इंतज़ार भी नहीं कर सकता था। इसका पहला कारण तो यह था कि बहुत कम बसें ओखला जाती थीं और दूसरे यह कि मुझे ऑफिस समय पर पहुँचने के लिए एक नियत समय तक बस पकड़नी ही होती थी।

दो-तीन दिन में लगने लगा कि बात नहीं बनेगी। डी.टी.सी बस का रोज़ाना प्रयोग संभव नहीं था। तभी मुझे एक चार्टर्ड बस के बारे में पता चला जो महरौली से ओखला जाती थी। यह डी.टी.सी बसों के जितनी भरी नहीं होती थी और मेरे ऑफिस के करीब सवारियों को उतार देती थी। हालाँकि किराया कुछ अधिक था, लेकिन मेरे पास और कोई रास्ता नहीं था... सो, मैंने चार्टर्ड बस से जाना शुरू कर दिया।

इस चार्टर्ड बस के ड्राइवर ने मुझसे कभी सीधे मुँह बात नहीं की, वह हमेशा बस में मेरे चढ़ने-उतरने को लेकर छींटाकशी करता था। वह अन्य सब सवारियों के सामने ऐसे जताता था जैसे कि मुझे बस में ले जाकर वह मुझ पर कोई बहुत बड़ा एहसान करता हो। शाम को लौटते समय वह कई बार मुझे देखकर भी अनदेखा कर देता और मुझे बिना लिए ही चला जाता। ऐसे में मुझे वापस ऑफिस जाकर घर फ़ोन करके किसी को स्कूटर पर बुलाना पड़ता था।

पापा, चाचा या किशोर तीस किलोमीटर का सफ़र केवल मुझे घर ले जाने के लिए करते थे। ये लोग भी दिन भर काम करके शाम को घर लौटे ही होते थे कि कई बार मेरा फ़ोन आ जाता कि ओखला आ जाइए... मुझे बहुत कष्ट होता था, लेकिन कोई उपाय नहीं था। कई बार सोचा

कि रोज़ ऑटो-रिक्शा से आना-जाना शुरू करूँ, लेकिन ऐसा करने पर मुझे अपनी तनख्वाह का काफ़ी बड़ा हिस्सा ऑटो-रिक्शा वाले को देना पड़ता।

जब मुझे पहली तनख्वाह मिली तो मैंने घर में सबके लिए कुछ न कुछ उपहार खरीदा। माँ और चाची के लिए साड़ी, पापा-चाचा के लिए पैंट-शर्ट, पूजा के लिए मोतियों की माला... सबके लिए कुछ न कुछ लिया। हालाँकि ये छोटे-छोटे उपहार उस अथक मेहनत का धन्यवाद नहीं कर सकते थे जो मेरे परिवारजनों ने मुझे सक्षम बनाने के लिए की थी।

...अपने जीवन में और आगे बढ़कर ही मैं 'धन्यवाद' कह सकता था।

## संयुक्त राष्ट्र संघ से जुड़ना

आपने इस पुस्तक में ग़ौर किया होगा कि मुझे इच्छित रास्ते किसी न किसी रूप में मिल ही गए। जैसा कि पाओलो कोएलो ने लिखा है, “यदि आप किसी चीज़ को पूरी शिद्दत से पाना चाहते हैं तो समस्त ब्रह्मांड उसे पाने में आपकी मदद करता है।” गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है, “जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू।” मेरा भी मानना है कि यदि आप किसी चीज़ को पाने के लिए पूरी लगन से प्रयास करते हैं तो देर-सवेर रास्ता स्वयं आपके सामने प्रकट हो जाता है। शर्त यह है कि आप धीरज न छोड़ें...

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होए  
माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आए फल होए  
—रहीम

जैसाकि मैंने शुरू में बताया था, प्राइमरी स्कूल के दौरान हिंदी की किताब में संयुक्त राष्ट्र संघ के बारे में पढ़कर मेरे मन में आया था कि मैं इस संस्था के साथ काम अवश्य करूँगा।

ओखला वाली कंपनी में करीब एक वर्ष सॉफ़्टवेयर प्रोग्रामिंग का काम करने के बाद मुझे संयुक्त राष्ट्र संघ के दिल्ली स्थित एक ऑफ़िस में नौकरी की सूचना मिली। यूनाइटेड नेशंस वॉलंटियर्स प्रोग्राम द्वारा इस नौकरी के लिए विज्ञापन दिया गया था। उन्हें एक आई.टी. स्पेशलिस्ट की आवश्यकता थी।

मुझे यह नौकरी अपने लिए सर्वथा उचित लगी और मैंने तुरंत आवेदन कर दिया। कुल चार आवेदकों को इंटरव्यू के लिए बुलाया गया। इनमें मैं भी शामिल था। मैंने देखा कि इंटरव्यू पैनल में एक जर्मन, एक रूसी, एक इतालवी और एक भारतीय व्यक्ति थे। यह देखकर मुझे लगा

कि मैं बिल्कुल अपने मन की जगह पर आ गया हूँ। मुझे तो पूरा विश्व अपना ही लगता है! तब तक मेरी अँग्रेज़ी भी इस लायक हो चुकी थी कि मैं उस इंटरव्यू में आराम से अँग्रेज़ी में वार्तालाप कर सकूँ। मैंने वार्तालाप किया और मुझे चुन लिया गया।

मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मैं संयुक्त राष्ट्र संघ के स्टाफ़ का सदस्य बन चुका था!

अब मेरा ऑफ़िस घर के करीब था, मानदेय भी मिलता था और सबसे बड़ी बात यह कि मैं संयुक्त राष्ट्र संघ से एक स्वयंसेवक के रूप में जुड़ा था। तभी से स्वयंसेवा मेरे जीवन का एक हिस्सा बन गई। बिना मेहनताना लिए दूसरों के लिए कुछ करने से जो संतोष हमें मिलता है, वह अमूल्य है। स्वयंसेवा बेहतर समाज की कुंजी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में मैंने जो सीखा उसे मैं सॉफ़्टवेयर इंजीनियरिंग संबंधी कंपनियों में ताउम्र काम करके भी नहीं सीख पाता। यकीनन प्राइवेट कंपनियों में काम करके मुझे कहीं अधिक वेतन मिलता, लेकिन व्यक्तित्व का जो निखार मुझे संयुक्त राष्ट्र संघ में काम करके मिला, वह शायद कहीं और संभव नहीं था।

संयुक्त राष्ट्र संघ से जुड़ना एक और मायने में महत्वपूर्ण इसलिए रहा, क्योंकि तभी से मैंने अपने मन के अनुसार काम करना शुरू किया। हमारे देश में हर क्षेत्र के लिए एक तयशुदा करियर बना दिया गया है। यदि आप कॉमर्स के विद्यार्थी हैं पर साथ ही इतिहास में भी रुचि है, तो कॉलेज आपको कॉमर्स के साथ इतिहास नहीं पढ़ने देगा। आप कॉमर्स के विद्यार्थी हैं तो आपको अकाउंट्स इत्यादि विषय ही पढ़ने हैं और इसी क्षेत्र से संबंधित काम करके अपना जीवन बिता देना है।

कंप्यूटर की जो पढ़ाई मैंने की थी, उसके मुताबिक़ मुझे भी सॉफ़्टवेयर बनाने वाली कंपनियों में प्रोग्रामर से सॉफ़्टवेयर इंजीनियर, सीनियर सॉफ़्टवेयर इंजीनियर, डेवलपर, टीम लीड, मैनेजर जैसे पदों से होते हुए अपना जीवन व्यतीत करना था।

संयुक्त राष्ट्र संघ से जुड़ना इस तयशुदा 'करियर-पाथ' का हिस्सा नहीं था। जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ में रुचि न हो वह सॉफ़्टवेयर इंजीनियर तो यही सोचेगा कि फ़्लॉ कंपनी जब इतना पैसा दे रही है तो संयुक्त राष्ट्र संघ में क्यों जाएँ? लेकिन मैंने अपने 'करियर-पाथ' को अपनी मर्जी से बनाना और अपनी रुचि के अनुरूप रखना तय किया। जो पसंद होगा वही विषय पढ़ा जाएगा, जो पसंद होगा केवल वही काम किया जाएगा। मैं लिफ़ाफ़ाबंद और पहले से परिभाषित साँचों में ढली ज़िन्दगी जीने के लिए नहीं बना हूँ।

लीक पर वे चलें, जिनके चरण दुर्बल और हारे हैं  
हमें तो जो हमारी यात्रा से बनें, ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं  
—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

शब्दों का महत्त्व और भाषा पर नियंत्रण, इन बातों को मैंने संयुक्त राष्ट्र संघ में ही समझा। वहाँ जिस तरह हर शब्द को पूरी तरह सोच-समझकर प्रयोग किया जाता था, वह एक अवश्य सीखने लायक कला है।

संयुक्त राष्ट्र में काम करते हुए मेरे मन के क्षितिज को विस्तार मिला। अब मैं केवल भारत के विषय में नहीं बल्कि पूरे विश्व को केंद्र में रखकर सोच पाता था। वहाँ हम अंतरराष्ट्रीय परियोजनाओं पर काम करते थे, सो मेरे लिए दुनिया का हर देश वैसे ही हो गया जैसे भारत में विभिन्न राज्य हैं। संयुक्त राष्ट्र में काम करते हुए मैंने सीखा कि दुनिया हमारी छोटी-सी सोच के परे भी कितनी विस्तृत है। हज़ारों भाषाएँ हैं, सभ्यताएँ हैं, संस्कृतियाँ हैं, आचरण के तरीक़े हैं, स्वार्थ हैं, अर्थव्यवस्थाएँ हैं, योजनाएँ हैं, प्रयास हैं, संसाधन हैं, कमियाँ हैं, चिंताएँ हैं...। संयुक्त राष्ट्र में मैंने करीब बीस देशों के लोगों के साथ काम किया और जाना कि वे सब एक-दूसरे से कितने अलग-अलग हैं, और यह भी जाना कि इसके बावजूद फिर भी कुछ है जो हम सबको एक साथ जोड़ता है।

यूनाइटेड नेशंस वॉलंटियर्स प्रोग्राम के साथ मैंने चार वर्ष तक स्वयंसेवक के रूप में कार्य किया। इसके बाद मैं संयुक्त राष्ट्र से स्थायी स्टाफ़ के रूप में जुड़ गया। अब मेरे पास संयुक्त राष्ट्र संघ में एक स्थायी नौकरी थी, प्रतिष्ठा थी, अच्छी सेलरी, पेंशन इत्यादि तमाम सुविधाएँ थीं... सब कुछ अच्छा था।

...लेकिन मुझे और आगे जाना था, दुनिया को और देखना-समझना था!

## पहली विदेश यात्रा

मुझे हमेशा लगा कि प्राइमरी स्कूल में यदि मास्टरजी कोशिश करते तो मैं भी अपनी कक्षा के साथ चिड़ियाघर देखने जा सकता था। यह ज़रूर है कि चलना और घूमना-फिरना मेरे लिए कठिन कार्य है, लेकिन इसका आशय यह नहीं होना चाहिए था कि समाज मेरी राह की रुकावटों को हटाने की कोशिश ही न करे। किसी बच्चे को सारी कक्षा से यूँ अलग-थलग कर दिया जाना उचित नहीं था। इसके लिए मैं मास्टरजी को दोष नहीं देता, दोष हमारे पूरे समाज का है जो विकलांगजनों के साथ सौतेला व्यवहार करता है।

खैर, जैसा कि मैंने आपको बताया था कि प्राइमरी स्कूल में मैंने उसी समय संकल्प लिया था कि मैं उतनी दुनिया देखूँगा जितनी उस कक्षा के मेरे किसी अध्यापक या सहपाठी ने नहीं देखी होगी। मैं उस समय आहत था... सो, संकल्प लेना आसान बात थी— लेकिन यह एक बेहद दुष्कर कार्य था कि स्वयं को उस स्तर तक पहुँचाऊँ कि मैं भारत के बाहर जा सकूँ।

सन् 2005 में मुझे संयुक्त राष्ट्र के एक आधिकारिक मिशन पर चीन जाने के लिए कहा



गया। यह सुनते ही मेरे मन में चिंता के बादल घिर आए। मैं दिल्ली से बाहर कभी अकेला नहीं गया था और कभी एक दिन के लिए भी मैं अकेला घर से दूर नहीं रहा। एयरपोर्ट कैसा होता है, हवाई जहाज कैसा होता है, चीन में कौन-कौन-सी समस्याएँ आ सकती हैं, क्या मुझे ऐसी किसी जगह भी जाना पड़ सकता है जहाँ बहुत-सी सीढ़ियाँ हों, क्या मुझे बहुत चलना पड़ सकता है...? इस तरह के सैकड़ों प्रश्न ज़ेहन में घूमने लगे।

कह नहीं सकता कि आप इस डर को समझ पाएँगे या नहीं, लेकिन यह सब मेरे लिए बहुत डरावना था। यह कुछ-कुछ ऐसा था जैसे कि आपको एक बहुत कमज़ोर नाव पर एक बड़ा सागर पार करना हो। मेरे लिए वह नाव मेरे शक्तिहीन पैर थे और दिल्ली से बाहर की दुनिया, वही विशाल सागर थी।

मैं अंदर से चिंतित अवश्य था, लेकिन आगे बढ़ना मेरी ज़िद थी। मैंने चीन-यात्रा के लिए स्वयं को तैयार करना आरंभ कर दिया। मैं सूटकेस नहीं खींच सकता था इसलिए काफ़ी सोच-विचार कर मैंने अपने लिए एक बड़ा-सा बैग ख़रीदा जिसे मैं अपनी पीठ पर ढो सकूँ। इसी बैग के भीतर मुझे अपना सामान ले जाना था।

इस बैग के प्रयोग में मुझे क्या-क्या समस्याएँ आ सकती हैं, यह जानने के लिए मैंने ट्रेन से कलकत्ता जाने की योजना बनाई। साथ ही यह भी तय किया कि कलकत्ता से वापसी की यात्रा हवाई जहाज से करूँगा ताकि एयरपोर्ट और हवाई जहाज के बारे में भी मुझे जानकारी मिल जाए। कलकत्ता में मुझे कोई काम नहीं था। यह यात्रा मैंने केवल राह में आने वाली समस्याओं को समझने के लिए की थी। यह पहली बार था कि मैं दिल्ली से बाहर अकेला जा रहा था।

कलकत्ता में मेरी मित्र सुपात्रा रहती हैं। सुपात्रा ने मेरे लिए एक होटल में ठहरने की व्यवस्था कर दी। मैं दिल्ली-हावड़ा राजधानी ट्रेन में बैठकर कलकत्ता पहुँचा। सुपात्रा मुझे लेने रेलवे स्टेशन पर आई थीं। मैंने ट्रेन और स्टेशन की एक-एक चीज़ को बारीकी से देखा व नोट किया। किस स्थिति से कैसे निपटना है, यह सब सोचा। मसलन, ट्रेन में टॉयलेट का प्रयोग करने के लिए अपनी बर्थ से उठने पर मुझे किस तरह हिलती हुई ट्रेन में ख़ुद को संतुलित करना है, ट्रेन के ऊँचे दरवाज़े में कैसे चढ़ना और उतरना है, स्टेशन की सीढ़ियों पर चढ़ते समय मुझे दाईं तरफ़ चलना चाहिए और उतरते समय बाईं तरफ़... इत्यादि बीसियों बातें मैंने नोट की। मैंने कभी अकेले यात्रा नहीं की थी, इसलिए मेरे लिए हर चीज़ एक नया अनुभव थी और हर परिस्थिति एक नई समस्या थी जिसका हल मुझे खोजना था।

मैं करीब एक हफ़्ते कलकत्ता में रहा। सुपात्रा ने मुझे जादू घर, बोटेनिकल गार्डन, हावड़ा और विद्यासागर ब्रिज, दक्षिणेशवरी काली मंदिर, पार्क स्ट्रीट इत्यादि बहुत-सी जगहें दिखाई—लेकिन इन सबसे अलग मेरे मन में कालीघाट स्थित 'निर्मल हृदय' को देखने की बड़ी इच्छा थी। जब मैं सुपात्रा के साथ वहाँ पहुँचा तो बहुत देर वहाँ बैठा रहा, वहाँ जो हो रहा था, उसे देख मन असीम शांति से भर गया। मैं जीवन का एक बिल्कुल अलग रूप देख रहा था। एक ओर लोग मृत्यु-शैया पर पड़े थे और दूसरी तरफ़ अनजान लोग उनकी सेवा में लगे थे। इंसान को किस

तरह जीना चाहिए, वहाँ मौजूद स्वयंसेवक उसकी मिसाल प्रस्तुत कर रहे थे।

कलकत्ता से दिल्ली मैं एयर इंडिया की उड़ान से आया। मुझे एयरपोर्ट के बारे में कुछ भी पता नहीं था, इसलिए मैंने सुपात्रा से आग्रह किया कि वह मेरे साथ एयरपोर्ट चले। मेरे सामान से भरे बैग को उठाने के लिए सुपात्रा ने पेशकश की, लेकिन मैं बैग को स्वयं उठाना चाहता था, ताकि मुझे अपनी सीमाओं और उस बैग से संबंधित समस्याओं का ज्ञान हो सके। बड़ी मुश्किल से अपना बैग ढोते हुए मैं कलकत्ता एयरपोर्ट पहुँचा। सुपात्रा ने मुझे वहाँ पहुँचा दिया जहाँ से व्हीलचेयर मिलती है। उससे आगे सुपात्रा नहीं जा सकती थीं, सो वह वहीं से लौट गईं। मैंने उस काउंटर पर कहा कि मैं चल सकता हूँ, मुझे व्हीलचेयर नहीं चाहिए। बस मुझे बैग उठाने में मदद चाहिए। एयरपोर्ट स्टाफ़ ने कई बार कहा कि आप व्हीलचेयर ले लीजिए, लेकिन मैंने मना कर दिया। अंत में एक सहायक को मेरे साथ भेजा गया। उसने मेरा बैग एक ट्रॉली पर रखा और चेक-इन व सुरक्षा-जाँच करवाते हुए मुझे हवाई जहाज तक छोड़ आया। जहाज के भीतर एयर होस्टेस ने मुझे मेरी सीट तक पहुँचाया और मेरा सामान रखने में मदद की। उड़ान करीब दो घंटे की थी। दिल्ली एयरपोर्ट पर भी विमान से निकलते ही एक एयरपोर्ट सहायक मेरा इंतज़ार करते मिला। उसने मेरे बैग को उठाया और मुझे बाहर टैक्सी तक छोड़ दिया।

उस समय तक मुझे केवल बस ड्राइवरों के खराब व्यवहार का ही अनुभव था। एयरपोर्ट पर मिली मदद देखकर मैं हैरान था। मुझे तो लग रहा था कि अपना बैग पूरे एयरपोर्ट में खुद ही ढोना पड़ेगा। अक्सर हवाई यात्रा करने वाले एक मित्र ने मुझे बताया था कि एयरपोर्ट और एयरलाइन ज़रूरतमंद लोगों को मदद देने के लिए क़ानूनन बाध्य हैं।

कलकत्ता यात्रा से मुझे जो अनुभव हुए और जो जानकारीयों मिलीं उससे मेरा आत्मविश्वास मज़बूत हुआ। चीन-यात्रा से पहले कलकत्ता जाना एक बहुत सही निर्णय साबित हुआ।

आखिरकार 2005 में दीवाली की रात मैंने दिल्ली एयरपोर्ट से शंघाई के लिए उड़ान भरी। दीवाली की रात दुल्हन की तरह सजी दिल्ली आकाश से और भी अधिक सुंदर लग रही थी।

शंघाई पहुँचकर ऐसा नहीं लगा कि यह भारत से कोई बहुत अलग है। लेकिन सफ़ाई, व्यवस्था, यातायात और नागरिकों का व्यवहार दिल्ली से कहीं बेहतर था। इमारतें बहुत ऊँची थीं, अँग्रेज़ी अक्षर तो न के बराबर दिखाई देते थे, शाकाहारी भोजन कम मिलता था... लेकिन फिर भी ऐसा नहीं लगा कि यह विदेशी धरती है... पता नहीं क्यों!

शंघाई में आधिकारिक कार्य पूरे करके मेरे साथ आए लोग वापस भारत लौट गए, लेकिन मैंने कुछ और ही सोचा हुआ था।

मैंने सोचा कि चीन जाओ और चीन की महान दीवार न देखो, तो चीन-यात्रा में कुछ कमी रह जाएगी। इसके लिए मैंने बहुत हिम्मत करके शंघाई से चीन की राजधानी बीजिंग अकेले जाने का निर्णय कर लिया। विदेशी धरती पर जहाँ की भाषा बिल्कुल नहीं आती हो, जहाँ अँग्रेज़ी का प्रयोग न के बराबर होता हो, जहाँ की व्यवस्थाएँ, नियम, क़ायदे अलग हों... ऐसे में पहली बार

विदेश पहुँचे एक व्यक्ति के लिए बैसाखियों के सहारे चलते हुए ऐसा निर्णय लेना वाक़ई एक मुश्किल काम था।

शंघाई में मेरी दो मित्र थीं—हैटी और कैथी। उन दोनों की मदद से मैंने शंघाई से बीजिंग तक ट्रेन की एक टिकट बुक की और बीजिंग में अपने लिए एक होटल बुक कर लिया। कैथी से मैंने होटल का पता और कुछ ज़रूरी वाक्य एक कागज़ पर चीनी भाषा में लिखवा लिए, और मैं एक शानदार ट्रेन में पूरी रात सफ़र करते हुए बीजिंग पहुँच गया।

सुबह सवेरे ट्रेन बीजिंग पहुँच गई। वहाँ रेलवे स्टेशन पर उतरते ही मेरे होश उड़ गए। स्टेशन से बाहर निकलने के लिए मुझे अपना बैग उठाए एक बहुत लंबा रास्ता तय करना था। उस रास्ते को तय करते-करते मेरे शरीर की एक-एक माँसपेशी ने मुझ पर 'क्रूर' होने का ठप्पा लगा दिया था। मैं अपने शरीर को आगे बढ़ाने के लिए वाक़ई अपनी शारीरिक सीमाओं से आगे बढ़ जाता था। जैसा कि दिल्ली में होता है, स्टेशन से बाहर निकलते ही मुझे टैक्सी वालों ने घेर लिया। चीनी भाषा में उनकी बातें मैं नहीं समझ पा रहा था और वे अँग्रेज़ी से नावाक़िफ़ थे। कैथी के दिए कागज़ के ज़रिए मैंने एक टैक्सी वाले को समझाया कि मुझे किस होटल में जाना है। होटल पहुँचते ही मैं बिस्तर पर पड़ गया। कराहती माँसपेशियों ने बहुत देर तक सोने नहीं दिया, लेकिन मुझे सुकून था कि चाहे जितनी भी मुश्किलों से जूझते हुए मैं आखिर बीजिंग पहुँच गया था, और वो भी अकेला!

दो घंटे आराम के बाद मैं होटल से निकलकर फ़ॉरबिडन सिटी और समर पैलेस देखने गया। ये सब जगहें बहुत लंबी-चौड़ी हैं... फिर भी इन्हें मैंने धीरे-धीरे चलकर देख ही लिया... ख़ूब थक गया था, लेकिन दुनिया को देखने की मेरी लालसा ने मेरे पैरों में थोड़ी-बहुत शक्ति बनाए रखी और मैंने बीजिंग में होने का पूरा लाभ उठाया। शाम को मैं तिआनमेन स्क्वेयर गया। असंख्य बल्बों की रोशनी में नहाए इस स्क्वेयर की एक बेंच पर मैं जाने कितनी देर बैठा वहाँ-से गुज़रते लोगों को देखता रहा। उसके बाद एक चीनी मित्र के साथ बीजिंग के एक भारतीय रेस्त्राँ में जाकर साग-पराठा खाया तो आत्मा तृप्त हुई। कई दिन से आलू, जूस और सलाद खाकर काम चला रहा था, क्योंकि चीन में शाकाहारी भोजन कम ही मिलता है।

अगले दिन मैंने एक टैक्सी किराए पर ली और सुबह करीब आठ बजे मैं म्यूतियानयू नामक जगह के लिए निकल पड़ा। यह जगह बीजिंग से करीब सौ किलोमीटर दूर है और यहाँ चीन की महान दीवार का एक लंबा अखंडित हिस्सा मौजूद है। मेरे टैक्सी ड्राइवर की अँग्रेज़ी 'येस', 'नो' और 'ओके' तक सीमित थी... और मुझे तो चीनी भाषा में ये तीन शब्द भी ठीक से बोलने नहीं आते थे! इसके बावजूद हम सफ़र के दौरान लगातार बतियाते रहे। इशारों की मदद से एक दूसरे को अपनी बात समझाने की कोशिश सफल रही... लगा कि धर्म, भाषा, सीमाओं के बँटवारे बिल्कुल बेमानी हैं, इंसान इंसान के मन की बात समझ ही लेता है। करीब दो घंटे के सफ़र के बाद हम म्यूतियानयू पहुँच गए।

...और कुछ ही देर में मैं हज़ारों किलोमीटर लंबी उस महान दीवार के ऊपर चल रहा था!

विश्व के सात महान आश्चर्यों में शामिल यह दीवार चीन को बाहरी आक्रमणों से बचाने के लिए बनाई गई थी। पहाड़ियों, जंगलों और घाटियों के बीच से यह दीवार साँप की तरह बल खाती हुई गुज़रती है। मैंने दीवार पर करीब एक घंटे का समय बिताया। जितना चल सकता था, उतना चल-फिर कर दीवार को देखा। बहुत सुंदर दृश्य था। मैं उस समय की कल्पना कर रहा था, जब सदियों पहले मज़दूर इस दीवार को बना रहे होंगे।

पोलियो ने जिस बच्चे के खड़े होने की क्षमता पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया था, उसका बड़े होकर चीन की महान दीवार पर चलना, एक सपने के सच होने जैसा था।

## आगे पढ़ने की इच्छा

चीन से लौटकर मैंने ऑफिस में अपना नियमित कार्य आरंभ कर दिया। कलकत्ता और चीन की यात्राओं से मेरे आत्म-विश्वास को नए आयाम मिले थे। रुकने का मेरा कोई इरादा नहीं था... सो, मैंने अपने क्षितिज को और अधिक विस्तार देने की योजना बनाई।

संयुक्त राष्ट्र में काम करते-करते मैं आई.टी. में पोस्ट-ग्रेजुएट डिग्री भी हासिल कर चुका था। GNIIT को भी मैंने गोल्ड मेडल के साथ पूरा कर लिया था और साथ ही DOEACC का 'ए' लेवल सर्टिफिकेट भी मेरे बायोडेटा में जुड़ चुका था। इस प्रकार मेरे पास जीव-विज्ञान और आई.टी. विषयों में अच्छी-खासी शैक्षणिक योग्यताएँ थीं। मैंने एक और पोस्ट-ग्रेजुएट डिग्री के लिए पढ़ाई आरंभ करने का मन बनाया। मैं जीव-विज्ञान और आई.टी. की अपनी दोनों योग्यताओं को मिलाते हुए बायोइन्फॉर्मेटिक्स में मास्टर्स डिग्री करना चाहता था।

...लेकिन इस बार मैं भारत में नहीं बल्कि विदेश में पढ़ना चाहता था!

मेरे लिए यह तारे तोड़ लेने जैसा ख्याल था। कुछ दिन के लिए अकेले विदेश जाना और घूमना-फिरना अपने आप में मुश्किल काम था, लेकिन विदेश में जाकर घर बसाना और पढ़ाई करना तो... क्या कहूँ... मेरे लिए यह ऐसा था कि जिसकी कल्पना करना भी मुश्किल हो। इसके अलावा विदेश में पढ़ाई करने के लिए करीब बीस से पच्चीस लाख रुपए चाहिए थे। अब चूँकि इतने पैसे मेरे पास नहीं थे, इसलिए स्कॉलरशिप हासिल करना ही एकमात्र रास्ता था।

पढ़ाई हेतु विदेश जाने के लिए एक और बड़ा निर्णय लेना था। विदेश जाने का अर्थ यह भी था कि मुझे संयुक्त राष्ट्र संघ की अपनी स्थायी नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ेगा। विदेश में क्या होगा, क्या नहीं... मैं ठीक से रह पाऊँगा या नहीं... पढ़ाई हो पाएगी या नहीं... बाद में काम मिल पाएगा या नहीं... ये बड़े-बड़े डरावने प्रश्न मेरे आगे मुँह बाए खड़े थे।

अक्सर लोग सुरक्षा ढूँढ़ते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थायी नौकरी एक बड़ी बात थी। ऐसी स्थिरता प्रदान करने वाली नौकरी से खुद ही त्यागपत्र देकर स्वयं को फिर से एक अनजाने सफ़र

पर धकेल देना अधिकांश लोगों को पागलपन लगेगा, लेकिन यह भी सच है कि किनारे पर आराम से बैठने से मोती नहीं मिलते। मोती चाहिए तो आपको अस्थिर और गहरे पानी में उतरना ही पड़ता है।

## जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ मैं बावरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ —कबीर

जो मोती को ढूँढ़ने की कोशिश करता है, उसी को मोती मिलता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में काम करना मेरी दशकों की बेइंतहा मेहनत का फल था, यहाँ मैं अपने जीवन पर स्थिरता का विराम लगा सकता था... लेकिन मुझे उससे भी आगे जाना था।

मैंने विदेशी विश्वविद्यालयों में दाखिले के लिए आवेदन करने शुरू कर दिए। साथ ही स्कॉलरशिप के लिए भी आवेदन किए। इस काम में बहुत समय और श्रम लगता था। हर विश्वविद्यालय और स्कॉलरशिप के लिए अलग-अलग बहुत कुछ लिखकर भेजना होता था। ऑफिस से आने के बाद मैं रोज़ काफ़ी समय रिसर्च और आवेदन के काम में लगाता।

नतीजा यह निकला कि मुझे दो ब्रिटिश और दो स्वीडिश विश्वविद्यालयों में एम.एससी. बायोइन्फॉर्मेटिक्स के लिए दाखिले के ऑफ़र मिल गए, लेकिन अभी जंग आधी ही जीती गई थी। दाखिला तो मिल गया पर स्कॉलरशिप के बिना मैं कहीं नहीं जा सकता था।

...लेकिन मेहनत बेकार नहीं जाती!

उस दिन शाम को करीब चार बजे मैं ऑफिस में किसी काम में व्यस्त था। ई-मेल चेक करने के लिए इनबॉक्स खोला तो देखा कि ब्रिटिश काउंसिल की ओर से एक ई-मेल आया हुआ था। मैंने ई-मेल खोला... पहली पंक्ति कुछ यूँ थी :

“Dear Lalit, I am pleased to let you know that the Selection Board has recommended you for a full-cost award to pursue the MSc in Bioinformatics.”

यह पंक्ति पढ़ते ही लगा कि जैसे मेरे चारों ओर सब कुछ थम-सा गया हो। मैं आपको बता नहीं सकता कि स्कॉलरशिप मिलना मेरे लिए कितना अधिक ज़रूरी था और मैंने किस तरह इस स्कॉलरशिप के लिए दिन-रात प्रार्थना की थी। मैंने आगे ई-मेल को पढ़ा ही नहीं और मैं तुरंत ऑफिस में अपने कमरे से बाहर निकल आया। उसके बाद मैं खुशी के मारे बैठ ही नहीं पाया, ऑफिस में यहाँ से वहाँ जाकर सबको बताया कि मुझे स्कॉलरशिप मिल गई है! यह पूर्ण-स्कॉलरशिप मुझे स्कॉटलैंड सरकार की ओर से हेरियट-वाट यूनिवर्सिटी में पढ़ने के लिए मिली थी।

इस स्कॉलरशिप का मिलना मेरे जीवन के उन पलों में शामिल है, जहाँ से मेरा जीवन एक बिल्कुल नई दिशा में मुड़ गया।

## कविता कोश

आरंभ से ही मेरे अधिक दोस्त नहीं थे। मेरा बाहर आना-जाना भी न के बराबर ही था। ऐसी स्थिति में बहुत बार मन में एक घुटन-सी अनुभव होती थी। जो मन में है वह किसी से कह देने, किसी से बाँट लेने की इच्छा होती थी... और मेरे मन में क्या था? बहुत-सी पीड़ा थी... सबसे दोस्ती करने की इच्छा थी... पूरी दुनिया देखने की ललक और अपने जीवन को अर्थपूर्ण बनाने का एक सपना था।

इन सब बातों, विशेषकर पीड़ा को, मैं किसी से कह नहीं पाता था। बहुत समय तक मन की बातों को मन में रख चुका था, लेकिन अब मुझे अभिव्यक्ति के एक माध्यम की सख्त ज़रूरत महसूस होने लगी। मैंने कई माध्यमों के बारे में सोचा—पेंटिंग, संगीत, फ़ोटोग्राफी, साहित्य इत्यादि अभिव्यक्ति के बहुत से माध्यम होते हैं। अंत में मुझे लगा कि शायद 'शब्द' मेरे लिए अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम बन सकता है... और मैंने कविता लिखना शुरू कर दिया। डायरी तो मैं बहुत वर्षों से लिखता आ रहा था, लेकिन कविता में मन के और अधिक गहरे भावों को व्यक्त करने क्षमता होती है।

इस तरह काव्य में मेरी रुचि का आगाज़ हुआ। मैंने कविताएँ पढ़ने के लिए इंटरनेट का प्रयोग भी आरंभ कर दिया। इसी दौरान मैंने पाया कि इंटरनेट पर कविताओं का कोई एक बड़ा संग्रह उपलब्ध नहीं था। कुछ अच्छे लेकिन अपेक्षाकृत छोटे-छोटे प्रयास चल रहे थे, लेकिन इंटरनेट पर भारतीय काव्य के एक विश्वकोश की कमी थी।

मुझे लगा कि मैं इस विश्वकोश को बनाने की शुरुआत कर सकता हूँ। यहीं से 'कविता कोश' नामक परियोजना की शुरुआत हुई। साहित्य में मेरी रुचि भी थी और इंटरनेट का तकनीकी ज्ञान भी मेरे पास था। सो, मैंने 2006 की शुरुआत में 'कविता कोश' नामक विश्वकोश पर काम आरंभ किया और इसे 5 जुलाई 2006 को एक सार्वजनिक परियोजना के रूप में लॉन्च किया। आज यह विख्यात विश्वकोश [www.kavitakosh.org](http://www.kavitakosh.org) पते पर उपलब्ध है।

संयुक्त राष्ट्र में काम करते हुए मैंने स्वयंसेवा को अपने जीवन का हिस्सा बना लिया था। यदि हम स्वयं के लिए ही जीते रहेंगे तो ऐसे काम कौन करेगा जिनसे व्यक्ति का नहीं बल्कि समाज का हित होता हो? मैंने कई वर्ष संयुक्त राष्ट्र के लिए स्वयंसेवा की और फिर 'कविता कोश' परियोजना को भी समाज को समर्पित कर दिया। 'कविता कोश' को आगे बढ़ाने के लिए मैंने लोगों से अपील की कि वे स्वयंसेवी के रूप में मेरा साथ दें। सौभाग्य से कई लोग इस

परियोजना से जुड़े और उन्होंने अपने समय व श्रम का योगदान देकर आज 'कविता कोश' को एक ऐसा रत्न बन दिया है जिसे राष्ट्रीय निधि माना जा सकता है।

आज 'कविता कोश' को बहुत-से स्वयंसेवी योगदानकर्ताओं की एक अंतरराष्ट्रीय टीम परिवर्धित करती है। मैं पिछले बारह वर्षों से इस टीम का नेतृत्व संस्थापक-निदेशक के रूप में कर रहा हूँ। इस समय 'कविता कोश' में प्रति माह पाँच लाख से अधिक लोग करीब तीस लाख काव्य-रचनाएँ पढ़ते हैं। यह भारतीय काव्य की सबसे बड़ी ऑनलाइन लाइब्रेरी है जिसमें हम हिंदी, उर्दू, राजस्थानी, अंगिका, मैथिली, भोजपुरी, ब्रज भाषा, सिंधी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, संस्कृत, नेपाली आदि बहुत-सी भारतीय व विदेशी भाषाओं की काव्य-रचनाएँ संकलित करते हैं। वर्तमान में इस कोश में सवा लाख से अधिक पन्ने हैं।

'कविता कोश' परियोजना ने मेरे जीवन को बहुत प्रभावित किया। इस परियोजना को उन्नत करने में मेरा इतना समय और श्रम लगा कि व्यक्तिगत जीवन के कई काम रह गए। यदि 'कविता कोश' की जगह मैं अपने करियर पर फ़ोकस करता तो अपने करियर में बहुत आगे बढ़ चुका होता। यह परियोजना केवल इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसमें भारतीय साहित्य का एक विशाल खज़ाना संकलित है, बल्कि यह परियोजना इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह स्वयंसेवा के ज़रिए आगे बढ़ने वाली परियोजना है। इस परियोजना को यहाँ तक लाने के लिए बहुत-से स्वयंसेवकों ने ख़ूब मेहनत की है। हर व्यक्ति जिसने 'कविता कोश' के लिए कुछ भी किया है, आज वह इसमें अपने श्रम की सफलता को गर्व के साथ देखता है। मुझे भी असीम संतोष है कि मैं इस महान परियोजना को आरंभ करने और इसे निर्देशित करने का निमित्त बना।

बाद में मैंने साहित्य-प्रेमियों की माँग पर गद्य साहित्य के लिए 'गद्य कोश' की भी स्थापना की। आज 'कविता कोश' और 'गद्य कोश' दोनों ही परियोजनाएँ पूरे समाज के सहयोग से भारतीय साहित्य को संरक्षित करने का कार्य कर रही हैं।

## सफ़र एडिनबर्ग का

मुझे कुछ-कुछ याद है कि 'एडिनबर्ग' शब्द पहले-पहल मैंने स्कूल के दौरान 'पंजाब केसरी' अखबार में खेल से संबंधित किसी ख़बर में पढ़ा था। उस समय मुझे यह नहीं पता था कि एडिनबर्ग कहाँ है और उस समय यह सोचना तो असंभव था कि मैं एडिनबर्ग में जीवन के कई वर्ष बिताऊँगा। हेरियट- वॉट यूनिवर्सिटी स्कॉटलैंड की राजधानी एडिनबर्ग में है और मुझे वहीं बायोइन्फ़ॉर्मेटिक्स में पोस्ट-ग्रेजुएशन की पढ़ाई करनी थी।

मुझे एडिनबर्ग में कम-से-कम एक वर्ष रहना था, लेकिन मैं वहाँ जाने के बारे में उतना चिंतित नहीं था जितना कलकत्ता या चीन-यात्रा के समय था। इन पिछली यात्राओं से जो आत्म-

विश्वास मुझे मिला था, वह मेरे मन को सहारा और शक्ति दे रहा था। पर ऐसा नहीं है कि चिंताएँ बिल्कुल नहीं थीं! कलकत्ता और चीन में मुझे होटल में ठहरना था—सो, ‘घर सँभालने’ के बारे में मुझे चिंता करने की ज़रूरत नहीं थी। एडिनबर्ग में मुझे लंबे समय तक रहना था और अपना घर खुद ही सँभालना था। इसलिए मेरी चिंताएँ कुछ ऐसी थीं—‘घर की सफ़ाई कैसे करूँगा’, ‘नल से शेलफ़ तक पानी की बाल्टी कैसे उठाकर रखूँगा’, ‘बाज़ार से आटा-दाल-चावल कैसे लाऊँगा...’ इत्यादि।

सितंबर 2006 में मैंने संयुक्त राष्ट्र संघ की अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और पढ़ाई के लिए स्कॉटलैंड की राजधानी एडिनबर्ग जाने की तैयारी करने लगा। वीज़ा, हवाई जहाज की टिकट, एडिनबर्ग में रहने का प्रबंध इत्यादि सब आराम से हो गया क्योंकि मुझे स्कॉटलैंड सरकार की ओर से स्कॉलरशिप हासिल थी। मेरे ब्रिटेन आने-जाने, एक वर्ष एडिनबर्ग में रहने-खाने, यूनिवर्सिटी की फ़ीस के अलावा पढ़ाई के लिए ज़रूरी तमाम खर्चों को कवर करने के लिए स्कॉटलैंड की सरकार ने यह अवार्ड दिया था। उस वर्ष इस स्कॉलरशिप के लिए भारत से केवल ब्द व्यक्तियों को चुना गया था। एडिनबर्ग पहुँचकर मेरी मुलाक़ात बाक़ी पाँच व्यक्तियों से हुई— ये थे : सुजय कुमार, अनुराग चतरथ, ऐश्वर्या टिपनिस, रुचि रेलन और नरेंद्र कुमार अर्जुनन। ये पाँचों मेरे बहुत अच्छे मित्र बने और इनके साथ बिताया समय मेरे लिए बेशक़ीमती यादगार है।

एडिनबर्ग में सर्दियों के दौरान तापमान शून्य से कई डिग्री नीचे चला जाता है और हल्की बर्फ़ भी गिरती है। मैंने जीवन में कभी बर्फ़ गिरते नहीं देखी थी। इसलिए मैं बर्फ़ देखने और शून्य से कम तापमान को महसूस करने के लिए उत्सुक था। मैंने एक बड़ा-सा सूटकेस लिया और एडिनबर्ग के मौसम अनुसार कुछ कपड़े उसमें रखे। शुरू के दो-चार दिन काम चलाने के लिए चाय की पत्ती, चीनी, उपमा मिक्स, अचार, मैगी जैसी खाने की चीज़ों के कुछ पैकेट रखे। अपनी सारी डिग्रियाँ, मार्कशीट्स और अन्य दस्तावेज़ रखे... इसके अलावा और जो भी ज़रूरी सामान ध्यान आया वह सब रखा और ब्रिटिश एयरवेज़ की फ़्लाइट से लंदन की ओर उड़ चला।

मेरे लिए यह क्षण एक बहुत लंबे संघर्ष के बाद आया था। मेरे लिए यह केवल इतनी बात नहीं थी कि वीज़ा लीजिए, टिकट ख़रीदिए और उड़कर लंदन पहुँच जाइए। मेरे लिए यह एक जीत थी। इस उड़ान के लिए मुझे हज़ारों बार गिरना पड़ा था।

लंदन पहुँचकर मुझे एडिनबर्ग के लिए फ़्लाइट लेनी थी। बचपन से मैंने किताबों में पढ़ा था कि लोग लंदन को ‘विलायत’ और चीन को ‘पहाड़ों के पार’ और ‘दूर देश’ कहकर संबोधित करते थे।

लंदन के हीप्रो एयरपोर्ट पर अपनी अगली फ़्लाइट का इंतज़ार करते समय मैं सोच रहा था कि ‘विलायत’ हो या ‘दूर देश’ ...इंसान यदि मेहनत करे और हौसला रखे तो उसके लिए कोई लक्ष्य दूर नहीं होता।



## एडिनबर्ग में पढ़ाई

मैं रात करीब दस बजे एडिनबर्ग पहुँचा और यूनिवर्सिटी पहुँचते-पहुँचते ग्यारह बज गए। यूनिवर्सिटी पहुँचते ही मुझे अनुभव होने लगा था कि ब्रिटेन में सब कुछ कितना व्यवस्थित है। यूनिवर्सिटी का रिसेपान रात को ग्यारह बजे भी खुला था और वहाँ कई लोग अंतरराष्ट्रीय छात्रों का स्वागत करने व उन्हें मदद देने के लिए मौजूद थे। रिसेप्शन पर कुछ कागज़ी कार्यवाही पूरी करने के बाद एक पाकिस्तानी और एक ब्रिटिश लड़की ने मेरा सूटकेस लिया और मुझे हॉस्टल के कमरे में पहुँचने में मदद की। लंबी यात्रा और काफ़ी चलने-फिरने के कारण उस रात मैं इतना अधिक थका हुआ था कि शरीर में दर्द के मारे मुझे नींद ही नहीं आई।

अगला दिन भी बहुत व्यस्त था। यूनिवर्सिटी में कई फ़ॉर्म भरने थे, नए छात्रों को महत्वपूर्ण जानकारियाँ देने के लिए आयोजित की गई कई मीटिंग्स में जाना था। दिल्ली विश्वविद्यालय में मेरे अनुभव के उलट वहाँ ब्रिटेन में सब कुछ बहुत सुनियोजित था। नए छात्र को ज़रा भी चिंतित होने की ज़रूरत नहीं होती, सब काम आसानी से होते चले जाते हैं।

हॉस्टल में मेरे फ़्लैट में पाँच बेडरूम के अलावा साझा किचन, ड्रॉइंग-रूम, बाथरूम व टॉयलेट था। मेरे अलावा डेयलन (मॉरीशस) और क्रिस (जर्मनी) पूरे वर्ष इस फ़्लैट में रहे। अन्य दो कमरों में नाइजीरिया, घाना व चीन के छात्र आते-जाते रहे। ये सभी साथी, विशेषकर क्रिस और डेयलन, मेरे अच्छे मित्र बने और हमने साथ-साथ अच्छा समय बिताया। ख़ाली समय मिलने पर मैं और क्रिस अक्सर शतरंज खेला करते थे। हमारी बाज़ियाँ कई-कई घंटे चलतीं। हम कॉफ़ी पीते रहते और खेलते रहते।

मेरे फ़्लैट से करीब तीन सौ क़दम की दूरी पर एक छोटा-सा स्टोर था जिसमें रोज़मर्रा की ज़रूरतों का सामान मिल जाता था। इस स्टोर को स्टूडेंट यूनियन चलाती थी। मैं दूध, ब्रेड जैसी चीज़ें इसी दुकान से लाने लगा। इन चीज़ों को मैं अपने बैकपैक में कमर पर लादकर लाता था। यह एक मुश्किल काम था और मुझे साँस लेने के लिए रास्ते में कई जगह रुकना या बैठना पड़ता था। यूनिवर्सिटी में ख़ूब गहमा-गहमी रहती थी, लेकिन एक बहुत अच्छी बात यह थी कि वहाँ कोई किसी को घूरता नहीं था। दूध-ब्रेड लाते समय मैं पसीने से तरबतर रहता, लेकिन कोई मुझे घूरकर अजीब महसूस नहीं कराता था। वहाँ सभी को सब जगह एक निजता प्राप्त थी। हालाँकि ऐसा नहीं था कि लोग दूसरों की मदद नहीं करते थे, कोई यदि मदद माँगे तो लोग फ़ौरन तैयार हो जाते थे।

मेरे फ़्लैट के ठीक सामने एक झील थी जिसमें कई हंस तैरा करते थे। चारों ओर सुंदर पेड़ लगे थे। इन पेड़ों के पत्ते पतझड़ के मौसम में नारंगी हो जाते और ऐसा लगता जैसे पेड़ों में आग लगी हो। मैं अक्सर सुबह-शाम झील के किनारे बैठकर हंसों को दाना खिलाता था। सब तरफ़ पूरी शांति, साफ़-सफ़ाई और सुहाना मौसम...दिल्ली के मुक़ाबिले देखा जाए तो मुझे ऐसा लग

रहा था जैसे मैं परियों के देश में आ गया हूँ। उन दिनों जो जीवन मैं जी रहा था, वह शानदार था! यह सब मेरी कल्पनाओं से भी परे की बातें थीं। मुझे पूर्ण स्कॉलरशिप प्राप्त थी, कोई आर्थिक चिंता नहीं...मैं ब्रिटेन में पढ़ रहा था जहाँ विश्व में शायद सबसे महँगी और सर्वश्रेष्ठ शिक्षा मिलती है। मैं ब्रिटेन के सबसे खूबसूरत शहर एडिनबर्ग में रह रहा था। मैं एक नए क्षेत्र में ज्ञान हासिल कर रहा था। विद्यार्थियों के एक ग्लोबल समुदाय के बीच दुनिया भर की नई बातें सीख रहा था, जाने-माने प्रोफेसरों से प्रश्न पूछने और तर्क करने का मौका मिल रहा था...और सबसे बड़ी बात यह कि वहाँ मुझे कोई अपने से कम नहीं मानता था।

यह सब सपना नहीं था, बल्कि एक सपनीली हकीकत थी!

एडिनबर्ग पहुँचने के दो-चार दिन बाद ही कक्षाएँ आरंभ हो गईं और मैं रोजाना टाइम-टेबल के अनुसार लेक्चर के लिए जाने लगा। मेरे कोर्स डायरेक्टर डॉ. एल्बर्ट बर्गर एक बहुत सौम्य व्यक्ति थे। संयुक्त राष्ट्र में पढ़ी आदत के मुताबिक मैं शुरू में उन्हें डॉ. बर्गर कहकर संबोधित करता था, लेकिन उन्होंने कहा, “कॉल मी एल्बर्ट”...वहाँ सभी एक-दूसरे को ऐसे ही बुलाते थे। ब्रिटेन में पढ़ाई काफ़ी सघन होती है, कम समय में अधिक कोर्स पूरा किया जाता है, इसीलिए वहाँ मास्टर्स डिग्री एक साल की होती है। मुझे पढ़ाई को लेकर कोई दिक्कत नहीं हुई। मैं बड़े आराम से पढ़ता और परीक्षाएँ पास करता चला गया। मैंने खुद पर यह अतिरिक्त दबाव बनाया हुआ था कि मुझे केवल पास नहीं होना है, बल्कि अच्छे नतीजे लाने हैं— आखिरकार मैं स्कॉलरशिप-होल्डर था! इस अवार्ड के साथ मुझे कुछ तो न्याय करना ही था।

यूनिवर्सिटी में भारत से बहुत से छात्र-छात्राएँ पढ़ने आए थे। कोई अपने परिवार से पैसे लेकर पढ़ने आया था तो कोई बैंक से लोन लेकर आया था। जब मुझे स्कॉलरशिप मिली थी तो मैंने निश्चय किया था कि मैं एक ऐसे भारतीय छात्र की आर्थिक-रूप से मदद करूँगा जो मुझे इस मदद के योग्य लगेगा। यानी मैं भी अपनी ओर से किसी को एक छोटी-सी स्कॉलरशिप दूँगा! मुझे मिली स्कॉलरशिप मेरे लिए बेहद महत्वपूर्ण थी। जब नियति ने स्कॉलरशिप को बहाना बनाकर मुझे अपने जीवन को विकसित करने का अवसर दिया तो मुझे लगा कि मुझे भी किसी और के लिए ऐसा ही एक बहाना बनना चाहिए, लेकिन वहाँ अधिकांश भारतीय छात्रों का आचरण देखकर मुझे बहुत निराशा हुई। मैंने देखा कि अधिकांश छात्र-छात्राएँ, वहाँ केवल पैसे कमाने या ब्रिटेन में बस जाने का सपना लेकर ही आए थे। अधिकांश भारतीय विद्यार्थियों में समाज, देश और विश्व के बारे में सोच सकने या बात कर सकने की न तो क्षमता थी और न ही उनकी रुचि थी। खूब सारा पैसा, वीज़ा और ब्रिटिश नागरिकता/ पासपोर्ट कैसे मिले...आपसी बातचीत में वे हमेशा ऐसे ही विषयों पर बातें करते थे। इससे भी अधिक निराशा मुझे तब होती थी, जब भारतीय विद्यार्थी भारत के बारे में बुरा बोलते थे और अपने ही देश को ब्रिटेन से हीन बताते थे। सैकड़ों छात्रों में से कोई एक भी मुझे इतना प्रभावित नहीं कर पाया कि मैं उसकी मदद करने के लिए तत्पर हो उठता। उस समय तो मैंने किसी छात्र की मदद नहीं की, लेकिन कई वर्ष बाद में

मैंने एक मित्र की मदद कर अपने इस संकल्प को पूरा किया।

## एडिनबर्ग की बसें

मैं बहुत जल्द एडिनबर्ग में सामान्य हो गया। सबसे अच्छी चीज़ मुझे वहाँ की बसें लगीं। उनमें चढ़ने के लिए कोई सीढ़ी नहीं थी... बहुत चौड़ा दरवाज़ा था और सबसे आगे की चार सीटें अपेक्षाकृत अधिक ज़रूरतमंदों के लिए थीं। इससे भी अच्छी बात यह थी कि ये सीटें किसी के लिए 'आरक्षित' नहीं थीं...उन सीटों पर 'विकलांगों के लिए' या 'महिलाओं के लिए' जैसे शब्द नहीं लिखे थे। उन पर लिखा था— 'Priority Seat'...अर्थात जिसे अधिक ज़रूरत हो यह सीट उसी को मिलनी चाहिए।

इन सीटों पर कोई भी बैठ सकता था। ऐसी किसी सीट पर बैठे हुए व्यक्ति को जैसे ही लगता कि खड़े हुए किसी यात्री को उससे अधिक आवश्यकता है तो बैठा हुआ यात्री तुरंत सीट ऑफ़र कर देता था। यह सब आपसी समझ-बूझ पर आधारित बात थी और कमाल यह था कि यह आपसी समझ एकदम परफ़ेक्ट काम करती थी। नौजवान किसी बूढ़े व्यक्ति के लिए सीट छोड़ देता था तो वह बूढ़ा व्यक्ति भी किसी ऐसी महिला के आने पर सीट छोड़ देता था जिसकी गोद में नन्हा बच्चा हो। मुझे तो एडिनबर्ग की बसों से प्यार हो गया था। आपने पढ़ा ही है कि दिल्ली में एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने में मुझे कितनी अधिक परेशानी होती थी। दिल्ली की बसें मेरे लिए तक्ररीबन जानलेवा थीं। इसके विपरीत एडिनबर्ग की बस-व्यवस्था ने मुझे पूरे शहर में घूमने के लिए स्वतंत्र कर दिया। यह जीवन में पहली बार था कि मैं कभी-कभार यूँ ही बिना किसी खास वजह के भी बस में चढ़ा और इधर-उधर गया।

एडिनबर्ग में मैं करीब तीन वर्ष रहा...इस दौरान एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि किसी ड्राइवर ने मुझे कोई बुरी बात कही हो। वे बस में मेरा स्वागत भी वैसे ही मुस्कुराते हुए करते थे जैसे अन्य यात्रियों का स्वागत किया जाता था। जब तक मैं सीट पर बैठ नहीं जाता था, तब तक ड्राइवर बस नहीं चलाता था। इस बस-व्यवस्था से मुझे तो जैसे पंख मिल गए थे। यह सब देखकर मेरे मन में आता था कि यदि समाज संवेदनशीलता और बुद्धि से काम ले तो सभी का जीवन कितना अधिक सरल हो सकता है। यदि ऐसी ही बस-व्यवस्था मुझे दिल्ली में मिली होती तो शायद मैं अपने जीवन में और अधिक निखार ला सकता था!

## एडिनबर्ग में जीवन

एडिनबर्ग में मैंने जीवन के बहुत-से नए पक्षों को देखा और जाना। वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले वहाँ के व्यवस्थित जीवन ने मेरा ध्यान खींचा। सब कुछ सुनियोजित और सुचारु रूप से होता था। लोग बहुत मिलनसार, मित्रवत और हँसमुख थे, (हालाँकि मुझे यह भी लगा कि अधिकांश मुस्कानें शिष्टाचार के नाते चेहरे पर चिपकाई जाती थीं!) ब्रिटेन में कानून है कि आप किसी भी विकलांग व्यक्ति के प्रति भेदभाव नहीं कर सकते। इस कारण वहाँ दुकानें, मॉल, रेस्त्राँ, ऑफिस इत्यादि सब कुछ इस तरह से बनाया जाता है कि सभी लोग वहाँ आ-जा सकें।

एडिनबर्ग में मैं कई देशों के नागरिकों के साथ रहा और मैंने महसूस किया कि वे सभी मेरी विकलांगता को लेकर पूरी तरह सहज थे। मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मैं उनसे अलग हूँ। जो काम मैं कर सकता था, वे काम मुझे बेरोक-टोक करने दिए जाते थे। घर का फ़र्श साफ़ करने जैसे काम करने में मुझे दिक्कत थी तो ये काम कभी मेरे ज़िम्मे नहीं किए गए। इसके बदले मैं उन कामों को अपने ऊपर ले लेता था, जो मेरे लिए सहज थे। उदाहरण के लिए टॉयलेट और बाथरूम साफ़ करने का काम मैंने अपने ज़िम्मे रखा हुआ था। खाना हम सब मिलकर बारी-बारी से बनाते थे और बर्तन भी बारी-बारी से साफ़ करते थे। ये छोटी-छोटी बातें किसी भी विकलांग व्यक्ति के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। हर व्यक्ति दूसरों के लिए उपयोगी बनना चाहता है और हर किसी में कुछ न कुछ होता है जो उसे दूसरों के लिए उपयोगी बनाता है।

भारत में मैंने महसूस किया कि विकलांग व्यक्तियों को उपयोगी होने से रोका जाता है।

एडिनबर्ग में प्रोफ़ेशनल स्तर पर लोग विकलांग व्यक्तियों के साथ अन्य लोगों जैसा ही व्यवहार करते थे। उदाहरण के लिए कहीं जाने के लिए यदि मेटल डिटेक्टर से गुज़रना हो या जाँच करवानी हो तो वहाँ सुरक्षा अधिकारी मेरी जाँच भी उसी तरह करते थे जैसे अन्य लोगों की जाँच की जाती थी। भारत में अक्सर ऐसा नहीं होता।

अभी कुछ ही दिन पहले की बात है, मैं दिल्ली के आई.एस.बी.टी बस अड्डे गया था। प्रवेश-द्वार पर बनी रैंप देखकर मन खुश हुआ, लेकिन इसके बाद सुरक्षा जाँच वाले कमरे में जाने के लिए दो-तीन सीढ़ियाँ हैं। कमरे के बराबर से एक रास्ता बनाया गया जहाँ से शायद व्हीलचेयर प्रयोग करने वाले लोग जा सकते हैं। लेकिन इस रास्ते को कई पुरानी कुर्सियाँ और पत्थर लगाकर बंद रखा गया था। सोचिए कि यदि कोई व्हीलचेयर प्रयोग करने वाला व्यक्ति वहाँ जाएगा तो उसके लिए रास्ता खोलने के लिए कितनी मुश्किल आएगी। जब तक इन कुर्सियों और पत्थरों को हटाने के लिए कोई आएगा, तब तक व्हीलचेयर पर बैठे व्यक्ति को न केवल इंतज़ार करना पड़ेगा बल्कि उसकी 'बेचारगी' का एहसास दिलाने वाले लोग भी उसे घेर लेंगे। मेरे साथ भी यही हुआ।

मैं दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़कर सुरक्षा जाँच के कमरे में गया तो वहाँ मेरा स्वागत एक महिला कॉन्स्टेबल की आवाज़ ने किया, "अरे इन बिचारे को यहाँ क्यों आने दिया, बिचारे को बाहर से ही निकाल देते। इन बिचारे की क्या जाँच करनी। बिचारे पहले ही परेशान हैं। बिचारे..."

उस महिला कॉन्स्टेबल ने जाने कितनी बार मुझे 'बिचारा' बताया। वह महिला कॉन्स्टेबल

इतनी ज़ोर से बिचारा-बिचारा किए जा रही थी कि वहाँ जो अन्य लोग मौजूद थे उन सबने भी मुझे ताकना शुरू कर दिया। भारत का प्रोफ़ेशनलिज़्म ऐसा ही है। ऐसा मेरे साथ बहुत बार होता है। किसी मॉल में जाता हूँ तो गार्ड अक्सर ऐसे पेश आते हैं, जैसे मुझे छूने से उन्हें पाप लगेगा! अक्सर वे मेरी जाँच किए बिना ही मुझे आगे निकाल देते हैं। यह सब बहुत बुरा लगता है, शर्मिंदगी होती है और दुःख होता है— लोगों की सोच-समझ पर।

भारत में जनसामान्य का व्यवहार बहुत हद तक अनौपचारिक ही रहता है, लेकिन यह अनौपचारिकता कब अशिष्टता की सीमा में प्रवेश कर जाती है, इसका पता ही नहीं चलता। जिस तरह महिलाओं के साथ व्यवहार करने के कुछ अदब होते हैं, जिस तरह राष्ट्राध्यक्षों के साथ व्यवहार करने का अलग शिष्टाचार होता है, जिस तरह बुजुर्गों के साथ व्यवहार करने के कुछ सलीके होते हैं, उसी तरह विकलांग व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने के भी अपने कुछ नियम होते हैं। आम भारतीय व्यक्ति अक्सर इन नियमों का पालन नहीं करते, इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि अधिकांश भारतीय इन नियमों को जानते ही नहीं हैं। हालाँकि ये नियम कुल-मिलाकर केवल इतना कहते हैं कि 'बेचारगी' का नहीं बल्कि बराबरी का व्यवहार करो, लेकिन इतनी आसान-सी बात भी हमारा समाज नहीं समझ पाता।

एडिनबर्ग में कोई मुझे बेचारा नहीं बताता था। वहाँ शायद एक या दो बार ही किसी ने बैसाखियों को देखकर मुझसे पूछा कि मुझे क्या हुआ है...और मज़े की बात यह है कि दोनों ही बार पूछने वालों ने सोचा कि मुझे रग्बी खेलते हुए चोट लग गई और इसी कारण मैं बैसाखियों से चल रहा हूँ। दोनों ही बार पूछने वालों ने बड़ी सधी हुई और स्पष्ट भाषा में प्रश्न किए, "ओह! लगता है आपको रग्बी खेलते हुए चोट लग गई, है ना?"...मेरे यह बताने पर कि मुझे पोलियो है, पूछने वालों ने, "ओह! आई एम सॉरी टू हीयर दैट" कहने की औपचारिकता तो निबाही, लेकिन तुरंत ही बातचीत के रुख को मोड़ दिया और फिर कभी मेरी विकलांगता का मुद्दा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हमारे बीच नहीं आया। इन प्रश्नकर्ताओं की भाषा या चेहरे के हाव-भाव में मेरे प्रति कभी दयापूर्ण-सहानुभूति नहीं दिखाई दी, सहानुभूति व्यक्त करने का उन लोगों का एक बिल्कुल ही अलग तरीका है। वे सामने वाले को यह आभास नहीं होने देते कि वह किसी भी तरह से कमतर है। वे सहानुभूति नहीं जताते बल्कि आपको बराबरी का एहसास दिलाते हैं।

पढ़ाई शुरू होने के कुछ ही दिन बाद स्टूडेंट यूनियन की ओर से सेंट एन्ड्र्यूज़ घूमने जाने का कार्यक्रम बना। जिस दिन घूमने जाना था उस दिन सुबह-सुबह मेरे फ़्लैट के बाहर एक कार आकर खड़ी हो गई और मैं उसी में बैठकर अन्य दो-तीन विद्यार्थियों के साथ सेंट एन्ड्र्यूज़ घूमने गया। मुझे लगा कि सभी लोग शायद ऐसे ही छोटे-छोटे समूह बनाकर कारों में गए हैं, लेकिन बाद में पता चला कि बाक़ी सब एक बस में गए थे और वह कार विशेषकर मेरे लिए मँगाई गई थी। पूरे सफ़र के दौरान मुझे ऐसा बिल्कुल नहीं लगा कि कार की व्यवस्था केवल मेरे लिए की गई थी। आप इस बात की तुलना उस घटना से कीजिए जिसमें मेरा स्कूल मुझे अन्य बच्चों के साथ चिड़ियाघर लेकर नहीं गया था।

एडिनबर्ग में लोग मुझे ताकते नहीं थे। मैं अन्य सभी व्यक्तियों की तरह हर जगह जाता था और लोग मुझसे बिना किसी पूर्वाग्रह के मिलते थे। वहाँ रहते हुए मुझे कभी भी स्वयं को किसी के सामने पहली बार जाने के लिए तैयार नहीं करना पड़ता था। इसके उलट भारत में नए लोगों के साथ मिलने से पहले मैं स्वतः ही उन लोगों द्वारा अजीब ढंग से देखे जाने के लिए तैयार हो जाता हूँ। भारत में अधिकांश लोग जब मुझे बैसाखियों पर पहली बार देखते हैं तो उनकी प्रतिक्रिया 'शॉक' वाली होती है और लोग इस 'शॉक' को अपने चेहरे व शब्दों में आने से रोकने की ज़हमत भी नहीं उठाते। एडिनबर्ग में लोगों को इस तरह का कोई शॉक नहीं लगता था। वे मुझे और मेरी बैसाखियों को घूरते नहीं थे। वहाँ लोग बैसाखी को मेरे शरीर का ही एक अंग मानते थे।

## शिक्षा में मौलिकता के विकास पर जोर

एडिनबर्ग में पढ़ाई के दौरान मैंने एक बहुत महत्वपूर्ण चीज़ सीखी। वहाँ शिक्षा में मौलिकता और रचनात्मकता पर बहुत जोर दिया जाता है। वहाँ मेरे प्रोफ़ेसर कहा करते थे कि कुछ नया करके दिखाओ, अंक अपने आप आ जाएँगे...जबकि भारत में मैंने देखा है कि यहाँ सब कुछ 'अंकों' के लिए ही किया जाता है। यहाँ 'फ़ेल' होने को महापाप माना जाता है और 90% जैसे ऊँचे अंक लाने वालों को महाज्ञानी मान लिया जाता है। अंकों के इर्द-गिर्द घूमने वाली हमारी शिक्षा-पद्धति मौलिकता और रचनात्मकता को महत्व नहीं देती।

मुझे याद है कि जब मैं विदेश में पढ़ाई के लिए स्कॉलरशिप हेतु आवेदन कर रहा था, तब मैंने अपने एक बहुत अच्छे मित्र डैनियल से कहा था कि मुझे स्कॉलरशिप नहीं मिलेगी क्योंकि स्कूल-कॉलेज की परीक्षाओं में मेरे अंक बहुत अधिक नहीं थे। डैनियल खुद एक जाने-माने प्रोफ़ेसर हैं।

“ललित तुम्हें स्कूल-कॉलेज की परीक्षाओं में कितने अंक मिले यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि जीवन की परीक्षाओं में तुम अव्वल रहे हो। तुम देखना कि विदेशी विश्वविद्यालय तुम्हारे संघर्ष को अहमियत देगे। एक कमज़ोर सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में पोलियो जैसी बीमारी का सामना करते हुए आज तुम खुद को इस स्थिति में ले आए हो कि स्कॉलरशिप के लिए आवेदन कर सको, तो यह अपने आपमें एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। तुम आवेदन करो, लोग न केवल तुम्हारे संघर्ष को महत्व देंगे बल्कि तुमसे प्रेरणा भी लेंगे। पश्चिमी देशों में सच्ची कोशिशों को बहुत महत्व दिया जाता है।” डैनियल ने कहा था।

...और डैनियल की बात सही निकली। स्वीडन, ब्रिटेन व कनाडा के विश्वविद्यालयों ने मुझे दाखिला दिया और कई बड़े संस्थानों ने स्कॉलरशिप भी दी।

ब्रिटेन में मेरे एक प्रोफ़ेसर ने कहा था, “हम आप लोगों के उत्तरों में मौलिकता ढूँढ़ते हैं, कुछ नयापन ढूँढ़ते हैं। रटकर किताबी उत्तर लिखना कोई मुश्किल काम नहीं होता। हम यह जानना चाहते हैं कि आपने विषय को किस हद तक समझा है और आप अपने ज्ञान का कैसा प्रयोग कर सकते हैं।”

## मौसम के दो रूप

ऐसा भी नहीं था कि एडिनबर्ग में मेरी सभी समस्याएँ समाप्त हो गई हों। एडिनबर्ग की फ़िज़ाँ बहुत ही अच्छी थी। बिल्कुल साफ़ हवा, अक्सर होने वाली बूँदा-बाँदी, कभी-कभार निकलने वाली चटक व सुहानी धूप और सर्दियों में गिरने वाली बर्फ़— मौसम के ये सब रंग मुझे बहुत पसंद थे, लेकिन यही मौसम मेरे लिए बड़ी मुश्किलें भी पैदा कर देता था।

सर्दियों में तापमान के शून्य से नीचे जाते ही वहाँ सड़कों पर पड़ा बारिश का पानी जम जाता था। इससे सड़कों पर बर्फ़ की एक पतली-सी परत जम कर उन्हें बहुत फिसलन-भरा बना देती थी। इन सड़कों पर मेरे लिए एक-एक क़दम बढ़ाना चुनौती जैसा होता था। हर क़दम बढ़ाने के लिए मुझे योजना बनानी होती थी। जिस रास्ते को मैं आमतौर पर दस मिनट में पूरा कर लेता था, उसी रास्ते पर पानी जमने के बाद मुझे आधे घंटे से अधिक का समय लगता। हर क़दम पर मैं अपनी बैसाखियाँ आगे टिकाने के लिए सही जगह का चुनाव करता था। कभी-कभी तो मैं ऐसी जगह आ जाता था, जहाँ मैं पूरी तरह से फँसा हुआ अनुभव करता। वहाँ से मैं किसी तरह नहीं निकल पाता। एक बार तो मैं ऐसी ही एक स्थिति में पंद्रह-बीस मिनट खड़ा रहा था; समझ में ही नहीं आ रहा था कि बिना गिरे आगे क़दम कैसे बढ़ाऊँ।

एडिनबर्ग में बड़ी तेज़ हवाएँ भी चलती हैं। ये हवाएँ इतनी तेज़ होती थीं कि कई बार मुझे गिरा ही देती थीं। एक दिन घर लौटते समय जब मैं प्रिंसेस स्ट्रीट पर था तो अचानक हवा की गति बहुत तेज़ हो गई और मेरे पैर उखड़ने लगे, तेज़ हवा के कारण मेरी बैसाखियाँ ज़मीन पर सही जगह नहीं टिक पा रही थीं। पास में एक लैंप पोस्ट था। मैं किसी तरह उस पोस्ट तक पहुँचा और उसे दोनों हाथों से कसकर पकड़ लिया, यूँ कहिए कि गले लगा लिया और मैं कई मिनट तक ऐसे ही लिपटा रहा जब तक हवा का ज़ोर कुछ कम नहीं हुआ।

वहाँ अन्य लोग मौसम के इन रूपों का भी आनंद लेते थे। छोटे बच्चे जमी हुई सड़कों पर खुशी से फिसलते थे। तेज़ हवाएँ भी लोगों को बुरी नहीं लगती थीं, लेकिन मेरे लिए जमी हुई सड़कें, बर्फ़ और तेज़ हवाएँ एडिनबर्ग में सबसे बड़ी मुसीबतें थीं। ज़रा-सी बर्फ़ पड़ने की स्थिति में भी मुझे घर में ही रहना पड़ता था, क्योंकि बर्फ़ से ढकी सड़क पर मैं बिल्कुल नहीं चल पाता था।

# डिग्री का पूरा होना

पूरे साल मैंने पढ़ाई में कोई कोताही नहीं बरती। मुझे अपने कोर्स के लिए क्लास रिप्रेजेंटेटिव भी बनाया गया था। इसलिए मैं यूनिवर्सिटी मैनेजमेंट के साथ मीटिंग्स में अपनी कक्षा के सभी विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व करता था।

क्रिसमस आते-आते मुझे यह अंदाज़ हो गया था कि यदि मैं और मेहनत करूँ तो मुझे डिस्टिन्क्शन मिल सकती है। ब्रिटेन में सभी कोर्स डायरेक्टर्स और प्रोफ़ेसर्स को हिदायत होती है कि केवल बहुत अच्छा होने पर ही किसी विद्यार्थी को डिस्टिन्क्शन दी जाए। इसका अर्थ यह कि डिस्टिन्क्शन पाना बहुत मुश्किल काम था। क्रिसमस तक हमारी जितनी भी असाइनमेंट्स और परीक्षाएँ हुईं उनके नतीजे मुझे डिस्टिन्क्शन का उम्मीदवार बना रहे थे। एल्बर्ट ने भी मुझे कहा कि तुम डिस्टिन्क्शन पा सकते हो। मैंने और अधिक मेहनत से अपने प्रोजेक्ट इत्यादि पूरे किए और अंतिम परीक्षाओं के बाद आए नतीजों में मुझे डिस्टिन्क्शन हासिल हो गई!

मैंने पूरे वर्ष थोड़ा-थोड़ा जोड़कर इतने पैसे जमा कर लिए थे कि मैं माँ-पापा को दीक्षांत समारोह में भारत से बुला सकूँ। मैंने उनसे आने का आग्रह किया, लेकिन किसी कारणवश वे ब्रिटेन नहीं आ पाए। जब दीक्षांत समारोह का दिन आया तो मैंने स्कॉलर्स वाला गाउन पहना और सैकड़ों विद्यार्थियों और प्रोफ़ेसर्स से भरे सभागार में कुलपति महोदय के हाथों MSc in Bioinformatics with Distinction की डिग्री प्राप्त की।

मेरे लिए वह दिन गौरव का दिन था...इससे अधिक उस दिन के बारे में कुछ कहने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

## यूरोपीय संघ के लिए काम

डिग्री पूरी होने के बाद मुझे स्कॉटलैंड में रहने और काम करने के लिए वीज़ा मिल गया। कुछ ही दिन में मैंने मेडिकल रिसर्च काउंसिल (एम.आर.सी) की ह्यूमन जेनेटिक्स यूनिट में काम करना आरंभ कर दिया। एम.आर.सी. विश्व की सबसे अच्छी मेडिकल रिसर्च संस्थाओं में से एक है। इस संस्था में बहुत से नोबेल पुरस्कार विजेताओं ने भी काम किया है। एम.आर.सी. की ह्यूमन जेनेटिक्स यूनिट एडिनबर्ग में ही स्थित है। यहाँ मैं यूरोपीय संघ के एक प्रोजेक्ट से जुड़ा जिसमें हम एक सॉफ़्टवेयर बना रहे थे जो यह दिखाता था कि चूहे के भ्रूण के विकास के विभिन्न चरणों में कौन-से जीन कब अपना प्रभाव दिखाते हैं। इस अंतरराष्ट्रीय प्रोजेक्ट में इटली, स्पेन, ब्रिटेन



आदि कई देशों की रिसर्च संस्थाएँ भाग ले रही थीं। प्रोजेक्ट में मेरा केंद्रीय रोल था और मुझे विभिन्न देशों की प्रयोगशालाओं से लगातार आने वाले डेटा को सँभालना, डेटा के विश्लेषण के लिए कंप्यूटर प्रोग्राम लिखना और उसे इंटरनेट के ज़रिए अन्य वैज्ञानिकों को उपलब्ध कराना था। इसके लिए मुझे सभी देशों की प्रयोगशालाओं के संपर्क में रहना होता था और सारे आँकड़ों का बेहतर तरीकों से विश्लेषण व प्रस्तुतिकरण करना होता था।

वहाँ लैब में मेरे सहकर्मियों को मैं आज भी याद करता हूँ। अल्बर्ट, रिचर्ड, शिनजुन, ज़ोल्ट, पीटर, निक, लीसा, वेंकट, ईया, मेहरान और बिल— सभी बहुत ही ज़हीन, इंटेलीजेंट, कर्मठ और अपने-अपने क्षेत्र के एक्सपर्ट थे। लंच टेबल और कॉफ़ी मशीन के पास होने वाली गहन चर्चाएँ बहुत रचनात्मक होती थीं। ऐसे कार्यस्थलों और सहकर्मियों की सहायता से आपके व्यक्तित्व व विचारधारा को एक बिल्कुल अलग ब्रह्मांडीय आयाम मिलता है।

## विकलांगता के क्षेत्र में काम की शुरुआत

2016 तक मैंने खुद को ब्लॉग लेखन के क्षेत्र में अच्छी तरह स्थापित कर लिया था। मेरे ब्लॉग्स के लाखों पाठक हैं... लेकिन मैं और भी कुछ करना चाहता था। जीवन में ठहर जाना मेरे लिए बना ही नहीं है! कई वर्ष से मैं चाह रहा था कि विकलांगता के क्षेत्र में कुछ काम करूँ...सो मैंने 2016 में WeCapable.com नामक वेबसाइट की स्थापना की और इस वेबसाइट के ज़रिए महत्वपूर्ण जानकारी विकलांगजन के लिए उपलब्ध कराने लगा। कुछ फ़्री सॉफ़्टवेयर भी बनाकर मैंने इस वेबसाइट के ज़रिए उपलब्ध कराए। इस वेबसाइट पर सारी जानकारी मैं अँग्रेज़ी भाषा में लिखता हूँ—और जल्द ही मैंने पाया कि मेरे बहुत से पाठकों को अँग्रेज़ी में जानकारी पढ़ने में दिक्कत आती है।

इस समस्या को हल करने के लिए मैंने 'दशमलव' नामक एक यूट्यूब चैनल की शुरुआत की। इस चैनल पर मैं WeCapable.com की सामग्री को हिंदी भाषा में प्रस्तुत करता हूँ। यह चैनल तेज़ी से लोकप्रिय हुआ और केवल छह महीने में ही पचास हजार से अधिक विकलांगजन इससे जुड़ गए। जल्द ही यह संख्या लाखों के पार होगी। अपने इन प्रोजेक्ट्स के ज़रिए मैं भारत में विकलांगजन के जीवन की वास्तविक समस्याओं से रू-ब-रू हुआ हूँ। सरकार क्या योजनाएँ बनाती है, ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ और डिसएबिलिटी एक्टिविस्ट्स क्या करते हैं—इन सबसे परे विकलांगजन के जीवन की वास्तविक समस्याएँ कुछ और ही हैं। अपने चैनल के ज़रिए मैं कोशिश करता हूँ कि न केवल विकलांगजन को उनके काम की जानकारी दूँ, बल्कि मैं कोशिश करता हूँ कि उनके आत्मविश्वास को बल दूँ, उन्हें एक व्यक्ति के रूप में विकसित होने में मदद करूँ। ये प्रोजेक्ट्स मेरे लिए बहुत ही संतोषजनक हैं—ऐसा लगता है कि मैं अपने साथ जुड़े

लाखों लोगों के जीवन को छू पा रहा हूँ और उसे बेहतर बनाने में कुछ योगदान दे पा रहा हूँ। आप भी इस चैनल से जुड़ सकते हैं: [youtube.com/dashamlav](https://youtube.com/dashamlav)

## नेशनल अवार्ड

नवंबर 2018 की एक शाम मैं कुछ मित्रों के साथ बैठा था कि तभी मोबाइल फ़ोन की घंटी बजी। फ़ोन भारत सरकार के समाज कल्याण एवं सशक्तिकरण मंत्रालय से था। मुझे बताया गया कि विकलांगजन के हित में कार्य करने के लिए मुझे रोल मॉडल का राष्ट्रीय पुरस्कार दिया जा रहा है। यह एक अद्भुत समाचार था। मेरे जीवन को रोल मॉडल का राष्ट्रीय दर्जा मिल रहा था... उस समय बहुत सारी स्मृतियाँ मन में फ़िल्म की भाँति चल रही थीं। इन सभी को आपने इस पुस्तक में पढ़ा है। महसूस हो रहा था कि सतत संघर्ष करते रहो तो जीवन कहाँ से कहाँ तक आ जाता है!

3 दिसंबर 2018 को मुझे भारत के उप-राष्ट्रपति श्री वेंकैया नायडू द्वारा नई दिल्ली के विज्ञान भवन में यह पुरस्कार दिया गया। पुरस्कार राष्ट्रपति महोदय द्वारा दिया जाना था लेकिन वे विदेश यात्रा पर थे, इसलिए उनकी जगह उप-राष्ट्रपति ने मुझे यह सम्मान दिया। सम्मान समारोह में माँ-पापा, चाचा-चाची के अलावा परिवार के अन्य सदस्य व निकट मित्र भी मौजूद थे। यह पुरस्कार असामान्य से असाधारण तक के मेरे सफ़र का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव था।

रोल मॉडल के राष्ट्रीय पुरस्कार में मुझे एक लाख रुपए की धनराशि दी गई। इस राशि के मैंने दो हिस्से किए। एक छोटे-से हिस्से को उन कुछ लोगों के बीच मान-स्वरूप बाँट दिया जिन्होंने मुझे यहाँ तक पहुँचने में मेरी सहायता की। पुरस्कार राशि का शेष बचा बड़ा वाला हिस्सा ऐसे अनजान लोगों के बीच थोड़ा-थोड़ा बाँट दिया जिनके जीवन में यह छोटी-सी धनराशि कोई महत्त्वपूर्ण बेहतरी ला सके। सम्मान समारोह के दौरान एक व्यक्ति से बात हो रही थी। उन्होंने कहा कि ऐसे पुरस्कार राशि को मत बाँटिए...हम विकलांग लोगों को तो धन की आवश्यकता सामान्य लोगों से कहीं अधिक होती है। बहुत से काम जिन्हें अन्य लोग कहीं कम पैसा खर्च करके कर सकते हैं, उन पर हमें अधिक पैसा खर्च करना पड़ता है। मैंने उन्हें कहा कि आपकी बात सही है, इसीलिए उन लोगों को कुछ सहायता देना चाहता हूँ जिनके पास कुछ भी नहीं है।

## बढ़ती थकान

चलते समय थकान होना मेरे लिए कोई नई बात नहीं थी, लेकिन एडिनबर्ग में पढ़ने और काम करने के दौरान मुझे थकान कुछ अधिक ही होने लगी थी। डिग्री पूरी होने के बाद मुझे यूनिवर्सिटी का फ़्लैट छोड़ना पड़ा। इसलिए मैंने अनुराग और कंचन के साथ मिलकर शहर में एक फ़्लैट किराए पर ले लिया। मैं रोज़ सुबह करीब सात बजे घर से निकलता और दो बस बदलकर एम.आर.सी. में अपने ऑफ़िस पहुँचता था। अनुराग और कंचन ने भी अलग-अलग जगहों पर काम करना आरंभ कर दिया था। शाम को ऑफ़िस से लौटकर हम बारी-बारी से खाना बनाते थे। एडिनबर्ग में रहने के दौरान मैं खाने के लिए दाल, छोले, राजमा, मिक्स-वेज, आलू टमाटर जैसी चीज़ें पकाता था और हम इन्हें अक्सर चावल के साथ खाते थे। रोटी बनाने में अधिक समय लगता है, सो रोटी कभी नहीं बनाई। हाँ, कभी-कभार हम बाज़ार से फ़्रोज़न रोटियाँ और पराठे ले आते थे। खाना हम तीनों इकट्ठे खाते थे और उसके बाद अक्सर कोई फ़िल्म देखते थे या किताब पढ़ते थे। अनुराग और कंचन के साथ मैं करीब डेढ़ साल रहा। यह समय भी बहुत अच्छा बीता।

...लेकिन चलते समय होने वाली मेरी थकान लगातार बढ़ रही थी। ऐसा लगने लगा था कि पैर मेरा बोझ उठाने से इंकार कर रहे हों। हालात यहाँ तक आ पहुँचे कि मैंने एम.आर.सी. के प्रोजेक्ट को बीच में छोड़कर भारत लौटने का फैसला कर लिया, लेकिन फिर सोचा कि मैं अपने ही शरीर से इस तरह नहीं हार सकता। स्वयं को बड़ी मुश्किल से मैं खींचता रहा। एडिनबर्ग में रहने के अंतिम कुछ दिनों में तो ऐसा भी हुआ कि मुझे ऑफ़िस से घर टैक्सी लेकर आना पड़ा। वहाँ टैक्सी बहुत महँगी थी। ऑफ़िस से घर का किराया करीब एक हजार रुपए लगता था, इसलिए मैं पूरी कोशिश करता था कि बस से ही सफ़र करूँ। टैक्सी तभी लेता था जब चलना असंभव हो जाए और धीरे-धीरे ऐसे अवसरों की संख्या बढ़ रही थी। ऑफ़िस से घर लौटकर मैं रोज़ाना एक कैलेंडर पर उस दिन की तारीख को काट देता था। यह मेरे लिए एक इनाम जैसा होता था कि मैंने एक और दिन हिम्मत बनाए रखी और प्रोजेक्ट को बीच में नहीं छोड़ा।

इसी दौरान मैंने पीएच.डी. के लिए भी विभिन्न विश्वविद्यालयों में आवेदन शुरू कर दिए थे। मुझे कनाडा की लवाल यूनिवर्सिटी में पीएच.डी. के लिए न केवल दाखिला मिला बल्कि कनाडा सरकार की ओर से मुझे इस पीएच.डी. के लिए पूर्ण स्कॉलरशिप भी ऑफ़र की गई।

करीब अठारह महीने मैंने एडिनबर्ग में यूरोपीय संघ के प्रोजेक्ट पर काम किया और प्रोजेक्ट में मेरे काम के सफलतापूर्वक पूरा होने के बाद मैं दिल्ली लौट आया। कुछ महीने दिल्ली में रुककर मैं कनाडा गया और वहाँ पूर्ण स्कॉलरशिप पर अपनी पीएच.डी. आरंभ की। लवाल यूनिवर्सिटी में सारी पढ़ाई और रिसर्च फ़्रेंच भाषा में होती थी, इसलिए मैंने फ़्रेंच की कक्षाएँ लेना भी शुरू कर दिया। लेकिन कई कारणों से मुझे इस पीएच.डी. को छोड़ना पड़ा। शारीरिक थकान और 'कविता कोश' का बढ़ता कार्य प्रमुख कारण थे। मैंने बहुत कोशिश की कि मैं किसी तरह थकान को भूलकर अपने शोध पर ध्यान लगा पाऊँ, लेकिन यह नहीं हो पाया।

अगले कई वर्ष तक मुझे सपनों में दिखता रहा कि मैं अपनी यूनिवर्सिटी में पढ़ रहा हूँ,

कक्षाएँ ले रहा हूँ और अपनी लैब में काम कर रहा हूँ। इस तरह पीएच.डी. बीच में छूट जाने के कारण मैं भीतर से बेहद आहत हुआ था। पीएच.डी. पूरी करना मेरा एक स्वप्न था। यह स्वप्न अभी तक केवल स्वप्न ही है और शरीर साथ छोड़ रहा है, थकान बढ़ती ही जा रही है, लेकिन फिर भी मुझे उम्मीद है कि कभी न कभी मैं एक अच्छा शोध करते हुए पीएच.डी. प्राप्त करूँगा।

## मेरा ग़म कितना कम है!

हालाँकि मेरा जीवन बहुत कठिन रहा, लेकिन मुझे इस बात का अंदाज़ भी हमेशा रहा है कि इस धरती पर असंख्य लोगों की मुश्किलें मेरी मुश्किलों से भी कहीं अधिक बड़ी हैं। मैं अक्सर सोचता हूँ कि यदि मैं एक स्त्री होता तो मेरे लिए विकलांगता का सामना करना और भी अधिक मुश्किल हो जाता। यह समाज स्त्रियों के प्रति कहीं अधिक असंवेदनशील है। ऐसे में यदि स्त्री को विकलांगता का सामना भी करना पड़े तो समझ लीजिए कि 'आग का दरिया है और डूब के जाना है' जैसी स्थिति बन जाती है। हमारा सामाजिक वातावरण विकलांग लोगों को ध्यान में रखकर डिज़ाइन नहीं किया गया है— एक विकलांग स्त्री को ध्यान में रखकर तो बिल्कुल नहीं।

जो मैं कहना चाह रहा हूँ उसे एक उदाहरण से समझिए। फ़र्ज़ कीजिए कि मैं अपने किसी परीक्षा-केंद्र में हूँ और पहले फ़्लोर तक जाने वाली सीढ़ियाँ नहीं चढ़ पा रहा। मैंने परीक्षा-केंद्र के अधिकारियों से गुज़ारिश की कि मेरी परीक्षा ग्राउंड फ़्लोर पर ही ले ली जाए। अधिकारियों ने ऐसा करने से साफ़ इंकार कर दिया और 'इंसानियत के नाते' दो चपरासियों को कहा कि इस लड़के को गोद में उठाकर पहले फ़्लोर पर पहुँचा दो। अब मेरे सामने दो ही विकल्प हैं— या तो मैं परीक्षा न दूँ या फिर जवान लड़का होते हुए भी सबके सामने किसी अनजान व्यक्ति द्वारा गोद में उठाया जाना स्वीकार करूँ।

अब इसी दृश्य में मेरी जगह किसी नौजवान लड़की को रखकर देखिए। मैं तो एक बार को गोद में उठाया जाना स्वीकार कर भी लूँ, लेकिन उस नवयौवना के बारे में सोचिए जिसके शरीर को दो अनजान लोग जहाँ-तहाँ से पकड़कर सबके सामने बोझ की तरह उठाएँगे। इस तरह उठाए जाने से उस लड़की की गरिमा और उसके मन में खुद की छवि तार-तार हो जाएगी। उस लड़की की मनःस्थिति के बारे में दो पल विचार कीजिए।

अब यह भी बता दूँ कि यह दृश्य काल्पनिक नहीं है, बल्कि एक हकीकत है जिससे मेरी एक महिला मित्र गुज़री है। अगर आपको उस लड़की की शर्म का ज़रा भी एहसास हो रहा हो तो यक़ीनन आप उन अधिकारियों से बेहतर इंसान हैं, जिन्होंने ग्राउंड फ़्लोर पर तमाम व्यवस्थाएँ होने के बावजूद उस लड़की को गोद में उठाए जाने की शर्मिंदगी सहने के लिए मजबूर किया।

यह वही समाज है जहाँ शादी-ब्याह के समय गुण बाद में देखे जाते हैं, लेकिन पहले शरीर

की सुंदरता मापी जाती है; और विकलांगता का 'दाग' तो किसी भी स्त्री को तथाकथित 'कुरूप' की श्रेणी में खड़ा कर देता है। विकलांगता पुरुषों के लिए भी शादी-ब्याह व प्रेम संबंधों में बाधक बनती है, लेकिन ऐसे मामलों में स्त्रियों के लिए तो विकलांगता अभिशाप सिद्ध होती है। यहाँ मैं अपवादों की बात नहीं कर रहा हूँ, अपवाद तो बहरहाल हर जगह मिलते हैं।

मैं इस तरह के और कितने ही उदाहरण दे सकता हूँ जिनसे पता चलता है कि एक विकलांग स्त्री के लिए इस समाज में जीना और अधिक मुश्किल है। फिर भी विकलांगता कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसे आप स्वयं से अलग करके कहीं दूर जंगल में छोड़ आएँ। पोलियो जैसी विकलांगता जीवन भर साथ चलती है। स्त्री हो या पुरुष, पोलियो के शिकार को पोलियो के साथ जीना ही पड़ता है।

इसीलिए सोचता हूँ कि मेरा गम कितना कम है! जब मैं अपनी उन महिला मित्रों को देखता हूँ, जिन्होंने व्हीलचेयर पर ही अधिकांश उम्र बिताई है तो उनके साहस को नमन करने का मन करता है। आभा खेत्रपाल, आलोकिता, मोहिनी शर्मा, मधु बागड़ी, कुंजल प्रदीप छाया इत्यादि मेरी कई महिला मित्र हैं जिनकी इच्छाशक्ति व जीवन जीने की चाह से मैं भी प्रेरित होता हूँ।

## व्हीलचेयर बनाम बैसाखियाँ

व्हीलचेयर प्रयोग न करने का निर्णय लेकर मैंने बहुत कष्ट उठाया, लेकिन इस कष्ट का मुझे लाभ भी मिला। पोलियो की वजह से बाहर आने-जाने का मेरा दायरा बहुत सीमित था। यदि मैं व्हीलचेयर में बैठ जाता तो यह दायरा और भी अधिक सीमित हो जाता। हमारा घर और इसके आस-पास की गलियाँ व सड़कें ऐसी नहीं हैं कि जहाँ व्हीलचेयर प्रयोग की जा सके। व्हीलचेयर में बैठने का अर्थ था कि मैं घर से निकल ही नहीं पाता।

बैसाखियों से चलने का अर्थ थकान और दर्द सहना था। मुझे अक्सर ऐसा लगता था कि मैं इस दर्द को और बर्दाश्त नहीं कर सकता और मुझे व्हीलचेयर का प्रयोग शुरू कर देना चाहिए। थकान से चूर होने पर जब भी मुझे ऐसा लगता तो मैं सो जाता था और जागने पर व्हीलचेयर के विचार को दिमाग से निकाल फेंकता था।

बैसाखियों से चलने का एक नुकसान भी हुआ। बैसाखियों के सहारे मुझे यहाँ-वहाँ आते-जाते देखकर लोग अक्सर यह मान लेते हैं कि मैं आराम से चल-फिर लेता हूँ। ऐसा मानकर लोग यह सोचते ही नहीं कि मेरे रास्ते में भी ऐसी बाधाएँ आ सकती हैं जिन्हें मैं आराम से पार नहीं कर सकता। यदि मैं व्हीलचेयर में होता तो मेरे मित्र दूसरी मंज़िल या सीढ़ियों वाले किसी रेस्त्राँ में मिलने की योजना नहीं बनाते। लेकिन चूँकि मैं 'चल' सकता हूँ, इसलिए लोग अक्सर मेरे केस में सीढ़ियाँ, लिफ्ट का न होना और भीड़ जैसी समस्याओं को नज़रअंदाज़ कर देते हैं।

मैं अपनी बैसाखियों की मदद से अधिकांश जगहों पर जा सकता हूँ, लेकिन फिर भी कई जगहों पर जाना मेरे लिए मुश्किल होता है। मैं भीड़ और सीढ़ियों से दो-चार हो सकता हूँ, लेकिन मैं ऐसा करने से बचता हूँ क्योंकि ऐसा करना मेरे लिए काफ़ी मुश्किल होता है।

मैंने देखा है कि कोई भी आयोजन करते समय लोग हर किसी की किसी सुविधा का ध्यान रखने की कोशिश करते हैं, लेकिन विकलांगजनों को हो सकने वाली असुविधाओं के बारे में नहीं सोचते। जब कभी मुझे मंचों पर आमंत्रित किया जाता है तो अक्सर आयोजनकर्ता इस बात का ध्यान नहीं रखते कि मंच पर चढ़ने के लिए रैंप हो और सीढ़ियाँ छोटी व चौड़ी हों। मैं कई बार ऐसी स्थिति में फँसा हूँ, जहाँ मुझे समझ नहीं आता कि मंच पर चढ़ने के लिए बनाई गई अजीब सीढ़ियों पर बिना गिरे मैं कैसे चढ़ूँ!

यदि आयोजनकर्ता थोड़ा-सा सोच-समझकर योजना बनाएँ तो आयोजन सभी के लिए सुविधाजनक और आनंदमय हो सकता है।

## पारिवारिक सहायता

किसी भी बीमारी या विकलांगता की स्थिति में इंसान के लिए सबसे बड़ा सहारा उसका परिवार ही होता है। दरअसल, परिवार होता ही इसलिए है कि उसमें शामिल लोग एक-दूसरे का ख्याल रखें और एक-दूसरे के जीवन को बेहतर बनाने में सहायता करें। यदि परिवार का एक भी व्यक्ति विकलांगजन के प्रति बुरा रवैया रखता है तो इसका बहुत गहरा प्रभाव विकलांग व्यक्ति की मानसिकता पर पड़ सकता है। विकलांग व्यक्ति वैसे ही एक भीषण मानसिक व शारीरिक स्थिति से जूझ रहा होता है, इस पर यदि उसे परिवार की उपेक्षा भी सहनी पड़े तो इससे एक दर्दनाक भविष्य जन्म ले सकता है।

जो लोग दुर्घटना इत्यादि की वजह से जवानी या बुढ़ापे में विकलांग होते हैं, उनके लिए विकलांगता के मानसिक शॉक को सहना अपेक्षाकृत आसान होता है। लेकिन यदि कोई बचपन में ही विकलांग हो जाए तो उस बच्चे के लिए यह बेहद मुश्किल होता है। वयस्क लोगों का मन पक चुका होता है, मज़बूत हो चुका होता है, लेकिन बच्चों का मन कच्चा होता है, उस पर छाप बहुत जल्दी पड़ती है। बचपन के दौरान मन में बैठे डर कभी-कभी जीवन-भर साथ चलते हैं। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि एक विकलांग बच्चे को परिवार के सभी सदस्यों से प्यार और सहायता मिले। परिवार के सभी सदस्यों को चाहिए कि वे सब मिलकर बच्चे के मन को सुदृढ़ करें और उसमें हीनभावना को जन्म न लेने दें।

मैं यकीनन इस मामले में बहुत भाग्यशाली रहा कि मेरे परिवारजनों ने पोलियो से लड़ने में मेरा पूरा साथ दिया। अम्मा-बाबा ने पोलियो से मेरी मुलाक़ात के शुरुआती वर्षों में मेरे लिए

इलाज ढूँढ़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। तमाम मुश्किल परिस्थितियों के बावजूद स्कूल में मेरा दाखिला समय पर कराया। माँ-पापा ने घर सँभालने के अलावा मुझे सँभालने में दिन-रात एक कर दिया। इस काम में चाची ने माँ का साथ दिया तो कैलाश चाचा ने पापा का। कैलाश चाचा ने क़रीब छह वर्ष तक मुझे अपनी साइकिल पर बैठाकर स्कूल-कॉलेज पहुँचाया। बड़े होने पर किशोर ने मुझे स्कूटर पर बैठाकर कक्षाओं और परीक्षा-केंद्रों पर पहुँचाया। किशोर ने मेरे ऑपरेशनों के दौरान भी मेरी बहुत सहायता की। इन्हीं सब की सहायता से मैं जीवन में संतुलित हो पाया और पोलियो की सूनामी के असर से उबर पाया।

उम्र में छोटे सदस्यों ने भी मेरा पूरा सहयोग किया है। हालाँकि आज मेरी आवश्यकताएँ उतनी जटिल नहीं हैं जितनी पहले थीं, लेकिन फिर भी परिवार के इन सभी सदस्यों का सहयोग मेरे लिए अमूल्य रहा है। उम्र में मुझसे छोटे मेरे भाई-बहनों— पूजा, नवीन, कपिल और मनीष का सहयोग भी लगातार बना रहा है। किशोर की धर्मपत्नी सुधा ने हमारे घर की सुख, शांति और प्रेम को और अधिक बढ़ाने में अति-महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

किसी भी बच्चे के लिए पोलियो एक जीवन भर चलने वाली जंग है जिससे वह कभी जीत नहीं सकता। हाँ, यह ज़रूर है कि यदि मन में हौसला हो तो वह कभी हारेगा भी नहीं। विकलांगता के विरुद्ध जीवन भर चलने वाली इस लड़ाई में यदि परिवार का सहयोग मिले तो पोलियो जैसी बीमारियों को पटखनी दी जा सकती है।

यहाँ मैं हेलन केलर के जीवन में ऐन सलिवेन के महत्त्व को रेखांकित करना चाहूँगा। हेलन केलर बचपन से ही न देख सकती थीं और न सुन सकती थीं। दृष्टिहीनता और बधिरता मिलकर विकलांगता का एक अत्यंत मुश्किल रूप प्रस्तुत करते हैं। दृष्टिहीन और बधिर व्यक्ति विश्व से पूरी तरह कट जाता है, क्योंकि दृष्टि और आवाज़ ही विश्व को जानने-समझने के सबसे बड़े माध्यम हैं। ऐसे में ऐन सलिवेन ने स्पर्श के ज़रिए हेलन केलर का परिचय बाहरी दुनिया से कराया। ऐसी कठोर विकलांगता के बावजूद हेलन केलर न केवल ग्रेजुएट बनीं, बल्कि वह पूरी दुनिया के लिए एक मिसाल बन गईं। आपको हेलन के जीवन पर आधारित फ़िल्म 'द मिरेकल वर्कर' अवश्य देखनी चाहिए।

इसी तरह जोसेफ़ मेरिक के अत्यंत कठोर जीवन को सँवारने में डॉ. फ़्रेडेरिक ट्रीव्स का हाथ रहा। जोसेफ़ मेरिक का शरीर बीमारियों के कारण इतना अधिक बिगड़ा हुआ था कि लोग उन्हें 'एलीफ़ेंट मैन' कहते थे और उन्हें तमाशे के तौर पर बाज़ारों में दिखाया जाता था। डॉ. ट्रीव्स ने जोसेफ़ मेरिक को ऐसे ही एक तमाशे में पहली बार देखा। वह जोसेफ़ को अपने अस्पताल ले गए और उन्होंने जोसेफ़ को एक बेहतर जीवन दिया। ब्रिटेन के शासक जॉर्ज षष्ठम हकलाते थे। एक सम्राट के लिए यह एक बेहद विकट विकलांगता थी। जनता सम्राट के मुँह से निकले शब्दों पर भरोसा करके खुद को सुरक्षित अनुभव करती है, लेकिन जॉर्ज षष्ठम के मुँह से शब्द निकलते ही नहीं थे। ऐसे में लाओनेल लॉग उनके जीवन में आए और एक मित्र बनकर लॉग ने सम्राट की आवाज़ और जीवन को सँवारने में योगदान दिया।

लोग एक-दूसरे से जुड़कर, एक-दूसरे का साथ देते हुए ही जीवन को समृद्ध-रूप से जी सकते हैं। जो लोग केवल अपने बारे में सोचते हैं और स्वार्थपूर्ण जीवन जीते हैं, वे दरअसल उस विलक्षण आनंद से वंचित रह जाते हैं जो किसी और के लिए जीने से प्राप्त होता है। ऐन सलिवेन और डॉ. ट्रीव्स ने जो किया उससे उनका खुद का जीवन भी बहुत समृद्ध हुआ था।

## प्रकृति विकलांग बनाती है, समाज अक्षम बनाता है

यदि सामाजिक व्यवस्था चाहे तो विकलांगता के असर को काफी कम कर सकती है और विकलांगजनों को बेहतर जीवन प्रदान कर सकती है, और ऐसा करना क़तई मुश्किल नहीं है। हमें सबसे पहले विकलांगता को एक चिकित्सीय समस्या के बजाय एक सामाजिक समस्या के रूप में देखना होगा। हमें यह समझना होगा कि विकलांगता प्रकृति की या परिस्थिति की देन हो सकती है, लेकिन अक्षमता समाज की देन होती है। यदि हम अपने विचारों और आस-पास के माहौल में ज़रूरी परिवर्तन ला सकें तो यह समाज सभी को बेहतर जीवन के समान अवसर दे पाएगा।

हमें यह भी समझना होगा कि विकलांगता के साथ लोग कैसे जीते हैं और किस तरह वे जीवन व समाज से जुड़ते हैं। जी हाँ, हमारा समाज है ही ऐसा कि विकलांगजनों को उससे जूझना पड़ता है। हमारा समाज विकलांगों को हीन दृष्टि से शायद देखना तो नहीं चाहता, लेकिन फिर भी होता ऐसा ही है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमारा समाज यह नहीं समझ पाता कि जूते, छतरी और चश्मा उसी तरह की सहायक वस्तुएँ हैं जिस तरह की वस्तु बैसाखी, व्हीलचेयर या नेत्रहीन की छड़ी है। यह केवल समझ का फेर है कि लोगों को चश्मा पहने कोई व्यक्ति 'बुद्धिजीवी' लग सकता है तो वहीं बैसाखी प्रयोग करने वाला कोई व्यक्ति 'बेचारा' लग सकता है। हकीकत में ये दोनों ही व्यक्ति भिन्न दर्जे की शारीरिक विकलांगता के शिकार हैं। समाज ने कमज़ोर नज़र वाले लोगों को चश्मा देकर विकलांगता को मिटाया नहीं है, बस उसके असर को मिटाया है। कंटीली ज़मीन पर न चल पाने की अक्षमता को समाज ने जूते का आविष्कार करके समाप्त किया, इसी तरह हम अपनी व्यवस्था में कुछ और बदलाव करके अन्य क्रिस्म की अक्षमताओं को भी मिटाने की कोशिश क्यों नहीं कर सकते?

क्या हम ऐसा इसलिए नहीं करते क्योंकि जूते की ज़रूरत हर किसी को है, चश्मे की ज़रूरत भी बहुतों को है और इसलिए हमने इन अक्षमताओं को सामान्य मान लिया है? यही सच है! ऐसी स्थिति में अन्य क्रिस्म की विकलांगताओं के प्रति अपना नज़रिया बदलते हुए हम उन्हें भी सामान्य क्यों नहीं मान सकते?

अधिकांश लोग सोचते हैं कि विकलांग व्यक्ति 'अलग' होते हैं और उन्हें हमेशा दया व



सहायता की ज़रूरत होती है। आप उन असंख्य छोटी-छोटी बातों से अनजान हो सकते हैं जो किसी विकलांग व्यक्ति के जीवन में तो बड़ी चुनौती प्रस्तुत करती हैं, लेकिन सामान्य शरीर वाले लोगों को उन चीज़ों के बारे में सोचने तक की ज़रूरत नहीं पड़ती। आप शायद यह भी न जानते हों कि किस तरह हमारे सामाजिक ताने-बाने में विकलांग व्यक्तियों को कम-गुणवत्ता के धागों की तरह देखा जाता है और किस तरह अनजाने में उन्हें दरकिनार करने की कोशिश की जाती है। वास्तविकता तो यह है कि हमारा सामाजिक ताना-बाना बहुधा ऐसे व्यक्तियों के बारे में सोचता तक नहीं है। हमारे समाज की इसी असंवेदनशीलता का नतीजा है कि विकलांग व्यक्तियों की प्रतिभा का एक बहुत छोटा हिस्सा ही देश के विकास में उपयोगी सिद्ध हो पाता है।

भारत में करोड़ों लोग हैं जो विभिन्न प्रकार की विकलांगता का सामना कर रहे हैं। विश्व के हर कोने में विकलांगता अपने पाँव पसारे हुए है। विकसित देश बीमारी से होने वाली विकलांगता के नियंत्रण, इलाज और खात्मे में अपेक्षाकृत अधिक सफल रहे हैं, लेकिन दुर्घटना से होने वाली विकलांगता तो विकसित देशों में भी हर जगह पाई जाती है।

दुनिया में कोई भी व्यक्ति विकलांगता से पूरी तरह सुरक्षित नहीं है। विकलांगता किसी को भी, कहीं भी और कभी भी अपनी चपेट में ले सकती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि हम एक ऐसे समाज का निर्माण करें जो ऐसी भयावह घटनाओं के असर को न्यूनतम स्तर तक ला सके।

समाज को दया भाव दिखाने की आवश्यकता नहीं है, हमें केवल दूसरे लोगों की भावनाएँ समझने की योग्यता विकसित करने की ज़रूरत है...बाक़ी सब अपने-आप ठीक होता चला जाएगा।

## विकलांग बच्चे का पालन-पोषण

संतान का बुरा साबित होना किसी भी माता-पिता के लिए शायद सबसे बड़ा दुख है और दूसरा सबसे बड़ा दुख है— संतान की बीमारी। बच्चे के बीमार होते ही माता-पिता का संसार उसी बच्चे में सिमट आता है। बीमार बच्चा उनके तमाम प्रयासों और प्रार्थनाओं का केंद्र बन जाता है और यदि बीमारी बच्चे को विकलांग कर दे तो वही बच्चा माता-पिता के जीवन का केंद्र भी बन जाता है।

किसी विकलांग बच्चे के लिए जीवन जितना कठिन हो सकता है, उतना ही कठोर जीवन उसके माता-पिता भी बिताते हैं। स्त्री-पुरुष के रूप में उनके जो सपने होते हैं, वे पति-पत्नी के रूप में भविष्य के जो सपने देखते हैं— वे सपने अचानक धुँधले पड़ जाते हैं और उनका पूरा ध्यान, मन और कर्म अपने बच्चे के जीवन को सँवारने में स्थिर हो जाता है। किसी विकलांग बच्चे को पालना-पोसना और उसे इस क़ाबिल बनाना कि वह समाज में सिर उठाकर जी सके—

यह अपने-आप में एक तपस्या है।

मेरी माँ, श्रीमती राजबाला, का जन्म हरियाणा के रोहतक जिले के एक छोटे-से गांव जैसोर में हुआ। गाँव के अधिकांश लोग खेती करते थे, लेकिन मेरे नाना मकान बनाने का काम करते थे। अपने छह भाई-बहनों में माँ सबसे बड़ी थीं। वह कभी स्कूल नहीं गईं, क्योंकि जब वह छोटी थीं, तब गाँव में स्कूल नहीं था; और लड़कियों को पढ़ने के लिए दूर के स्कूल में नहीं भेजा जाता था।

विवाह के समय पापा दिल्ली परिवहन निगम में सरकारी नौकरी पा चुके थे। पापा की नियमित नौकरी और माँ की घर सँभालने की योग्यता के कारण हमारे घर के वातावरण में स्थायित्व और प्रसन्नता भर गई थी। यह प्रसन्नता मेरे जन्म के बाद और बढ़ी, लेकिन चार वर्ष की उम्र में जैसे ही मुझे पोलियो हुआ— मेरे माता-पिता का जीवन बदल गया। मैं नहीं जानता कि उन्हें शुरुआती शॉक से उबरने में कितना समय लगा होगा, मैं नहीं जानता कि बेटे को हुई पोलियो जैसी बीमारी के सच को स्वीकारने में उन्हें कितना समय लगा होगा, मैं नहीं जानता कि अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद अपने बेटे को ठीक न कर पाने पर उन्होंने अपने आपको कितना असहाय महसूस किया होगा, मैं नहीं जानता कि उन्होंने कब यह स्वीकारा होगा कि पोलियो हमेशा के लिए उनके बेटे से जुड़ गया है।

शायद वे आज तक भी स्वीकार न कर पाएँ हों...

जवान हो जाने पर इंसान अपनी बुद्धि के बल पर अन्य जीवों के मुकाबिले चाहे जितना भी ताक़तवर बन जाएँ, लेकिन जब उसका जन्म होता है, तब वह नवजात शिशु बेहद कमज़ोर और असहाय होता है। यदि शिशु को माता-पिता से भोजन, सुरक्षा और वात्सल्य न मिले तो इंसान का जीवन पनप ही नहीं सकता। मेरे माता-पिता ने मुझे नवजात को पाल-पोसकर चार वर्ष का एक हृष्ट-पुष्ट बालक बना दिया था, लेकिन पोलियो ने मुझे वापस नवजात जैसी स्थिति में पहुँचा दिया। माता-पिता भी संतान के विषय में इतनी जल्दी हार नहीं मानते। सो, मेरे माता-पिता ने मुझे फिर से उस नवजात स्थिति से निकालकर पुष्टता का उपहार दिया।

एक विकलांग बच्चे के माता-पिता को न केवल उस बच्चे की शारीरिक ज़रूरतों का ध्यान रखने की आवश्यकता होती है, बल्कि उस बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य को भी उतना ही महत्त्व देना होता है। यदि आपका पूरा ध्यान विकलांग बच्चे के शरीर पर ही लग जाएगा तो आप उसका आज तो बेहतर बना सकते हैं, लेकिन उसे एक बेहतर कल नहीं मिल पाएगा। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि माता-पिता ऐसे बच्चों के मन का भी पूरा ध्यान रखें।

इस पुस्तक को पढ़ते हुए आपको यह अंदाज़ हो गया होगा कि एक बच्चे के लिए विकलांगता से मानसिक स्तर पर जूझना कितना कठिन होता है। हर विकलांग बच्चा अपनी अलग मानसिक रक्षा-प्रणाली विकसित करता है। रोज़मर्रा की कठिनाइयों से, समाज से, व्यवस्था से मन के स्तर पर जूझने के लिए हर बच्चे का अपना एक तरीका होता है। अक्सर बच्चे अपनी इस रक्षा-प्रणाली में किसी अन्य व्यक्ति को शामिल नहीं करते। विकलांगता बच्चे को

बाक़ी सबसे अलग और कमज़ोर बना देती है। इसलिए अधिकांश विकलांग बच्चे मन के स्तर पर बहुत अकेलापन महसूस करते हैं और अपने इस अकेलेपन को किसी से बाँट नहीं पाते।

माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चे के मन के जितना करीब रह सकें, उतना करीब ज़रूर रहें। जानने की कोशिश करें कि बच्चे के मन में क्या चल रहा है, उसके डर क्या हैं, उसकी चिंताएँ क्या हैं, उसके सपने क्या हैं...। विकलांगता बच्चों को भावनात्मक-रूप से चूर-चूर कर देती है। माता-पिता भी इस मानसिक विनाश को रोक नहीं सकते, लेकिन वे बच्चे के मन, इच्छाशक्ति और सपनों को फिर से विकसित करने में बहुत सहायता कर सकते हैं।

विकलांगता बच्चे को सामान्य जीवन से दूर ले जाती है। सही समय पर सही सहायता और मार्गदर्शन देते हुए बच्चे को धीरे-धीरे फिर से सामान्य जीवन में लाना चाहिए। बीमारी की स्थिति के अनुसार जैसे और जितना संभव हो, बच्चे को फिर से समाज के लोगों से परिचित कराना चाहिए और उसकी सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी करानी चाहिए। माता-पिता को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि बच्चा किसी भी परिस्थिति में अपने को पीछे छूटा हुआ महसूस न करे। मेरी माँ कभी स्कूल नहीं गई और पारिवारिक परिस्थितियों के कारण मेरे पिता भी अधिक पढ़-लिख नहीं सके, लेकिन फिर भी उन्हें इस बात का ज्ञान था और उन्होंने मुझे मानसिक रूप से पूरी सहायता दी।

केवल स्कूली पढ़ाई ही इंसान को ज्ञानी नहीं बनाती। माँ ने अथक मेहनत करते हुए न केवल मुझे, बल्कि हमारे संयुक्त परिवार को भी सँभाला। पापा ने काम करते हुए न दिन देखा, न रात और वह परिवार के गुज़ारे के लिए संसाधन जुटाते रहे। मेरे इलाज में उन्होंने किसी क्रिस्म की कोई कमी नहीं होने दी। जहाँ कहीं से भी मेरे इलाज का आश्वासन मिलता था, वह मुझे गोद में उठाए दौड़े चले जाते थे।

आज मैं ऐसे बहुत लोगों को जानता हूँ जिनके बच्चे को किसी क्रिस्म की विकलांगता है और वे जी-जान से अपने बच्चे को एक बेहतर भविष्य देने की कोशिश कर रहे हैं। इसके विपरीत मैं ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जो अपने विकलांग बच्चे और उसके भविष्य के बारे में उतने चिंतित नहीं हैं, जितना कि उन्हें होना चाहिए। मैं ऐसे माता-पिता को भी जानता हूँ, जो केवल अपने स्वस्थ बच्चों की ही चिंता करते हैं। उन्होंने अपने विकलांग बच्चे को समय के सहारे छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति के लिए केवल माता-पिता ही नहीं, बल्कि पूरा समाज ज़िम्मेदार है। यह समाज ही तो है जो माता-पिता से कहता है कि अब तो इस बच्चे का जीवन बर्बाद हो गया। कुछ माता-पिता समाज की इस बात को मान लेते हैं और कुछ बर्बादी में भी फूल खिलाने की ठान लेते हैं।

**मैं क्या 'मिस' करता हूँ?**

जब लोग मेरे अंतर्मन में झाँकना चाहते हैं तो कई बार वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पूछते हैं कि पोलियो के कारण मैं अपने जीवन में सबसे अधिक क्या मिस करता हूँ। जितना स्वाभाविक यह प्रश्न है, उतना ही स्वाभाविक इसका उत्तर भी है। दूर तक दौड़ना और दौड़ते चले जाने को मैं सबसे अधिक मिस करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मैं देश-दुनिया की यात्रा करूँ, मैं चाहता हूँ कि तमाम क्रिस्म की दूरियाँ मेरे लिए अपने मायने खो दें, मैं जगह-जगह जाकर लोगों से मिलूँ, उन्हें अपना दोस्त बनाऊँ और अपने चारों ओर की हर चीज़ को समझ सकूँ।

यात्रा करना और धरती पर अलग-अलग जगहों को देखना मुझे बहुत अच्छा लगता है। मन करता है कि मैं हमेशा यात्रा करता रहूँ, लेकिन शरीर मुझे रोकता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि काश मेरे पास बहुत सारा धन होता तो मैं शरीर की इन चुनौतियों के बावजूद भी पूरी दुनिया में घूम सकता था!

टी.वी. पर खिलाड़ियों को देखता हूँ तो सभी खेल खेलने की ज़बरदस्त इच्छा उत्पन्न होती है और एहसास होता है कि यदि मैं इस खेल को खेल सकता तो मैं काफ़ी अच्छा खेलता! वैसे तो भारत क्रिकेट का दीवाना देश है, लेकिन मुझे सभी खेल पसंद हैं। यह भी एक कारण है कि मुझे ओलंपिक देखना बहुत अच्छा लगता है। हर चार वर्षों में जब खेलों को इस महापर्व का आयोजन होता है, तो मुझे एक अलग-सी खुशी मिलती है!

ओलंपिक खेलों को मैंने सबसे पहले 1996 में गंभीरतापूर्वक फ़ॉलो करना शुरू किया था। अमेरिका के अटलांटा में हुए इन ओलंपिक खेलों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैंने अचानक पाया कि मुझमें और ओलंपियंस में कोई बहुत अधिक फ़र्क नहीं है। अमेरिकी जिम्नास्ट डोमनीक मोशिआनू और कैरी स्ट्रग तो जैसे उस समय मेरे लिए प्रेरणा का सबसे बड़ा स्रोत बन गई थीं। इन दोनों खिलाड़ियों ने अटलांटा ओलंपिक में वो खेल दिखाया था कि मन व शरीर दोनों रोमांचित हो जाएँ! ओलंपिक में मुझे सभी खेल पसंद हैं और मैं सभी को फ़ॉलो करता हूँ, लेकिन जिम्नास्टिक्स और एथलेटिक्स मेरे मन के सबसे करीब हैं...

पोलियो ने मुझसे दौड़ने की शक्ति छीन ली, लेकिन दौड़ने की इच्छा नहीं छीन सका... अक्सर मेरा मन करता है कि बस एक सीधा और सीमाहीन रास्ता हो जिस पर मैं तब तक दौड़ता चला जाऊँ जब तक कि शरीर की हर माँसपेशी टूट न जाए। ऐसा अक्सर होता है। मैं कभी किसी खेल प्रतियोगिता में भाग नहीं ले पाया, लेकिन तमाम उम्र मेरा शारीरिक संघर्ष बिल्कुल वैसा ही रहा है, जैसा कि एथलीट्स का होता है— शरीर की सीमाओं को तोड़कर नई सीमाओं का निर्माण, यही मैंने भी किया...बार बार किया...हर रोज़...बरस-दर-बरस किया... अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शारीरिक पीड़ा की परिभाषा को भूल जाना, अपने शरीर की सहनशक्ति की अंतिम सीमा छू लेने के बाद उस सीमा को स्वयं ही और आगे बढ़ा देना, ऐसी स्थिति में आप शरीर नहीं रह जाते, आप केवल इच्छाशक्ति हो जाते हैं और सामर्थ्य की सीमा तो इच्छाशक्ति से ही तय होती है। आप पाते हैं कि शरीर की उच्चतम सीमा मन की शक्ति के आगे कितनी नगण्य है। मन की शक्ति शरीर के उच्चतम को पुनर्निर्धारित कर सकती है, लेकिन ऐसा

पुनर्निर्धारण हर कोई नहीं कर सकता। मन की ऐसी कठोर शक्ति हर किसी के पास नहीं होती और जिनके पास होती है, वही एथलीट होते हैं। मैं स्वयं को एथलीट मानता रहा हूँ, क्योंकि अपने लक्ष्य को पाने के लिए मैंने भी अपने शरीर की सीमाओं को हासिल करके, उन्हें स्वयं ही और आगे सरकाया है। जिस तरह उसेन बोल्ट का लक्ष्य दौड़ की समाप्ति रेखा होती है, मेरे लिए मेरा लक्ष्य सुबह स्कूल हुआ करता था और दोपहर में घर। एथलीट शरीर से नहीं बनते, मन से बनते हैं।

मैं आज भी अपने शरीर की सीमाओं का पुनर्निर्माण करने के लिए बेचैन रहता हूँ, लेकिन साथ छोड़ते शरीर ने अब मन की शक्ति से जीतना शुरू कर दिया है। मन आज भी दौड़ता है, शरीर ही नालायक साथ नहीं देता। मुझे उसेन बोल्ट की शारीरिक क्षमताओं ने उनका प्रशंसक नहीं बनाया है। अधिकांश लोग बोल्ट के दौड़ते शरीर को देखने के लिए आतुर रहते हैं, लेकिन मुझे उनके दौड़ते शरीर को देखने का चाव उतना नहीं रहता जितना उनकी प्रेस कॉन्फ्रेंस को सुनने का रहता है। प्रेस कॉन्फ्रेंस में बोल्ट का मन और आत्म-विश्वास बोलता है कि 'मैं जीतूँगा'...और यही आत्म-विश्वास उन्हें इतना महान एथलीट बनाता है। असाफ़ा पॉवेल जैसे धावकों के होते यदि बोल्ट केवल 'मैं जीतूँगा' कहकर अपनी बात समाप्त करने की क्षमता रखते हैं तो उन्हें कोई नहीं हरा सकता।

कहा जाता है कि 'ओलंपिक इज़ ए ग्रेट लेवलर'...ओलंपिक एक ऐसा मंच है, जहाँ आकर सब बराबर हो जाते हैं। यहाँ चैंपियन हारते देखे गए हैं और बिल्कुल अनजान-से खिलाड़ी नए चैंपियन बनते देखे गए हैं। यहाँ कोई अमीर या गरीब नहीं होता, कोई काला या गोरा नहीं, कोई स्त्री या पुरुष नहीं। ओलंपिक में शरीर नहीं आते, ओलंपिक में विशुद्ध मन आते हैं। ओलंपिक में मन की शक्ति की परीक्षा होती है, शरीर जो नहीं पा सकता, मन उसे कैसे हासिल कर सकता है — ओलंपिक हमें यही दिखाता और सिखाता है।

खेल-कूद के अलावा एक और बात है जिसे मैं बहुत अधिक मिस करता हूँ। मैं अन्य लोगों की हर प्रकार से सहायता करना चाहता हूँ, लेकिन कई बार तो शरीर रोक लेता है और कई बार लोग ही मुझसे सहायता नहीं लेना चाहते!

कॉलेज के दिनों में ऐसा कई बार हुआ जब मैं बस में अपनी सीट पर बैठा होता था और कोई बहुत वृद्ध व्यक्ति या गोद में बच्चा लिए कोई स्त्री मेरे सामने खड़ी होकर यात्रा कर रही होती थी। बहुधा लोग उनके लिए अपनी सीट नहीं छोड़ते, लेकिन मेरा हमेशा मन करता है कि मैं उन्हें बैठने का स्थान दे दूँ। कई बार स्थिति ही ऐसी नहीं होती कि मैं अपनी सीट दे सकूँ, लेकिन यदि मुझे बस में खड़े होने के लिए उचित स्थान और पकड़ने के लिए कोई सहारा मिल जाए तो मैं खड़ा भी रह सकता हूँ। पर क्या कोई मुझसे सीट लेगा? नहीं!...भारत में तो कोई नहीं लेगा, क्योंकि भारत में विकलांगता और बेचारगी को एक-दूसरे का पर्याय बना दिया गया है।

इस संदर्भ में मैं आपको एडिनबर्ग की दो घटनाएँ बताता हूँ। पहली घटना में मैंने एक गर्भवती महिला के लिए बस में सीट छोड़ी थी। उन्होंने मुस्कुराते हुए धन्यवाद कहा और सीट ले

ली। मैं उनके पास ही एक कोने में सीट को थामकर खड़ा रहा। एडिनबर्ग में विकलांगता बेचारगी नहीं थी, वहाँ लोग हर अच्छी बात का सम्मान करते थे। एक अन्य घटना में मैंने अपने पास खड़े एक वृद्ध व्यक्ति को सीट ऑफ़र की तो उन्होंने मुस्कुराते हुए इंकार कर दिया। कुछ देर बाद चलती बस में एक हल्का-सा झटका लगा और वे लड़खड़ा गए। मैंने देखा कि वह खड़े रहने में तकलीफ़ अनुभव कर रहे थे, लेकिन मुझसे सीट नहीं ले रहे थे। सो, मैं खड़ा हुआ और उन्हें सीट देते हुए अगले स्टॉप पर उतर गया। मैंने उन्हें कहा कि मुझे यहीं उतरना है तो वे मेरी सीट पर बैठ गए...मैं अपनी मंज़िल से काफ़ी पहले ही बस से उतर गया था।

महरौली की गलियों से गुज़रते हुए जब भी किसी को सामान से लदी रिक्शा खींचते देखता हूँ तो मन करता है कि काश मैं रिक्शा को धक्का लगाकर उस व्यक्ति का काम आसान कर पाता। बाज़ार में किसी का सामान बिखर जाता है तो मन करता है कि सब समेटने में उसकी मदद कर दूँ। किसी वृद्ध के लिए आगे बढ़कर दरवाज़ा खोल दूँ।

लोगों के जीवन को कुछ आसान बना सकूँ...

मैं यह सब कुछ मिस करता हूँ...

## पोस्ट पोलियो सिन्ड्रोम

मेरी लगातार बढ़ती थकान की वजह पोस्ट पोलियो सिन्ड्रोम (पी.पी.एस.) है। पोलियो के शिकार लोगों को शुरुआती हमले के 15 से 30 वर्ष बाद इस नई स्थिति से जूझना पड़ता है। पोलियो का वायरस शरीर में जिन तंत्रिकाओं को नष्ट कर देता है, उन तंत्रिकाओं के काम का बोझ अन्य तंत्रिकाओं को उठाना पड़ता है। इसका नतीजा यह होता है कि ये तंत्रिकाएँ समय से पहले थकने लगती हैं।

पोस्ट पोलियो सिन्ड्रोम कोई नई बीमारी नहीं है। यह स्थिति वायरस के कारण नहीं होती बल्कि पी.पी.एस. माँसपेशियों की नई शुरू हुई कमज़ोरी का नाम है। आप यूँ समझ सकते हैं कि पोलियो दो चरणों में अपना असर दिखाता है। पहला चरण वह होता है, जब वायरस का हमला होता है, हमले से क्षतिग्रस्त माँसपेशियाँ काम करना बंद कर देती हैं, शरीर इस हमले से उबरने की कोशिश करता है और फिर अगले पंद्रह-बीस वर्ष 'जो हो गया सो हो गया' वाली स्थिति में गुज़रते हैं। इसके बाद दूसरे चरण में माँसपेशियों की कमज़ोरी और अधिक बढ़ना शुरू होती है और फिर आगे बढ़ती ही चली जाती है। इसी दूसरे चरण को पोस्ट पोलियो सिन्ड्रोम कहा जाता है।

पोलियो के शिकार करीब 50% लोगों को पी.पी.एस. का सामना करना पड़ता है। चूँकि पी.पी.एस. का प्रमुख लक्षण माँसपेशियों की कमज़ोरी और थकान है, इसलिए इस स्थिति को

पहचान पाना काफ़ी कठिन होता है। यह तय करना मुश्किल होता है कि कमज़ोरी पी.पी.एस. के कारण है या कोई अन्य बीमारी (या उम्र) माँसपेशियों को कमज़ोर कर रही है।

पी.पी.एस. होने पर पीड़ित व्यक्ति को लगातार थकान रहती है, माँसपेशियाँ पहले जितना काम नहीं कर पाती और माँसपेशियों व जोड़ों में दर्द बना रहता है। पी.पी.एस. प्रगतिशील है, यानी यह स्थिति समय के साथ और अधिक बिगड़ती है। इस समस्या का कोई इलाज नहीं है। डॉक्टरों की सलाह केवल यह होती है कि शरीर को थकाया न जाए, ऐसे हल्के व्यायाम किए जाएँ जिनसे थकान न हो, संतुलित आहार लिया जाए, वज़न को बढ़ने से रोका जाए, और व्हीलचेयर जैसी चीज़ों का प्रयोग किया जाए।

पिछले करीब दस वर्षों में मेरी थकान लगातार बढ़ी है। जैसा कि आपने पढ़ा, स्कूल-कॉलेज के दिनों में मैं अपने को रोज़ दो-तीन किलोमीटर तक खींच लेता था, लेकिन अब मैं बहुत कम चल पाता हूँ। माँसपेशियों में एक अनजानी-सी बेवजह थकान बनी रहती है और अक्सर दर्द भी रहता है।

मैं पिछले कई वर्षों से पोस्ट पोलियो सिन्ड्रोम के लक्षणों को अपने शरीर में अनुभव कर रहा हूँ। इस थकान के कारण मेरे लिए चलना-फिरना और काम करना काफ़ी मुश्किल हो चुका है, लेकिन मैं फिर भी पूरी मेहनत कर रहा हूँ। मैं रोज़ाना करीब दस घंटे काम करता हूँ। कभी-कभी थकान इतनी हो जाती है कि मैं निराश होने लगता हूँ, ऐसी स्थिति में मुझे अपने आत्म-विश्वास को एक बार फिर नए सिरे से तैयार करना होता है। आत्मविश्वास के पुनर्निर्माण की यह प्रक्रिया लगातार चलती रही है, लगातार चल रही है और लगातार चलती रहेगी।

## जीवन चलने का नाम

विकलांगता जीवन को असामान्य बना देती है, इसलिए छोटी-छोटी साधारण बातों के लिए भी हर विकलांगजन को नए रास्ते खोजने पड़ते हैं। चाहे दरवाज़ा खोलने की बात हो या सीढ़ी चढ़ने की, चाहे सड़क पार करने की बात हो या बाथरूम के गीले फ़र्श पर चलने की, चाहे शौचालय की सीट पर बैठना हो या वहाँ से उठना हो, चाहे रेस्ट्रॉ में कुर्सी पर बठने के बाद उसे एडजस्ट करना हो या हाथ बढ़ाकर पानी का गिलास उठाना हो...हर सामान्य-सी बात एक मिशन बन जाती है और हर किसी को अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार काम करने के नए तरीक़ों को तलाशना होता है। इन नए रास्तों के ज़रिए ही जीवन चलता है...आगे बढ़ता है।

स्कूल के दिनों में आई.ए.एस. बनने के स्वप्न ने जब साथ छोड़ दिया तो उसके बाद से मैंने शायद ही कभी कोई ऐसी राह चुनी हो जो सामान्य हो। भारत में आई.ए.एस. बनना सामान्य बात नहीं है, लेकिन आई.ए.एस. बनने का स्वप्न देखना बहुत सामान्य बात है...करोड़ों लोग ऐसा

स्वप्न देखते हैं। लेकिन स्कूल के बाद के वर्षों में मुझे लगा कि यह ज़रूरी नहीं कि हम उन्हीं राहों पर चलें जो समाज में सुरक्षित और सम्माननीय मानी जाती हैं। संयुक्त राष्ट्र की नौकरी को छोड़ देना, विदेशों से वापस लौट आना, अधिकतर समय स्वयंसेवा के कामों को देना, पीएच.डी. छोड़ देना जैसे अनेक निर्णय थे जो मेरे परिवारजनों और मित्रों की निगाह में असामान्य थे। लेकिन मेरे लिए ये निर्णय बहुत आसान थे, क्योंकि मन ने जैसा कहा मैंने वैसा ही काम किया। काम को बोझ समझकर कभी नहीं किया, जिस काम में चुनौती न बचे, उसे छोड़ दिया। हमें वही काम करना चाहिए जो हमारा मन कहता है कि करो। हमें वही काम करना चाहिए जो हम सबसे बेहतर तरीके से कर सकते हैं। हम नए रास्तों के ज़रिए भी समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं। दुनिया के इस जंगल में हम भी तो अपने पैरों से कुछ नई पगडंडियाँ बना दें, ताकि ये नए रास्ते भविष्य में आने वालों के पास विकल्प की तरह मौजूद रहें!

मेरा मानना है कि समाज से कुछ लेने की अपेक्षा समाज को कुछ देने का प्रयास अधिक करना चाहिए। स्वयं के पैरों पर इतनी मज़बूती के साथ खड़े हो कि आप चार और लोगों को सहारा देकर उन्हें भी सक्षम बना सकें। जो लोग बाँटने के बजाय केवल इकट्ठा करने में विश्वास रखते हैं, वे समाज के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी को नहीं निबाहते। किसी से क्षमता माँगिए मत... क्षमता को अपनी कड़ी मेहनत के बल पर हासिल कीजिए और फिर उसी क्षमता के बल पर उन लोगों को भी सक्षम बनाइए जो आपके जितने सामर्थ्यवान नहीं हैं।

हम अपने जीवन में केवल उतनी ही क्षमता हासिल कर पाते हैं, जितना बड़ा लक्ष्य हम साधते हैं। इसलिए स्वप्न देखें तो बड़े देखें, लेकिन केवल उतने ही बड़े जिन्हें पूरा करने के लिए आप मेहनत करने को तैयार हैं। जीवन में हम जो भी करें, लोगों को सक्षम और प्रसन्न बनाने के उद्देश्य से करें। इस तरह हमें एक चुनौतीपूर्ण, लेकिन साथ ही अर्थपूर्ण जीवन मिलता है। ऐसा जीवन संतुष्टि से भरा हुआ होता है और बोरिंग तो बिल्कुल भी नहीं होता!

यह सुनने में अजीब लगता है, लेकिन दुख और असफलता जीवन के इंजन के लिए बेहतरीन ईंधन का काम करते हैं। हमारे देखे कई स्वप्न पूरे नहीं हो पाते। इन असफलताओं से मन टूटता भी है, लेकिन पीड़ा और असफलता हमें बेहतर जीवन जीने की ऊर्जा भी देते हैं, यह हम पर है कि हम इस ऊर्जा का जीवन में कैसा इस्तेमाल करते हैं। दुख में जीना और दुख के साथ जीना, इन दोनों बातों में बहुत फ़र्क है!

पोलियो के साथ अभी तक बीते जीवन की कुछ यादें मैंने इस पुस्तक में लिख दी हैं, जीवन भर चलने वाले इस संघर्ष में फिर भी बहुत कुछ ऐसा बाक़ी है जिसे लिखने के लिए शब्द नहीं मिले...सो नहीं लिखा।

मैंने अभी तक व्हीलचेयर प्रयोग करना शुरू नहीं किया है। मैं तब तक बैसाखियों से चलूँगा जब तक मेरी सहनशक्ति की सीमा नहीं आ जाती। इन बैसाखियों से मेरा पुराना नाता है, इन बैसाखियों ने मेरा बहुत साथ दिया है, ये बैसाखियाँ मुझे भारत के अनेकों राज्यों के अलावा चीन, थाइलैंड, स्पेन, जर्मनी, यूके, मॉरीशस, कनाडा इत्यादि तक लेकर गई हैं...लेकिन मुझे तो पूरी



दुनिया देखने की चाहत है...

अभी दुनिया में बहुत कुछ देखने, समझने और करने के लिए बाक़ी है...

अभी समाज को बहुत कुछ देना बाक़ी है...

अभी जीवन जारी है...संघर्ष जारी है...

मेरी उड़ान जारी है...

सूरज हूँ ज़िन्दगी की रमक़ छोड़ जाऊँगा

मैं डूब भी गया तो शफ़क़ छोड़ जाऊँगा

—इक़बाल साजिद

— समाप्त —